॥ श्रीः ॥

वि० आ० ग्रन्थमाला

२८



श्रीमद्भावमिश्रप्रणीतः

भावप्रकाशनिघण्टुः

सविमर्श–हिन्दीव्याख्योपेतः

(संशोधित परिवर्धित संस्करण)

विमर्शकार

डॉ० कृष्णचन्द्र चुनेकर, ए.एम.एस.

भूतपूर्व प्राध्यापकः द्रव्यगुण विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

डॉ० गंगासहाय पाण्डेय, ए.एम.एस.

भूतपूर्व प्राध्यापकः आयुर्वेद विभाग, चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय,
तथा चिकित्सकः सरसुन्दरलाल आतुरालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

पोस्ट बॉक्स नं० १०६५

वाराणसी २२१००१ (भारत)

प्रकाशक

चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

पो. आ. बॉक्स नं. १०६५

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

टेलीफोन: ३३०३४९, ३३०३४५

३३२७०२, ३३२६३७

पुनर्मुद्रित : **२००२**

मूल्य : **३५०/-**





शाखा

चौखम्भा विश्वभारती

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक एवं वितरक

के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

पो. आ. बॉक्स नं. १०८४

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

सुरभि प्रिन्टर्स वाराणसी

V. AYURVEDA SERIES

28



BHĀVAPRAKĀSA NIGHANTU

(INDIAN MATERIA MEDICA)

OF

ŚRĪ BHĀVAMIŚRA

(c. 1600-1600 A.D.)

Commentary by

Dr. K. C. CHUNEKAR, A.M.S.

Ex-Lecturer, Department of Dravyaguna,

Institute of Medical Sciences, B.H.U., Varanasi

Edited by

Dr. G.S. PANDEY, A.M.S.

Ex-Lecturer, Ayurveda Department, College of Medical,

Sciences and Physician, S.S. Hospital, B.H.U., Varanasi



CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

Publisher and Distributor of Monumental Treatises of the East

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

P.O. Box No. 1065

VARANASI-221001 (INDIA)

Publishers :

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

Publishers and Distributors of Monumental Treatises of the East

P. O. Box No. 1065

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

Varanasi-221001 (India)

Telephone **330349, 330345 (O)**

332702, 332637 (R)

Reprint : 2002

Branch

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Oriental Publishers and Distributors

P. O. Box No. 1084

K. 37/109, Gopal Mandir Lane

Varanasi-221001 (India)

विषय-सूची

सङ्केत

अं॰	अंग्रेजी	पहा॰	पहाड़ी
अ॰	अरबी	पाठा॰	पाठान्तर
अफ॰	अफगानी	फा॰	फारसी
आसा॰	आसामी	बं॰	बंगाली
इरा॰	इरानी	बंब॰	बंबई
उ(डि)॰	उडिया	भोटि॰	भोटिया
उ॰ प्र॰	उत्तर प्रदेश	म॰	मराठी
क॰	कर्नाटक	मल॰	मलयालम
क॰ अ॰	कल्पस्थान अध्याय	मा॰	मारवाड़ी
काश्मी॰	काश्मीर	मि॰ ग्रा॰	मिलीग्राम
काठी॰	काठियावाड	मि॰ मि॰	मिलीमीटर
कुमा॰	कुमाऊँ	मुंगे॰	मुंगेर
कों॰	कोंकणी	यू॰	यूनानी
खासि॰	खासिया	र॰	रत्ती
गढ॰	गढवाल	रा॰ नि॰	राजनिघण्टु
गु॰	गुजराती	रा॰ पु॰	राजपुताना
गो॰	गोवा	लि॰	लिपचा
ग्रा॰	ग्राम	ले॰	लेटिन
च॰	चरक	सं॰	संस्कृत
चि॰	चिकित्सास्थान	सन्ता॰	सन्ताल
ता॰	तामिल	सिं॰	सिन्धी
तु॰	तुलु	सिलो॰	सिलोनी
ते॰	तेलगु	सु॰	सुश्रुत
द॰	दक्षिण	सू॰	सूत्रस्थान
ध॰ नि॰	धन्वन्तरीय निघण्टु	हि॰	हिन्दी
ने॰	नेपाली	Fam.	Family
पं॰	पंजाबी	Syn.	Synonym (पर्याय)

सम्पादकीय

सृष्टि के प्रारम्भ काल से व्याधियों के निराकरण के लिये वानस्पतिक द्रव्यों का प्रयोग होता चला आया है। प्रारम्भ में वनस्पतियों का चिकित्सा में प्राकृतिक स्वरूप में ही उपयोग होता रहा। धीरे-धीरे रासायनिक तत्वों या कार्यकारी घटक द्रव्यों के अनुसंधान एवं जीव रासायनिक रचना शृङ्खलाओं के विज्ञान के अनुसंधान के कारण आज तक विकसित हुये नवीनतम वानस्पतिक औषध द्रव्यों का प्रयोग हो रहा है। प्रारम्भ में मानव जीवन अधिक स्वाभाविक रूप में रहने तथा छोटे-छोटे जनपदों में निवास करने और चिकित्सोपयोगी वानस्पतिक समुदाय के निकट रहने के नाते उनसे भली प्रकार परिचित रहता था। बाद के दिनों में बड़े जन समुदायों में निवास करने एवं वनस्पति सम्पदा के सानिध्य से दूर रहने की परिस्थिति में चिकित्सा विषय के अध्येताओं एवं अध्यापकों को इस बात की आवश्यकता का अनुभव हुआ कि भैषज्य संहिताओं—निघण्टु ग्रन्थों का सर्वाङ्गीण परिचयात्मक साहित्य संग्रहीत किया जाय और उन वनस्पतियों का प्रत्यक्ष स्वरूप जानने के लिये जंगलों में निवास एवं विहार करने वाले आभीर, कोल, किरात, सिकारी एवं तपस्वी वर्ग से परिचय प्राप्त किया जाय।

> गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः।
> मूलजातिश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥
> प्रायो जनाः सन्ति वनेचरास्ते गोपादयः प्राकृतनामसंज्ञाः।
> प्रयोजनार्थो वचनप्रवृत्तिर्यस्मात्ततः प्राकृतमित्यदोषः॥

धीरे-धीरे चिकित्सकों का वानस्पतिक जगत् से प्रत्यक्ष सम्बन्ध टूटने लगा और चिकित्सा साहित्य में निर्दिष्ट वनस्पतियों का परिचय ही उनके परिज्ञान के लिये अपर्याप्त होते हुए भी पर्याप्त स्वीकार किया जाने लगा। इस परिस्थिति में वनस्पतियों के क्षेत्र में अनेक भ्रान्तियों का समावेश होना स्वाभाविक था। इतने विशाल देश में असंख्य भाषाओं, लिपियों, मान्यताओं, रूढ़ियों आदि के कारण तथा विभिन्न क्षेत्रों की वानस्पतिक सम्पदा के विचित्र स्वरूप होने के कारण और एक ही नाम से अनेक वनस्पतियों के अभिधान के कारण तथा रचनाकारों के पर्याय प्रेम के कारण उत्तर कालीन वनस्पतिवेत्ताओं के सामने वनस्पतियों के असन्दिग्ध निर्णय की समस्या जटिलतम होती गई। इस कठिनाई के निराकरण

के लिये अनेक निघण्टुओं का निर्माण ऋषिकल्प अधिकारी वनस्पति वेत्ताओं ने किया जिनमें धन्वन्तरि निघण्टु या गुडूच्यादि निघण्टु, मदन विनोद या मदनपाल निघण्टु, अभिधान चूड़ामणि या राज निघण्टु एवं भाव प्रकाश निघण्टु प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन निघण्टुओं के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण निघण्टु ग्रन्थों का एवं द्रव्यगुण शास्त्र के अभिज्ञ विद्वानों का उल्लेख चिकित्सा साहित्य के वर्तमान ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलता है। किन्तु पूर्ण या खण्डित प्रति के रूप में वनौषधि विषयक दूसरी विशिष्ट रचनायें उपलब्ध नहीं हैं।

उपरिनिर्दिष्ट सभी निघण्टु ग्रन्थ बड़े महत्व के तथा द्रव्य-गुणों की अनमोल संग्रहात्मक रचनायें हैं। सबकी अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। इनमें भावमिश्र कृत द्रव्यगुणसंग्रह या भावप्रकाशनिघण्टु का उसकी सरलता के कारण एवं आधुनिक चिकित्सा महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में अन्तर्भाव होने के कारण व्यापक प्रसार हुआ है। भावप्रकाशनिघण्टु की लघु एवं दीर्घ कलेवर की अनेक व्याख्यायें उपलब्ध हैं। किन्तु काल प्रभाव से जिन दोषों का अन्तर्भाव वनस्पतियों के व्याख्यान के क्षेत्र में अभिनिविष्ट होता गया, उपलब्ध अधिकांश व्याख्याओं में भी यह गुण-दोष उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होता रहा है। हम लोग कमरे में बैठ कर चार छः महत्व के आकर ग्रन्थों के सहारे अपनी कल्पनात्मक कूची के जोर से वनस्पतियों के चित्र खींचते जाते हैं, चाहे हमने उन वनस्पतियों का दर्शन स्वप्न में भी न किया हो। इस प्रकार की जटिलताओं के कारण द्रव्यगुण-विज्ञान का अध्ययन एवं अध्यापन बड़ा अप्रिय, नीरस एवं आयासकर विषय हो गया है। निघण्टु क्षेत्र की इन कठिनाइयों का निराकरण करने की चेष्टा भावप्रकाश-निघण्टु के वर्तमान संस्करण में की गई है।

मेरे मित्र श्री कृष्णचन्द्र चुनेकर, प्राध्यापक, स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय अनुसन्धान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपना जीवन ही द्रव्यगुण साहित्य के परिष्कार के लिये अर्पित कर दिया है। पिछली दो दशाब्दियों से आपने इस क्षेत्र के विशिष्ट वाङ्मय का पर्यालोचन करने के अतिरिक्त व्यावहारिक रूप में वनस्पतियों का प्रत्यक्ष परिचय पाने के लिये प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत के गहन जंगलों की यात्रायें की हैं। वनस्पतियों का परिचय एवं स्वरूप निर्धारण, आधुनिक पाश्चात्य वर्गीकरण की दृष्टि से उनका अभिज्ञान आदि विषयों की उपलब्धि उनको इस क्षेत्र के सर्वमान्य वनौषधिवेत्ता आदरणीय प्रो० बलवन्तसिंह जी से प्राप्त हुई है। उनके साथ श्री चुनेकर जी ने उत्तरा खण्ड की तराइयों—चकराता, कारमीर, देहरादून एवं विन्ध्यक्षेत्र की वनस्पतियों के लिये चित्रकूट अमरकण्टक आदि का पर्यटन किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वनौषधि संग्रहालय-

हरबेरियम का वर्षों तक सञ्चालन करते हुए उसका गौरवपूर्ण प्रतिमान उपस्थित किया है। आपके सहयोग से भावप्रकाश-निघण्टु के पिछले तीन संस्करण पाठकों के सामने आ चुके हैं और उनका पर्याप्त समादर हुआ है।

प्रस्तुत संस्करण में विमर्श का आद्यान्त परिष्कार, अद्यतन वनौषधि अनुसंधान साहित्य का अन्तर्भाव एवं प्रत्येक वनस्पति का यथाशक्ति असंदिग्ध परिचय देने की चेष्टा की गई है। उन वनस्पतियों के शास्त्रोक्त विशिष्ट आमयिक प्रयोगों का भी यथास्थल उल्लेख किया गया है। संस्कृत के मूल श्लोकों का हिन्दी अनुवाद, भेषज द्रव्यों के भिन्न भारतीय भाषाओं में प्रचलित सही नाम, उनके अंग्रेजी व लैटिन के स्वीकृत नाम, वनस्पतियों के उत्पत्ति-स्थान, उनका विशिष्ट परिचय, रासायनिक संगठन आदि का यथाशक्ति सही-सही वर्णन किया गया है। संदिग्ध एवं विवादास्पद स्थलों पर विभिन्न विद्वानों के विचार एवं मतभेद के आधार के उल्लेख की चेष्टा की गई है। अनेक परिशिष्टों के अलंकरण से इस संस्करण को अतीव उपयोगी बनाया गया है।

इस प्रकार के कार्य में कितना श्रम पड़ता है इसका अनुभव सम्बद्ध विषयों के ज्ञाता ही कर सकते हैं। वनस्पतियों के भिन्न-भिन्न भाषाओं के नामों का एवं एक ही वनस्पति के भिन्न प्रान्तों में दूसरे अभिधानों से उल्लेख होने के कारण और अनेक वनस्पतियों का एक ही नाम से उल्लेख होने के कारण उत्पन्न भ्रान्तियों का निराकरण करने के लिए आपको केवल एक ही वनस्पति के लिये महीनों श्रम करना पड़ा है।

श्री चुनेकर जी को यह लगन, कर्मठता एवं ज्ञान अपने पिता आयुर्वेदीय क्षेत्र के मर्मज्ञ, कुशल चिकित्सक अपने समय के दिग्दिगन्त विख्यात पीयूषहस्त स्व० त्र्यम्बक शास्त्री के पट्ट शिष्य, पूज्य श्री श्रीनिवास शास्त्री जी से प्राप्त हुआ है। प्राचीन वैद्य परम्परा में सम्भवतः श्री श्रीनिवास जी शास्त्री ही एकमात्र ऐसे विद्वान् व्यक्ति हैं जिन्हें आधुनिक रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र तथा तकनीकशास्त्र (*Technology*) का आधुनिकतम परिज्ञान प्राप्त है। और पचासी वर्ष की अवस्था में अध्ययन-अध्यवसाय में निरन्तर लगे रहकर 'यावज्जीवमधीते विप्रः' की परम्परा को गति प्रदान कर रहे हैं।

विश्वास है, भावप्रकाशनिघण्टु का प्रस्तुत संस्करण वानस्पतिक द्रव्यगुण-विज्ञान विषयक साहित्य का अध्ययन, अध्यापन, अनुसन्धान करने वाले एवं वैद्यक व्यवसाय से सम्बद्ध महानुभावों के लिये पूर्वापेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

औषधीय वनस्पतियों का शास्त्रसम्मत, अनुसन्धान सिद्ध एवं प्रत्यक्ष परिज्ञान के द्वारा उपबृंहित विवेचन के लिये मैं अपने मित्र श्री कृष्णचन्द्र जी चुनेकर को साधुवाद देते हुए उनके मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ। भगवान् धन्वन्तरि की कृपा से इनके द्वारा भविष्य में आयुर्वेद जगत की निरन्तर सेवा होती रहेगी।

आयुर्वेदीय वाङ्मय की श्री-समृद्धि के महत् अनुष्ठान में चौखम्भा परिवार का विशेष योगदान रहा है। प्राच्यविद्या के प्रकाशन का उनका अपना कीर्तिमान है। अनेक प्रकाशन विपत्तियों के होने पर भी चौखम्भा परिवार ने इस श्रेणी के साहित्य का प्रकाशन अनवरत रूप में किया है—एतदर्थ उनकी श्री-समृद्धि की कामना के साथ उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

अन्त में ग्रन्थ की उपयोगिता के सही मूल्यांकन के लिये आयुर्वेद समाज से साग्रह अनुरोध है कि भविष्य में परिष्कार के लिये समुचित परामर्श देकर चिकित्सा साहित्य की श्री-वृद्धि में सहायक हों।

गङ्गादशहरा
वि० सं० २०२६

गंगासहाय पाण्डेय

प्राक्कथन

यदुपज्ञं हि विज्ञानं द्रव्यस्य गुणकर्मणोः।
भिषग्भिर्वन्दितायास्मै भावमिश्राय मे नमः॥

आचार्य भावमिश्र ने ई० सं० १५००–१६०० में एक ऐसे अपूर्व आयुर्वेदीय चिकित्सा ग्रन्थ का निर्माण किया जो प्राचीन संहिता ग्रन्थों की शृंखला में अन्तिम कड़ी कहा जा सकता है। इसमें द्रव्यगुण संबन्धी विषय का जो प्रतिपादन किया गया है वह पूर्ववर्त्ती निघंटुओं (कोश) की अपेक्षा परिष्कृत एवं तत्कालीन प्रचलित नवीनतम अनुसन्धानों को आत्मसात् करते हुए किया गया है, जैसे द्वीपान्तरवचा, पारसीक यवानी आदि का सर्व प्रथम उल्लेख इसी में है। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण इस ग्रन्थ का द्रव्यगुण विषयक भाग 'भावप्रकाशनिघण्टु' के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा अनेक आयुर्वेदीय संस्थाओं में पाठ्यग्रन्थ के रूप में इसका उपयोग किया जा रहा है। इसमें सभी प्रकार के द्रव्यों—१ औद्भिद (वृक्ष, गुल्म, लता आदि—*Plants*), २ प्राणिज (*Animals*) एवं पार्थिव (*Minerals*) के गुणकर्मों का आयुर्वेदीय पद्धति से वर्णन दिया हुआ है। मूल ग्रन्थ संस्कृत में श्लोकबद्ध होने से युगानुरूप उसकी व्याख्या की आवश्यकता थी और इस दिशा में अनेक प्रयत्न भी हुए। प्रस्तुत व्याख्या उसी दिशा में एक और प्रयत्न है।

इस व्याख्या में संस्कृत के मूल श्लोकों का हिन्दी अनुवाद, द्रव्यों के विभिन्न भारतीय भाषाओं के नाम, अंग्रेजी तथा लेटिन नाम, वनस्पतियों के उत्पत्ति स्थान, संक्षेप में उनका परिचय, रासायनिक संगठन, गुण, प्रयोग एवं यथा संभव मात्रा आदि का उल्लेख किया गया है। संदिग्ध द्रव्यों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है जिसमें एक नाम से लिये जाने वाले अनेक द्रव्यों का पृथक्-पृथक् वर्णन दिया गया है, जो संदिग्ध द्रव्य निर्णय में सहायक होगा। प्रत्येक द्रव्य के वर्णन के साथ कुछ विशिष्ट वक्तव्य 'नोट' के रूप में लिखा गया है जो उसके भेदोपभेद, अन्य विद्वानों के उसके संबंध में विचार, वादग्रस्तता, अन्य निघंटुओं एवं संहिता ग्रन्थों के वर्णन से तुलना तथा अनुसन्धान के क्षेत्र आदि पर व्यापक प्रकाश डालता है। संक्षेप में प्रत्येक द्रव्य के संबंध में प्राचीन काल से लेकर अब तक के जो भी विचार रहे हैं उनका संकलन किया गया है जो आगे अनुसन्धान में सहायक होगा। चूँकि रसशास्त्र एक स्वतंत्र विषय के रूप में अब विकसित हो

चुका है इसलिये तत्सम्बन्धी भाग में केवल मूल श्लोकों का अनुवाद मात्र ही दिया गया है, उसकी व्याख्या नहीं की गई है। व्याख्या में प्रधानता औद्भिद द्रव्यों को ही दी गई है। परिशिष्ट १ में उन सभी प्रमुख द्रव्यों का संक्षेप में वर्णन किया गया है जिनका उल्लेख मूल में या टीका के संदर्भ में नहीं है। परिशिष्ट २ में केवल मूल में आये संस्कृत के सभी पर्यायवाची नामों को अकारादिक्रम से उपस्थित किया गया है जिससे इस बात का ज्ञान हो सके कि अमुक द्रव्य का भावप्रकाश-निघण्टु में उल्लेख हुआ है या नहीं। इसमें प्रत्येक पर्याय के आगे उस द्रव्य का प्रमुख-नाम भी साथ में दिया गया है। इसके पश्चात् सभी द्रव्यों के भारतीय नामों की अकारादिक्रम से सूची दी गई है। इसी में अन्य संस्कृत नामों का भी समावेश है जिनका मूल श्लोकों में उल्लेख न होने से प्रथम संस्कृत सूची में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता था। अन्त में लेटिन एवं अंग्रेजी नामों की भी वर्णानुसार सूची दी गई है।

इस व्याख्या का सम्पूर्ण श्रेय मेरे गुरुवर्य, परमपूज्य आदरणीय डॉ० गंगासहाय पाण्डेय जी को है जिन्होंने न केवल इस व्याख्या को तैयार करने में निदेशक का कार्य किया अपितु लेखक को इस योग्य बनाने में भी उनका वरदहस्त रहा है।

आयुर्वेदीय वनस्पतियों के प्रकाण्ड विद्वान्, महान् वैज्ञानिक, आयुर्वेद शिरोमणि, श्री ठा० बलवन्तसिंह जी, एम० एस० सी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, आयुर्वेदिक कालेज, का० हि० वि० वि०, जिन्होंने अपना सारा जीवन ही आयुर्वेदीय वनस्पतियों के अन्वेषण में लगाया एवं जिनके शिष्यत्व का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ उनको यह कृति समर्पण करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। हमारी यही कामना है कि इसी तरह उनका मार्गदर्शन हमें आजीवन मिलता रहे।

यह व्याख्या वास्तविक रूप में संदर्भ-ग्रन्थ सूची में उल्लिखित कृतियों का संकलन मात्र ही है इसलिये मैं उन सभी महान् विद्वानों का अत्यन्त आभारी हूँ। चौखम्भा परिवार के सभी सदस्यों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिनकी सहायता के बिना यह कार्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो ही नहीं सकता था।

आशा है, यह व्याख्या न केवल विद्यार्थियों को अपितु अध्यापकों तथा वनस्पति अनुसन्धानकर्ताओं को भी उपादेय होगी। संभव है, इसमें कुछ त्रुटियाँ भी रह गई हों जिनके लिये विद्वान् क्षमा करेंगे तथा अपने सुझाव देंगे जिससे अगले संस्करण में इनका परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

दिनांक २६ मई १९६९ — कृष्णचन्द्र चुनेकर

संदर्भग्रन्थ

१ अष्टांग संग्रह संहिता, टीका श्री अत्रिदेव गुप्त, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९५१।
२ अष्टांगहृदय कोष, श्री वैद्य के० एम० वलापाड, द० मलाबार, १९३६।
३ अष्टांगहृदय संहिता, टीका अरुणदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२५।
४ अभिनव बूटी दर्पण, भाग १-२, श्री रूपलाल वैश्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९४७।
५ अमरकोश, टीका रामाश्रमी, ६ टी० आ०, निर्णयसागर प्रेस बंबई, १९४४।
६ ओषधीसंग्रह (मराठी), डा० वा० ग० देसाई, वैद्य या० त्रि० आचार्य, बंबई, १९२७।
७ काश्यपसंहिता, टीका श्री सत्यपाल, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९५३।
८ कैयदेव निघण्टुः (पथ्यापथ्य विबोधक ग्रन्थः) टीका श्री कविराज सुरेन्द्र मोहन, दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज, लाहोर, १९२८।
९ चक्रदत्त, टीका श्री जगदीश्वर प्रसाद त्रिपाठी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी १९४९।
१० चरकसंहिता, टीका चक्रपाणि, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९४१।
११ द्रव्यगुणविज्ञानम् उ०, द्वि० ख० श्री यादवजी श्री त्रिक्रमजी आचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बंबई—२, १९५०।
१२ द्रव्यगुणविज्ञान, भाग २-३, श्री प्रियव्रत शर्मा, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९५६।
१३ निघण्टु रत्नाकर, टीका श्री कृष्ण शास्त्री नवरे, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९३६।
१४ निघण्टु आदर्श (गुजराती), भाग १-२, श्री वैद्य बापालाल ग० शाह, हंसोट, जि० भ्रोच, १९२७-२८।
१५ प्रारम्भिक उद्भिद् शास्त्र, श्री ठा० बलवन्तसिंह, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९४९।
१६ बिहार की वनस्पतियाँ, श्री ठा० बलवन्तसिंह, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता, १९५५।
१७ भारतीय वनौषधि (बंगला), भाग १-३, श्री कालीपद विश्वास, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १०५०।
१८ भावप्रकाश, टीका श्री लाला शालिग्राम वैश्य, खेमराज श्री कृष्णदास, बंबई, १९०७।
१९ भावप्रकाश निघण्टु, टीका श्री विश्वनाथ द्विवेदी, तृ० सं०, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १०५४।
२० मदनविनोद, टीका श्री नन्दकिशोर शास्त्री, वाराणसी, १९३४।
२१ यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान, श्री ठा० दलजीत सिंह, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९४९।
२२ राजनिघण्टुसहितो धन्वन्तरीयनिघंटुः, टीका श्री नारायण विट्ठल पुरंदरे, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, १८९६।
२३ वनस्पति परिचय, श्री अन्तूभाई वैद्य, आयुर्वेद रिसर्च इंस्टिट्यूट, फोर्ट, बंबई, १९५२।
२४ वनौषधि चन्द्रोदय, भाग १-१०, श्री चन्द्रराज भण्डारी, ज्ञानमन्दिर, भानपुरा (इन्दौर), १०३८।
२५ वनौषधि दर्शिका, श्री ठा० बलवन्तसिंह, आयुर्वेदिक कालेज यूनियन, का० हि० वि० वि०, वाराणसी, १९४८।
२६ वृन्दमाधव, आनन्दाश्रम, पूना, १९४३।
२७ वैद्यक शब्दसिन्धुः, श्री कविराज उमेशचन्द्र गुप्त, कलकत्ता, १९१४।

२८ शालिग्राम निघण्टु भूषण, श्री लाला शालिग्राम वैश्य, खेमराज श्री कृष्णदास, बंबई, १९५२।

२९ सन्दिग्धनिर्णय वनौषधशास्त्र, भाग १–९, श्री पं० भगीरथ स्वामी, १४२ हरीसन रोड, कलकत्ता, १९३६।

३० सचित्र वनस्पति गुणादर्श, भाग १–२, श्री वैद्य हिरामण मोतीराम जंगले, वाघली, पूर्वखानदेश, महाराष्ट्र।

३१ सुश्रुतसंहिता, टीका डल्हण, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९१६।

REFERENCES

1 Anonymous A Consolidated Glossary of Technical terms, Central Hindi Directorate, Delhi, 1962.

2 " Handbook of Agriculture, I. C. A. R., New Delhi, 1961.

3 " Pharmacopoeia of India, Ministry of Health, New Delhi, 1955.

4 " The Wealth of India (Raw Materials), Vols. 1–6, C. S. I. R., New Delhi, 1948–1962.

5 Aiyer, K. Narayan, Pharmacognosy of Ayurvedic Drugs of Travancore Cochin, Nos. 1–9, Central Research Institute, Trivandrum, 1951–1966.

6 Apte, V. S., Sanskrit English Dictionary.

7 Aykroyd, W. R., Gopalan, G., Balsubramanian, S. C., The Nutritive Value of Indian Foods and the Planning of Satisfactory Diets, 6th edn., I. C. M. R., New Delhi, 1963.

8 Bailey, L. H., Standard Cyclopedia of Horticulture, Vols. 1–3, The Macmillan Co., New-York, 1947.

9 Blatter, E., Beautiful Flowers of Kashmir, Vols. 1–2. John Bale, Sons & Danielsson Ltd., London, 1929.

10 Blatter, E., Millard, W. S., Stearn W., Some Beautiful Indian Trees, 2nd edn., The Bombay Natural History Society, Bombay, 1924.

11 Chopra, R. N., Chopra, I. C., Handa, K. L., Kapur, L. D., Chopra's Indigenous Drugs of India, 2nd edn., U. N. Dhar & Sons Pvt. Ltd., Calcutta-12, 1958.

12 Chopra, R. N., Nayar, S. L., Chopra, I. C., Glossary of Indian Medicinal Plants, C. S. I. R., New Delhi, 1956.

13 Chopra, R. N., Badhwar, R. L., Ghosh, S., Poisonous Plants of India, Vols. 1–2, I. C. A. R., New Delhi, 1949, 1965.

14 Chopra, R. N. Chopra, I. C., A Review of Work on Indian Medicinal Plants, I. C. M. R., New Delhi, 1955.

15 Claus, E. P., Pharmacognosy, 4th edn., Lea & Febiger, Philadelphia, 1961.

16 Cooke, T., Flora of Bombay, Vols. 1–3, Botanical Survey of India, Calcutta, Reprt. 1958.

17 Cowen, D. V., Flowering Trees and Shrubs, Thacker & Co. Ltd., Bombay, 1950.

18 Dastur, J. F., Medicinal Plants of India and Pakistan, D. B. Taraporewala Sons & Co. Ltd., Bombay-1, 1951.

19 Dey, K. L., Indigenous Drugs of India, Thacker Spink & Co., Calcutta, 1896.

20 Duthie, J. F., Flora of Upper Gangetic Plain, Vols. 1–2, Botanical Survey of India, Calcutta, reprt., 1960.

21 Dutta, A. C., A Class-Book of Botany, 6th edn., Humphrey Milford, Oxford University Press, Calcutta, 1945.

22 Dutt, U. C., The Materia Medica of Hindus, M. C. Das, 146, Lower Chitpore Road. Calcutta-1, 1922.

23 Dymock, W., Warden, C. J. H., Hooper, D., Pharmacographia Indica, Vols. 1–3, Trubner & Co., London, 1890–99.

24 Firminger, T. A., Firminger's Manual of Gardening for India, 8th edn., Thacker Spink & Co. Ltd., Calcutta, 1947.

25 Ghosh, R., Materia Medica & Therapeutics, 18th edn., Hilton & Co., Calcutta, 1949.

26 Greenish, H. G., The Microscopical Examination of Foods and Drugs, 3rd edn., J. & A. Churchill, London, 1923.

27 Haines, H. H., Botany of Bihar & Orissa, Botanical Survey of India, Calcutta, reprt., 1961.

28 Hocking, G. M., A Dictionary of Terms in Pharmacognosy, Charles C. Thomas, Springfield, Illinois, 1955.

29 Hooker, J. D., Flora of British India, Vols. 1–7, L. Reeve & Co., London, 1872–1897.

30 Jain, S. K., Medicinal Plants, National Book Trust, New Delhi, 1968.

31 Johansen, D. A., Plant Microtechnique, Mc.Graw-Hill Book Co., London, 1940.

32 Kanjilal, U. N., Kanjilal, P. C., Das, A., Flora of Assam, Vols. 1–5, Government of Assam, 1935.

33 Kirtikar, K. R., Basu, B. D., Indian Medicinal Plants., 2nd edn., L. M. Basu, Allahabad, 1933.

34 Krishnamurthi, S., Horticultural and Economic Plants of the Nilgiris, Coimbatore, 1953.

35 Macmillan, H. F., Tropical Planting and Gardening, 5th edn. Macmillan & Co., London, 1962.

36 Maheshwari, P., Singh, U., Dictionary of Economic Plants in India, I. C. A. R., New Delhi, 1965.

37. Mc. Cann, C., 100 Beautiful Trees of India, Bombay, 1950.

38 Mooss, N. S., Ayurvedic Flora Medica, No. 1, Vaidyasarathy, Kottayam, 1953.

39 Mukerji, B., The Indian Pharmaceutical Codex, Vol. I, C.S.I.R., New Delhi, 1953.

40 Nadkarni, A. K., Indian Materia Medica, Vols. 1-2, 3rd edn. Popular Book Depot, Bombay-7, 1954.

41 Pal, B. P., Beautiful Climbers of India, I. C. A. R., New Delhi, 1960.

42 Prain, D., Bengal Plants, Botanical Survey of India, Calcutta, reprt. 1963.

43 Pratt, R., Youngken, H. W., Pharmacognosy, 2nd edn., J. B. Lippincott Con, Montreal, Philadelphia, 1956.

44 Raghuvira, Elementary English-Indian Dictionary of Scientific Terms, Sarasvati Vihar, Delhi, 1950.

45 Ramstad, E., Modern Pharmacognosy, Mc.Graw-Hill Book Co. Inc., London, 1959.

46 Randhava, M. S., Flowering Trees in India, I. C. A. R., New Delhi, 1957.

47 Randhava, M. S., Beautiful Trees and Gardens, I. C. A. R., New Delhi, 1961.

48 Randhava, M. S., Flowering Trees, National Book Trust, New Delhi, 1965.

49 Torfrida, Flowering Trees of India, Thacker & Co., Bombay, 1947.

50 Trease, G. E., A Textbook of Pharmacognosy, 8th edn., Baillere Tindal & Cox, London, 1961.

51 Uphof, J. C. Th., Dictionary of Economic Plants, Hafner Publishing Co., New York, 1959.

52 Wallis, T. E., Practical Pharmacognosy, 5th edn., J. A. Churchill Ltd., London, 1948.

53 Wallis, T. E., Text Book of Pharmacognosy, 3rd edn., J. & A. Churchill Ltd., London, 1955.

54 Watt, G., A Dictionary of the Economic Products of India, Vols. 1-6, Calcutta, 1885-99.

55 Wight, R., Icones Plantarum India Orientalis.

56 Willis, J. C., A Dictionary of the Flowering Plants and Ferns, 6th edn., University Press, Cambridge, 1951.

भावप्रकाशनिघण्टुः

अथ हरीतक्यादिवर्गः

रसगुणवीर्यविपाकप्रभावाणां स्वरूपाण्यभिधाय कुत्र द्रव्ये के रसगुणवीर्यविपाकप्रभावाः सन्तीति बोधयितुं द्रव्यगतान् रसगुणवीर्यविपाकप्रभावानाह ।

तत्र प्रथमं हरीतक्या उत्पत्तिनामलक्षणगुणानाह

दक्षं प्रजापतिं स्वस्थमश्विनौ वाक्यमूचतुः । कुतो हरीतकी जाता तस्यास्तु कति जातयः ।
रसाः कति समाख्याताः कति चोपरसाः स्मृताः ।
नामानि कति चोक्तानि किं वा तासां च लक्षणम् ॥ २ ॥
के च वर्णा गुणाः के च का च कुत्र प्रयुज्यते । केन द्रव्येण संयुक्ता कांश्च रोगान्व्यपोहति ॥
प्रश्नमेतद्यथा पृष्टं भगवन्वक्तुमर्हसि । अश्विनोर्वचनं श्रुत्वा दक्षो वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥
पपात बिन्दुर्मेदिन्यां शक्रस्य पिबतोऽमृतम् । ततो दिव्यात्समुत्पन्ना सप्तजातिर्हरीतकी ॥५॥

रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव के स्वरूपों को कहकर किस द्रव्य में कौन रस, कौन गुण, तथा कैसा वीर्य, विपाक एवं प्रभाव रहता है, इन सब को बताने के लिये प्रत्येक द्रव्यगत रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव का वर्णन करते हैं। उसमें प्रथम हरीतकी (हरड़) की उत्पत्ति, नाम, लक्षण तथा गुणों को कहते हैं—

एक समय स्थिर चित्त से बैठे हुए भगवान् दक्ष प्रजापति से दोनों अश्विनीकुमारों ने यह बात कही कि—हे भगवान् ! हरीतकी (हरड़) कहां से उत्पन्न हुई ? और उसकी कितनी जातियां हैं ? तथा उसमें प्रधान रूप से कौन-कौन रस और कौन-कौन उपरस कहे हुये हैं ? एवं उसके कितने नाम कहे हुये हैं ? और उन सबों के क्या-क्या लक्षण हैं ? और उनका वर्ण कैसा है ? उनमें गुण कौन-कौन हैं ? और किस जाति के हरड़ का किस कार्य में प्रयोग किया जाता है ? तथा किन द्रव्यों के साथ संयोग होने पर किन रोगों को दूर करती है ? इन उपर्युक्त प्रश्नों का जैसा मैंने पूछा है वैसा ही आपको उत्तर देना उचित है। इस प्रकार से दोनों अश्विनीकुमारों के वचनों को सुन कर दक्षप्रजापति ने यह कहा कि—एक समय अमृत पान करते हुए भगवान् इन्द्र के मुख से दैवात् एक बूँद अमृत पृथ्वी पर गिर पड़ा तब उसी दिव्य अमृत बिन्दु से सात जाति वाली हरीतकी उत्पन्न हुई ॥ १–५ ॥

अथ हरीतकीनामान्याह

हरीतक्यभया पथ्या कायस्था पूतनाऽमृता । हैमवत्यव्यथा चापि चेतकी श्रेयसी शिवा ॥६॥
वयस्था विजया चापि जीवन्ती रोहिणीति च ॥ ७ ॥

हरीतकी के नाम—हरीतकी, अभया, पथ्या, कायस्था, पूतना, अमृता, हैमवती, अव्यथा, चेतकी, श्रेयसी, शिवा, वयस्था, विजया, जीवन्ती तथा रोहिणी ये सब 'हरीतकी' के नाम हैं ॥ ६–७ ॥

अथ हरीतक्याः सप्तभेदानाह

विजया रोहिणी चैव पूतना चामृताऽभया । जीवन्ती चेतकी चेति पथ्यायाः[1] सप्तजातयः ॥

---

१. 'विजेया' इति पा० ।

हरीतकी के भेद—१ विजया, २ रोहिणी, ३ पूतना, ४ अमृता, ५ अभया, ६ जीवन्ती, ७ चेतकी ये हरीतकी की सात जातियां (भेद) हैं ॥ ८ ॥

अथ सप्तजातेर्हरीतक्या उत्पत्तिस्थानान्याह

[[1]विन्ध्याद्रौ विजया हिमाचलभवा स्याच्चेतकी पूतना
सिन्धौ स्यादथ रोहिणी निगदिता जाता प्रतिस्थानके ।

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः ।

चम्पायाममृताऽभया च जनिता देशे सुराष्ट्राह्वये
जीवन्तीति हरीतकी निगदिता सप्त प्रभेदा बुधैः ॥ १ ॥]

हरीतकी के उत्पत्तिस्थान—विन्ध्य पर्वत पर विजया, हिमालय पर चेतकी, सिन्धु देश में पूतना, प्रत्येक स्थानों में रोहिणी, चम्पा देश में अमृता तथा अभया एवं सोरठ देश में जीवन्ती जाति की हरीतकी के उत्पन्न होने से उक्त प्रकार के सात भेद विद्वानों ने कहे हैं ॥ १ ॥

अथ तेषां पृथग्लक्षणान्याह

अलाबुवृत्ता विजया वृत्ता सा रोहिणी स्मृता। पूतनाऽस्थिमती सूक्ष्मा कथिता मांसलाऽमृता॥
पञ्चरेखाऽभया प्रोक्ता जीवन्ती स्वर्णवर्णिनी। त्रिरेखा चेतकी ज्ञेया सप्तानामियमाकृतिः॥१०॥

सात प्रकार की हरीतकी के पृथक् २ लक्षण—'विजया' हरीतकी लौकी की भाँति गोल, 'रोहिणी' का आकार गोल, 'पूतना' की गुठली बड़ी तथा आकार सूक्ष्म, 'अमृता' हरीतकी मांसल (गूदेदार), 'अभया' पांच रेखाओं से युक्त, 'जीवन्ती' सोने के समान रङ्ग वाली और 'चेतकी' तीन रेखाओं से युक्त होती है। इस प्रकार सातों प्रकार की हरीतकी के ये आकार हैं ॥ ९-१० ॥

अथ हरीतकीप्रयोगानाह

विजया सर्वरोगेषु रोहिणी व्रणरोहिणी। प्रलेपे पूतना योज्या शोधनार्थेऽमृता हिता ॥११॥
अक्षिरोगेऽभया शस्ता जीवन्ती सर्वरोगहृत्। चूर्णार्थे चेतकी शस्ता यथायुक्तं प्रयोजयेत्॥
चेतकी द्विविधा प्रोक्ता श्वेता कृष्णा च वर्णतः। षडङ्गुलायता शुक्ला कृष्णा त्वेकाङ्गुला स्मृता॥
काचिदास्वादमात्रेण काचिद्गन्धेन भेदयेत्। काचित्स्पर्शेन दृष्ट्याऽन्या चतुर्धा भेदयेच्छिवा॥
चेतकीपादपच्छायामुपसर्पन्ति ये नराः। भिद्यन्ते तत्क्षणादेव पशुपक्षिमृगादयः॥ १५ ॥
चेतकी तु धृता हस्ते यावत्तिष्ठति देहिनः। तावद्भिद्येत वेगैस्तु प्रभावान्नात्र संशयः॥ १६ ॥
नृपाणां सुकुमाराणां कृशानां भेषजद्विषाम्। चेतकी परमा शस्ता हिता सुखविरेचनी॥१७॥
सप्तानामपि जातीनां प्रधाना विजया स्मृता। सुखप्रयोगा सुलभा सर्वरोगेषु शस्यते॥१८॥

हरीतकी के प्रयोग—'विजया' हरीतकी का प्रयोग सभी रोगों में होता है। 'रोहिणी' व्रण पूरण करनेवाली होती है। 'पूतना' का प्रलेप के लिये प्रयोग करना चाहिये। 'अमृता' शोधन कर्म के लिये हितकर है। आंख के रोगों में 'अभया' उत्तम होती है और 'जीवन्ती' सम्पूर्ण रोगों का हरण करने वाली होती है। एवं चूर्ण के लिये 'चेतकी' उत्तम होती है। अतः जिस जातिकी हरीतिकी का जहां जिन रोगों में प्रयोग करना कहा हुआ है, उसका वहां पर प्रयोग करना चाहिये। 'चेतकी' श्वेत और कृष्ण दो प्रकार की होती है। उनमें शुक्ल वर्ण वाली ६ अङ्गुल की तथा कृष्ण वर्ण वाली एक अङ्गुल की लम्बी होती है। इनमें कोई हरीतकी खाने मात्र से, कोई सूंघने से, कोई स्पर्श करने से तथा कोई देखने मात्र से ही मल का भेदन करती हैं अर्थात् दस्त साफ होता है। इस प्रकार हरीतकी चार प्रकार से दस्त कराती है। जो मनुष्य चेतकी जाति की हरड के पेड़ की छाया के नीचे पहुंच जाते हैं, उनको उसी समय दस्त आने लगता है। यहां तक कि पशु, पक्षी, मृगादि की भी यही दशा हो जाती है और 'चेतकी' हरड को जब तक प्राणी अपने हाथ में धारण किये रहता है, तब तक उसके प्रभाव से उसे वेग से दस्त होता रहता है, इसमें सन्देह नहीं है। जो राजा हैं तथा सुकुमार या कृश हैं किंवा विरेचक औषध खाने से भागनेवाले हैं, उनके लिये 'चेतकी' हरड परम हितकारी एवं उत्तम होती है। क्योंकि वह सुखपूर्वक दस्त लाती है। पूर्वोक्त सात जातियों में 'विजया' जाति की जो हरीतकी होती है, वही औरों की अपेक्षा प्रधान है क्योंकि सुलभ होने से उसका प्रयोग सुखपूर्वक होता है तथा वह सभी रोगों में देने के लिये भी उत्तम होती है ॥ ११-१८ ॥

अथ हरीतकीगुणानाह

हरीतकी पञ्चरसाऽलवणा तुवरा परम्। रूक्षोष्णा दीपनी मेध्या स्वादुपाका रसायनी॥
चक्षुष्या लघुरायुष्या बृंहणी चानुलोमिनी। श्वासकासप्रमेहार्शः कुष्ठशोथोदरक्रिमीन्॥२०॥
वैस्वर्यग्रहणीरोगविबन्धविषमज्वरान्। गुल्माध्मानतृषाछर्दिहिक्काकण्डूहृदामयान्॥ २१ ॥
कामलां शूलमानाहं प्लीहानञ्च यकृत्तथा। अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रञ्च मूत्राघातञ्च नाशयेत्॥

हरीतकी के गुण—हरड में लवण रस से भिन्न पांच (मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त) रस रहते हैं किन्तु औरों की अपेक्षा कषाय रस ही अधिक रहता है। हरीतकी रूक्ष, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, मेधा (धारणाशक्ति) के लिये हितकारी, मधुर विपाकवाली, रसायन (वृद्धावस्था तथा व्याधियों को दूर करनेवाली), नेत्रों के लिये हितकर, पचने में लघु (जल्दी पचने वाली), आयुवर्धक, बृंहण (शरीर में मांसादि की वृद्धि करने वाली) और अनुलोमन (मलादि को नीचे की ओर प्रेरित करने वाली) होती है। इसके सेवन से श्वास, कास, प्रमेह, बवासीर, कुष्ठ, शोथ, पेट के कृमि (अथवा उदर सम्बन्धी रोग और कृमि), स्वरभेद (आवाज की खराबी), ग्रहणी सम्बन्धी रोग तथा विबन्ध (मलमूत्रादि की विबद्धता अर्थात् रुक जाना), विषमज्वर, गुल्म, उदराध्मान, तृषा, वमन, हिचकी, खुजली, हृद्रोग, कामला, शूल, आनाह, प्लीहा, यकृत, अश्मरी (पथरी), मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात ये सब रोग दूर होते हैं ॥ १९-२२ ॥

अथ हरीतक्याः प्रभावनिबन्धनं दोषहन्तृत्वं न तु रसनिबन्धनमित्याह

स्वादुतिक्तकषायत्वात्पित्तहृत्कफहृत्तु सा। कटुतिक्तकषायत्वादम्लत्वाद्वातहृच्छिवा॥ २३ ॥
पित्तकृत्कटुकाम्लत्वाद्वातकृन्न कथं शिवा॥ २४ ॥
प्रभावाद्दोषहन्तृत्वं सिद्धं यत्तत्प्रकाश्यते। हेतुभिः शिष्यबोधार्थं नापूर्वं क्रियतेऽधुना॥ २५ ॥
कर्मान्यत्वं गुणैः साम्यं दृष्टमाश्रयभेदतः। यतस्ततो नेति चिन्त्यं धात्रीलकुचयोर्यथा॥२६॥

हरीतकी का प्रभाव—हरड़ में मधुर, तिक्त और कषाय रस रहता है, अतएव यह पित्तनाशक और कटु तिक्त तथा कषाय रस होने से कफनाशक है, तथा अम्ल रस होने से वायु का भी शमन करती है। अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि जब हरड़ में कटु तथा अम्ल रस है, तब क्यों नहीं यह पित्त तथा वातकारक होती है? इसका उत्तर यह है कि-यहां पर जो हरड़ तीनों दोषों को दूर करती है वह इसके प्रभाव से ही सिद्ध है किन्तु फिर भी जो ऊपर हेतुओं का निर्देश करते हुये 'दोषों का नाश करना' बताया गया वह शिष्यों को समझाने के लिये, क्योंकि यह (दोषों का नाश करना) कोई अपूर्व बात नहीं कही गई, बल्कि जो कही गई वह उसके प्रभाव से पहले से ही सिद्ध थी। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः हरड़ जो दोषों का नाश करती है वह अपने प्रभाव से ही करती है। फिर जो पूर्व में यह कहा गया है कि—'मधुरादि रस होने से पित्तनाशक,

कटु तिक्तादि रस होने से कफनाशक, एवं अम्ल रस होने से वातनाशक', वह केवल शिष्यों को समझाने के लिये अर्थात् 'इन २ रसों में इन २ दोषों को दूर करने की शक्ति रहती है', शिष्यों को यही बात समझाने के लिये हेतुओं का निर्देश करते हुये हरड़ की त्रिदोषनाशकता बताई गई और जब कि—समान गुणों से युक्त होते हुये भी आश्रय भेद से द्रव्यों के कर्म में भिन्नता देखी जाती है तब हरड़ में स्थित जो कटु तथा अम्ल रस हैं, वह क्यों नहीं पित्त तथा वात को उत्पन्न करता है। इस विषय में हेतु विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है अर्थात् विचार करना व्यर्थ है क्योंकि वह सब बातें प्रभाव से होती हैं न कि रसादि हेतुओं से, अम्ल और कटु रस पित्त वात का जनक होने पर भी आश्रय विशेष में कर्म विशेष करने वाले होते हैं जैसे कि आंवला तथा बड़हर ये दोनों यद्यपि रसादिकों में तुल्य हैं किन्तु फल खाने (गुणों) में तुल्य नहीं हैं। इसी भांति हरड़की त्रिदोषनाशकता के विषय में भी समझना चाहिये ॥ २३–२६ ॥

अथ हरीतक्यां तद्रसादीनां स्थानान्याह

पथ्याया मज्जनि स्वादुः स्नाय्वामम्लो व्यवस्थितः। वृन्ते तिक्तस्त्वचि कटुरस्थिस्थस्तुवरो रसः॥

हरड़ में रसों के रहने के स्थान—हरड़ की मींगी में मधुर रस, रेशों में अम्लरस, वृन्त (ढेपी) में तिक्तरस, छिल्के में कटु रस और गुठली में कषाय रस रहता है ॥ २७ ॥

अथोत्तमहरीतक्या लक्षणान्याह

नवा स्निग्धा घना वृत्तागुर्वी क्षिप्ता च याऽम्भसि। निमज्जेत्सा प्रशस्ता च कथिताऽतिगुणप्रदा ॥
नवादिगुणयुक्तत्वं तथैवात्र द्विकर्षता। हरीतक्याः फले यत्र द्वयं तच्छ्रेष्ठमुच्यते ॥ २९ ॥

उत्तम हरड़ के लक्षण—जो हरड़ नवीन, स्निग्ध, घन (ठोस), गोल और गुरु (वजनदार) हो तथा जल में डालने पर डूब जाय वह उत्तम और अत्यन्त गुणकारी मानी जाती है। जिस हरीतकी के फल में पूर्वोक्त नूतनता आदि सम्पूर्ण गुण हों एवं तौल भी उसका दो कर्ष अर्थात् दो बहेड़े के बराबर हो वह उत्तम कही जाती है ॥ २८–२९ ॥

अथ हरीतक्याः प्रयोगभेदेन फलभेदानाह

चर्विता वर्द्धयत्यग्निं पेषिता मलशोधिनी। स्विन्ना संग्राहिणी पथ्या भृष्टा प्रोक्ता त्रिदोषनुत् ॥
उन्मीलिनी बुद्धिबलेन्द्रियाणां निर्मूलिनी पित्तकफानिलानाम्।
विस्रंसिनी मूत्रशकृन्मलानां हरीतकी स्यात् सह भोजनेन ॥ ३१ ॥
अन्नपानकृतान्दोषान्वातपित्तकफोद्भवान्। हरीतकी हरत्याशु भुक्तस्योपरि योजिता ॥३२॥
लवणेन कफं हन्ति पित्तं हन्ति सशर्करा। घृतेन वातजान् रोगान्सर्वरोगान्गुडान्विता ॥३३॥

हरीतकी के प्रयोग भेद से गुण भेद—हरीतकी यदि चबा कर खाई जाय तो जठराग्नि की वृद्धि करती है, शिला पर पीस कर खाई जाय तो मल शोधन करती है, उबाल कर खाई जाय तो मल रोकती है, भून कर खाई जाय तो त्रिदोष को दूर करती है और भोजन के साथ सेवन करने से बुद्धि, बल तथा इन्द्रियों को विकसित करने वाली, पित्त, कफ तथा वायु को नष्ट करने वाली, एवं मूत्र, विष्ठा तथा मल पदार्थों का विरेचन करने वाली होती है। यदि वही हरीतकी भोजन कर चुकने के बाद ऊपर से खाई जाय तो अन्न तथा पान सम्बन्धी दोषों को एवं वात पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले विकारों को शीघ्र हरने वाली होती है। सेंधा नमक के साथ खाने से कफ, शक्कर के साथ खाने से पित्त, घृत के साथ खाने से वात सम्बन्धी रोग और गुड़ के साथ खाने से समस्त व्याधियों को दूर करने वाली होती है ॥ ३०–३३ ॥

अथ रसायनगुणार्थिनां कृते हरीतकीप्रयोगविधिमाह

सिंधूत्थशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडैः क्रमात्। वर्षादिष्वभया प्राश्या रसायनगुणैषिणा ॥ ३४ ॥

हरीतकी का रासायनिक प्रयोग—जो रसायन के गुणों को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं उन्हें चाहिए कि वे वर्षा आदि छ ऋतुओं में क्रम से सेंधानमक, शक्कर, सोंठ, पीपल, मधु और गुड़ के साथ हरीतकी का सेवन करें, अर्थात् वर्षा ऋतु में सेंधानमक के साथ, शरद ऋतु में शक्कर के साथ, हेमन्त ऋतु में सोंठ के साथ, शिशिर ऋतु में पीपल के साथ, वसन्त ऋतु में मधु के साथ, एवं ग्रीष्म ऋतु में गुड़ के साथ हरीतकी सेवन करने से रसायन के फल की प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

अथ हरीतकी भक्षणानर्हजनानाह

अध्वातिखिन्नो बलवर्जितश्च रूक्षः कृशो लङ्घनकर्शितश्च।
पित्ताधिको गर्भवती च नारी विमुक्तरक्तस्त्वभयां न खादेत् ॥ ३५ ॥

हरीतकी सेवन करने के अयोग्य व्यक्ति—रास्ता चलने से थके हुए, बल रहित, रूक्ष, कृश, उपवास किए, अधिक पित्तवाले व्यक्ति तथा गर्भवती स्त्री एवं जिसे रक्तमोक्षण कराया गया हो उन सबों को हरीतकी का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

१ हरीतकी

हि०–हर, हरड, हर्रे, हरे, हड़, हड़े, हरैं, हरर। **बं०**–हरीतकी, बालहरीतकी, हरीतकी गाछ, नर्रा। **म०**–हरडा, हिरडा, हरडे, हर्त्तकी, हरडी, बालहरडी। **गु०**–हरडे, हिमज। **ते०**–करकचेट्टु, करकाप्प, करकाय। **ता०**–कडुक्काय, करकैया, कडुकेमरम। **क०**–अणिलेय, अणिले, अनिलैकाय। **उड़ि०**–करंथा, हरिडा करेड़ा। **द०**–हलरा, कलरा। **मा०**–हरडे। **प०**–हड, हरड। **आसा०**–हिलिखा, सिलिका। **लिपचा०**–सिलिम। **सिक्कम०**–हन, सिलिमकंग, सिलिम-कुंग। **मैसूर**–अलले। **कच्छार**–होरतकी। **फा०**–हलेलज अस्फर, हलेले जर्द, हलैलाह, हलेलह जर्द। **अ०**–अहलीलज़, एहलीलज़–कावली, अहलीलज़ अस्फर, अहलीलज़, अस्वद, हलेलज़ अस्फर। **अं०**–Myrobalans (माईरोबेलन्स), Chebulic Myrobalans (चेब्यूलिक माइरोबेलन्स)। **ले०**–(१) Terminalia chebula Retz (टर्मिनेलिया चेब्युला)। (२) Terminalia citrina Roxb (टर्मिनेलिया सिट्रिना)। Fam. Combretaceae (कॉम्ब्रिटेसी)।

हरीतकी—अत्यन्त सुगमता से सर्वत्र प्राप्त होने वाली किन्तु विविध गुण सम्पन्न औषधि का फल है। इसका वृक्ष हमारे देश के प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है। यह उत्तर भारत में बहुलता से उत्पन्न होती है। कुमाऊँ से बंगाल तक, आसाम, ब्रह्मा तथा दक्षिण में मद्रास प्रान्त, कोयम्बटूर, कनारा, पश्चिमघाट के पूर्वीय प्रान्तों में, गञ्जाम, गोदावरी की तलहटी, सतपुरा पहाड़, गुजरात, बम्बई प्रान्त के घाटों के पास ऊँचे जंगलों में, कोंकण, मलाबार, विन्ध्याचल पहाड़, हिमालय पहाड़ एवं काबुल की ओर इसकेवृ क्ष अधिकता से देखने में आते हैं। इसका वाटिकाओं में भी रोपण करते हैं।

प्रायः इसका वृक्ष मध्यमाकार का होता है किन्तु कहीं कहीं बड़े बड़े वृक्ष भी देखने में आते हैं। नर्मदा के दक्षिण के वृक्ष १०० फ़ीट तक ऊँचे होते हैं किन्तु उत्तर भारत में उत्पन्न हुए वृक्ष इतने बड़े नहीं होते। हरीतकी के वृक्ष वट, पीपल, आदि वृक्षों की तरह दीर्घायु नहीं होते हैं, बल्कि कालान्तर में सूख कर गिर जाया करते हैं। इसकी छाल कालापन युक्त भूरे रंग की चौथाई इञ्च तक मोटी होती है। लकड़ी पक्की और बहुत मज़बूत होती हैं। इमारत के काम के लिये

अच्छी समझी जाती है। यह किञ्चित् हरापन या पीलापन युक्त भूरे रंग के साथ खाकी रंग की होती है। टहनियों पर पत्ते सघन नहीं रहते, बल्कि न्यूनाधिक विपरीत रहते हैं। पत्ते-अडूसे के पत्तों से कुछ चौड़े महुवे के पत्तों के समान, ४ से ८ इञ्च तक लम्बे, किञ्चित् अंडाकार, नोकदार, सफेदी युक्त हरे और चमकदार होते हैं तथा स्पर्श में खुरदरे जान पड़ते हैं। वृन्त-१ इंच से कम एवं उसके अग्र भाग के ऊपरी पृष्ठ पर दो या अधिक सूक्ष्म ग्रन्थियां पाई जाती हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिर कर नवीन पत्ते निकल आते हैं। फूल-बारीक आम की मंजरी के समान दिखाई देते हैं। और वे देखने में सफेदी मायल या कुछ पीले रंग के होते हैं तथा उनमें दुर्गन्ध आती है। फल-किञ्चित् लम्बाई युक्त गोलाकार होते हैं, सूखते सूखते छिलके सिकुड़ जाते हैं और पांच कोणाकार या पांच रेखा युक्त दिखाई देने लगते हैं। शकल सूरत, आकार और डील डौल एवं छोटे बड़े, लम्बे, गोल इत्यादि भेदों से फल कई प्रकार के देखने में आते हैं।

पूर्व बंगाल, आसाम और ब्रह्मा में एक अन्य जाति पाई जाती है जिसे लेटिन में Terminalia citrina Roxb. (टर्मिनेलिया सिट्रिना) कहते हैं। इसका वृक्ष ८० फीट तक ऊँचा होता है। इसके फल २ इंच तक लम्बे होते हैं।

हरीतकी के फल पूर्ण पकने तक वृक्ष में बहुत कम ठहरते हैं। प्रायः कच्ची अवस्था में ही गिर जाया करते हैं। पका फल उत्तम समझा जाता है। उत्तम फल वह है जो नया हो, और चिकना, गोल, भारी, तौल में कम से कम १॥ तोले से भी अधिक हो तथा पानी में डालने से डूब जाय। अपक्व अवस्था के छोटे, काले, द्राक्ष के समान फल मिलते हैं। यह बड़े हर्रे की अपेक्षा बहुत छोटे होते हैं। इन्हें हिन्दी में जंगी हरड़ एवं मराठी में बालहिरडा कहा जाता है। इनका स्वाद अधिक कसैला तथा कडुआ होता है।

किसी किसी वाटिका में हरीतकी का वृक्ष नमूने की तरह देखने में आता है। वर्षा ऋतु में हरीतकी के छिलके को सुगमता से दूर कर गुठलियों को भूमि पर फेंक देने से ही कोई कोई बीज अङ्कुरित होकर पौधे के रूप में बढ़ते हैं। पतझड़ में पुराने पत्ते गिर जाने से चैत के महीने में प्रायः इसके पौधे सूखे से दिखाई देते हैं। उस समय से ज्येष्ठ तक पौधों को पानी से कभी कभी सींचना होता है। बरसात का पानी पड़ने पर नवीन पत्ते निकल आते हैं और पौधे हरे भरे हो जाते हैं। उसी समय उनको उठाकर स्थायी रूप से इष्ट जगह पर रोपण करना चाहिये। बरसात का पानी जमा होकर जहां पर तर मिट्टी जमा होती है उस जगह पर रोपण किया हुआ पौधा सतेज होता है। साधारण वृक्षों की तरह परिचर्या करने से ही इसके वृक्ष तैयार हो जाते हैं।

आयुर्वेद में हरीतकी की जो सात जातियां कही गई हैं उनके आकार तथा रङ्ग रूप और गुण भी भिन्न भिन्न होते हैं। आयुर्वेद में प्रत्येक जाति की हरड के गुणों का वर्णन बहुत ही विचार-पूर्वक किया गया है, परन्तु आजकल के पाश्चात्य विद्वान् लोग केवल दो ही प्रकार की हरीतकी को ग्राह्य मानते हैं। शेष जाति की हरीतकियों में यद्यपि प्रकार भेद मानते हैं, परन्तु गुणों में कुछ भेद नहीं मानते। इस संबंध में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।

रासायनिक संगठन—पक्व हरीतकी में करीब ३० प्रतिशत कसैला द्रव्य होता है जो चेब्यूलीनिक एसिड के कारण है। इसके अतिरिक्त टैनिक एसिड २०-४० प्रतिशत, गैलिक एसिड, राल आदि द्रव्य हैं। इसका विरेचक द्रव्य एन्थ्राकिनोन के समान है। बालहरड़ में एक हरे रंग की तैलीय राल मिलती है जिसे कभी कभी माइरोबेलानिन् कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—हरीतकी श्रेष्ठ मृदु विरेचक द्रव्य है। इससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती। शरीर की सभी क्रियाएं इसके सेवन से सुधरती हैं। इसका उपयोग जीर्ण ज्वर, अतिसार,

रक्तातिसार, अर्श, नेत्र रोग, अजीर्ण, प्रमेह, पाण्डु आदि में लाभकर होता है। जीर्ण कास, अर्श आदि में अगस्त्य हरीतकी एवं व्याघ्री हरीतकी आदि योगों के रूप में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

हरीतकी अच्छा व्रण रोपक है। मुखव्रण, पुराने घावों तथा अर्श में इसका लेप लाभप्रद है। दंत मञ्जन के लिये इसका महीन चूर्ण उपयोगी है।

बाल हरीतकी—यह मृदु विरेचक है। जीर्ण विबन्ध एवं अर्श में इसका अच्छा उपयोग होता है।

मात्रा—चूर्ण २ से ४ माशा।

अथ विभीतकस्य नामानि गुणाँश्चाह

विभीतकस्त्रिलिङ्गः स्यादक्षः[1] कर्षफलस्तु सः। कलिद्रुमो भूतवासस्तथा कलियुगालयः।
विभीतकं स्वादुपाकं कषायं कफपित्तनुत्। उष्णवीर्यं हिमस्पर्शं भेदनं कासनाशनम् ॥३६॥
रूक्षं नेत्रहितं केश्यं कृमिवैस्वर्यनाशनम्। विभीतमज्जातृट्छर्दिकफवातहरी लघुः ॥
कषायो मदकृच्चाथ धात्रीमज्जाऽपि तद्गुणः ॥ ३७ ॥

बहेड़े के नाम तथा गुण—विभीतक, (यह शब्द तीनों लिङ्गों में होता है), अक्ष, कर्षफल, कलिद्रुम, भूतवास और कलियुगालय ये सब संस्कृत नाम बहेड़े के हैं। **बहेड़ा**—मधुर विपाकवाला, कषाय रसयुक्त, कफ व पित्त का नाशक, उष्णवीर्यवाला, शीतस्पर्श वाला, मल का भेदन करने वाला, कास का नाशक, रूक्ष, नेत्र तथा बालों के लिये हितकर, कृमि तथा स्वरभेद को दूर करने वाला होता है। **बहेड़े की मींगी**—प्यास, वमन और कफ एवं वायु का नाश करने वाली, लघुपाकी, कषाय रस युक्त और मदकारक होती है। इसी भांति आंवले की मींगी के भी ये ही सब गुण हैं ॥ ३५-३७ ॥

२ बहेड़ा

हि०-बहेड़ा, फिनास, भैरा, बहेरा। **बं०**-बयड़ा, बोहेरा, बेहरी, बेहेड़ा। **म०**-बेहड़ा, बेहाड़ा, धाटींग, बहेला, बहड़ा। **गु०**-बेहेड़ा, बेड़ा। **क०**-तोड़े, तोरै, तारेकायि। **ते०**—तडिचेट्टु, बला, ताड़ि, तनिकाय, तनि, तन्द्रा, तोन्द्री। **ता०**-अक्कम, तन्री, तनितांडी, तोअण्डी, तोखांडी, तंरिकय, तनी, कट्टुएलुपय। **मा०**-बहेड़ा। **प०**-बहेड़ा। **मु०**-बहेड़ा। **फा०**-बलेले, बलेला, बलैलाह। **अ०**-बलेलज़। **अं०**-Beleric Myrobalans; (बेलेरिक् मैरोबेलन्स्)। Beddanut (बेड्डानट)। **ले०**-Terminalia belerica Roxb. (टर्मिनेलिया बेलेरिका)। Fam. Combretaceae (कॉम्ब्रिटेसी)।

हमारे देश के प्रायः सब प्रान्तों में बहेड़े का वृक्ष देखने में आता है, विशेष कर नीची पहाड़ियों पर अधिक पाया जाता है। यह जंगल, पहाड़ तथा ऊँची भूमि में उत्पन्न होता है।

वृक्ष—बहुत विशाल हुआ करता है। ऊँचाई ६० से १०० फीट तक होती है। स्तम्भ-मोटा, सीधा, खड़ा, गोलाकार होता है। छाल-आधाइञ्च तक मोटी, कालापन युक्त या नीलापन युक्त खाकी रंगकी होती है। लकड़ी-हल्की खाकी या किञ्चित् पीलापन युक्त होती है। शाखायें-प्रायः ६ से १० फीट लम्बी होती हैं किन्तु कभी कभी २० फीट लम्बी शाखायें भी देखने में आती हैं। **पत्ते**—महुवे के पत्तों के समान ३ से ८ इञ्च तक लम्बे तथा २-३ इञ्च चौड़े होते हैं। ये विषमवर्ती प्रायः छोटी छोटी टहनियों के अन्त में सघन रहते हैं। प्रायः पतझड़ में इसके सब पत्ते गिर जाते हैं और चैत तक नवीन पत्ते निकल आते हैं। **फूल**—३ से ६ इञ्च तक लम्बी सींकों पर नन्हें फूलों की

१. 'स्यान्नाक्षः' इति पाठा०।

मञ्जरियां आती हैं। ये मैले खाकी या फीके हरे रंग के होते हैं। **फल**—एक इञ्च लम्बा, गोल और अण्डाकार होता है।

पतझड़ में जब इसके पुराने पत्ते गिर जाते हैं और नवीन पत्ते आते रहते हैं, प्रायः उसी समय फूल भी आते हैं। शीतकाल के प्रारम्भ में उस पर फल लग जाते हैं और अगहन-पूस तक पक जाते हैं। वृक्ष से बबूल के गोंद के समान एक प्रकार का गोंद निकलता है। फलों की मींगी से तेल निकाला जाता है।

किसी किसी वाटिकामें बहेड़ेका वृक्ष देखने में आता है। वर्षा के प्रारम्भ में छिलके रहित गुठलियों को भूमि पर फेंक देने से ही वे अङ्कुरित हो पौधे के रूप में परिणत होती हैं। इसकी परिचर्या हरीतकी के पौधों के समान करनी चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसके फल में १७% टैनिन द्रव्य रहता है तथा इसकी मींगी में २५% तक हलके पीले रंग का तैल रहता है। इसके अतिरिक्त राल, सैपोनिन आदि द्रव्य रहते हैं।

गुण और प्रयोग—बहेड़े का विशेष उपयोग त्रिफले के रूप में होता है। इसका अर्ध पक फल विरेचक और पूरा पका हुआ या सूखा फल संकोचक माना जाता है। इसका उपयोग खांसी, गले के रोग, स्वरभंग, ज्वर, उदर, प्लीहावृद्धि, अर्श, अतिसार, कुष्ठ आदि रोगों में होता है। यह मस्तिष्क के लिये बल्य है। नेत्र पर इसका लेप लाभकारी है।

इसकी मज्जा वेदनास्थापक, शोथघ्न और कुछ मदकारी है। मज्जा का तेल बालों के लिये अत्यन्त पौष्टिक, रंजक एवं कण्डूघ्न और दाहशामक है। मज्जा अथवा छिलके को भून कर मुख में रखने से खांसी में बहुत लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण ३-९ माशा।

अथामलक्या नामानि गुणाँश्चाह

वयस्यामलकी वृष्या जातीफलरसं शिवम्। धात्रीफलं श्रीफलं च तथामृतफलं स्मृतम्॥
त्रिष्वामलकमाख्यातं धात्री तिष्यफलाऽमृता॥ ३८॥
हरीतकीसमं धात्रीफलं किन्तु विशेषतः। रक्तपित्तप्रमेहघ्नं परं वृष्यं रसायनम्॥ ३९॥
हन्ति वातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्यशैत्यतः। कफं रूक्षकषायत्वात्फलं धात्र्यास्त्रिदोषजित्॥४०॥
यस्य यस्य फलस्येह वीर्यं भवति यादृशम्। तस्य तस्यैव वीर्य्येण मज्जानमपि निर्दिशेत्॥४१॥

आंवले के नाम तथा गुण—वयस्या, आमलकी, वृष्या, जातीफलरसा, शिव, धात्रीफल, श्रीफल और अमृत फल ये सब आंवले के नाम हैं। आमलक (यह शब्द तीनों लिङ्गों में होता है), धात्री, तिष्यफला, अमृता ये भी आंवले के संस्कृत नाम हैं। हरड़ के जो २ गुण हैं, वे ही आंवले के भी हैं। किन्तु विशेष यह है कि—यह रक्तपित्त तथा प्रमेह का नाशक है और अत्यन्त वृष्य (वीर्य के लिये हितकर) एवं रसायन है। **आमला**—अम्ल रस युक्त होने से वायु को तथा मधुर रस युक्त और शीतल होने से पित्त को दूर करता है और रूक्ष तथा कषाय रस युक्त होने से कफ को दूर करता है। अतएव यह त्रिदोशनाशक है। यहां सर्वत्र यह समझना चाहिये कि जिन २ फलों का गुण जैसा उष्ण या शीतवीर्य हो उन २ फलों की मींगी का भी गुण वैसा ही उष्ण या शीतवीर्य होता है ३८-४१॥

३ आमला

हि०-आमला, आँवला, आंवडा, आंवरा, औंड़ा, औरा। **बं०**-आमला, आमरो, अमला, आमलकी। **म०**-आवले, आवली, आवलकाठी। **पं०**-आमला, अम्बुल, अम्बलो। **मा०**-आंवला। **गु०**-आंवला,

आमलां, आमली। **क०**-नेल्लि, नेल्लिकायि। **ते०**-उसरिकाय, उसरिक। **उ०**-अण्डा। **आसा०**-अमला, आमलकी। **गारो०**-अम्बरी। **ता०**-नेल्लिमरं, नेल्लिकाय। **ब्रह्मा०**-शब्जु, जिफियूसी। **फा०**-आमलज, आमलज् आमलय, आमलह, आमलाह्, आम्लझ। **अ०**-आमलज्ज। **अं०**-Emblic Myrobalan (एम्लिक् मैरोबेलन्); Indian gooseberry (इन्डियन गूसबेरी)। **ले०**-Phyllanthus emblica Linn. (फाइलेन्थस एम्लिका); Emblica officinalis Gaertn. (एम्लिका ऑफिसेनेलिस्)। Fam. Euphorbiaceae (यूफर्बियेसी)।

आमला भारतवर्षके प्रायः सब उष्ण प्रदेशों में बागी और जंगली दोनों प्रकार का पाया जाता है। विशेष कर उत्तर भारत, अवध, विहार और पूर्वी देशों में इसकी उपज अधिक है। हिमालय पहाड़ के नीचे जम्बू से पूर्व की ओर तथा दक्षिण की ओर सिलोन तक उत्पन्न होता है। तथा चीन एवं मलयद्वीप में भी मिलता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का सुहावना होता है, किन्तु जंगली वृक्ष ऊँचे कद का बड़ा होता है। छाल-चौथाई इञ्च मोटी हलके खाकी रङ्गकी एवं छिलकेदार होती है। लकड़ी-लाल रङ्गकी और मजबूत होती है। इसमें सार भाग नहीं होता है। **पत्ते**-छोटे २ इमली के पत्तों के समान और **फूल**-राई के दानों के समान हरापन युक्त पीले रङ्ग के गुच्छों में शाखाओं से सटे रहते हैं। वसन्त ऋतु में जब इसके पुराने पत्ते झड़ जाते हैं तब वृक्ष पत्रशून्य दिखाई पड़ता है। उसी समय यह फूलता है और नवीन पत्ते निकलते हैं। फूलों में नीबू के फूल के समान मन्द सुगन्ध आती है। **फल**-डालियों में सटे हुये दिखाई देते हैं। वे गोल चमकदार और छ रेखाओं से युक्त होते हैं। कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर हरापन युक्त किञ्चित् पीले या सुर्ख और सूखने पर काले रङ्ग के होकर फांके पृथक् २ हो जाती हैं और साथ ही गुठली भी फट जाती है। उनसे त्रिकोणाकार छोटे २ बीज निकलते हैं। बीजों से तेल निकलता है।

बीज से ही इसके पौधे उत्पन्न होते हैं और थोड़े ही यत्न से साधारण वृक्षों की भांति प्रायः दुमट मिट्टी में इसके वृक्ष सतेज होते हैं। प्रायः वाटिकाओं में कलमी आमले के वृक्ष रोपित किये जाते हैं। जङ्गली के फल एक तोले तक और बागी कलमी आंवले के पांच तोले से अधिक भी देखने में आते हैं। बनारसी आंवले सर्वोत्तम समझे जाते हैं। किन्तु जितने आंवलों की यहां खपत होती है उतने उत्पन्न नहीं होते। खटिक लोग दूसरी जगह से मँगाकर बेचते हैं। पके फल बहुत कम मिलते हैं। प्रायः कच्ची अवस्था में ही तोड़कर बेंच लेते हैं।

रासायनिक संगठन—रासायनिक दृष्टि से इसके टैनिन में गैलिक एसिड, एलाइगिक एसिड और ग्लुकोज होता है। इसमें विटामिन 'सी' तथा पेक्टिन बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है। 'विटामिन सी' की मात्रा १०० ग्रा० में ६००-९२१ मि० ग्रा० तक पाई जाती है। आंवला के सूखे चूर्ण में भी 'विटामिन सी' पर्याप्त मात्रा में होती है क्योंकि इसके अन्दर का टैनिन 'सी' को नष्ट नहीं होने देता।

गुण और प्रयोग—आंवला एक अत्यंत महत्त्व की औषधि है। इसका बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। इसका ताजा फल रसायन, वृष्य, रक्तपित्त को दूर करने वाला, शीतल, मृदु विरेचक, मूत्रल एवं यकृत की क्रिया ठीक करने वाला है। इसका सूखा फल ग्राही, शीतल, दीपन, एवं रक्तस्रावरोधक है।

रसायन के लिये एक विशिष्ट प्रकार की विधि से सेवन करने का विधान चरक में किया गया है। ताजे सूखे आंवले के चूर्ण को लेकर उसको ताजे आंवले के रस की भावना देकर सुखाना चाहिए। यह जितनी अधिक बार दी जायेगी उतना ही गुणकारक होगा। कम से कम २१ भावना

देकर सुखाकर रखना चाहिये। इस चूर्ण की ३ से ६ माशा की मात्रा गोघृत तथा मधु (असमान मात्रा) के साथ दिन में दो बार लेनी चाहिये। इसी प्रकार च्यवनप्राश का भी उपयोग किया जा सकता है। इसके सेवन से शरीर की सभी क्रियाएँ सुधरकर शरीर पुष्ट एवं बलवान् बनता है। स्मृति, मेधा, कांति बढ़ती है। श्वास, कास, क्षय, पांडु, अग्निमान्द्य, वीर्य दोष, आदि दूर होते हैं। आंवला एवं हलदी का क्वाथ बस्तिशोथ एवं पित्त प्रकोपजन्य व्याधि में उपयोगी है। आंवले का रस मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, पित्तजशूल, कामला, हिक्का, वमन, जीर्ण विबन्ध में मिश्री मिलाकर शर्वत के रूप में बहुत लाभदायक है। प्रशीताद (Scurvy) रोग में भी यह बहुत उपयोगी है। आंवले का चूर्ण अर्श, अतिसार, संग्रहणी, अत्यार्तव एवं प्रतिश्याय में उपयोगी है।

पेड़ पर ही लगे हुये आंवलों को चीरने से जो रस निकलता है उससे आंख धोने से अक्षिशोथ दूर होता है। उसी प्रकार इसके बीजों की मींगी के क्वाथ से आंख धोने से आंखों का दर्द दूर होता है। अक्षिप्रक्षालन के लिये रातभर जल में भिगोये आंवले के चूर्ण का पानी भी उपयोगी है। लोह भस्म के साथ आंवले का उपयोग पाण्डु, कामला में विशेष लाभकर होता है।

आंवले के पत्तों का क्वाथ मुख व्रण में लाभदायी है। इसके कोमल पत्तों को छाछ के साथ देने से अजीर्ण और अतिसार में लाभ होता है।

आंवले का बस्तिप्रदेश पर लेप मूत्रावरोध में, एवं गर्भाशय मुख पर रक्त प्रदर में उपयोगी है। आंवले का विशेष उपयोग च्यवनप्राश, आमलकीरसायन, त्रिफला एवं धात्री लौह में किया गया है। **मात्रा**—चूर्ण ३ माशे से १ तोला तक।

अथ त्रिफलाया लक्षणनामगुणानाह

पथ्याबिभीतधात्रीणां फलैः स्यात्त्रिफला समैः। फलत्रिकञ्च त्रिफला सा वरा च प्रकीर्तिता॥
त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठहरा सरा। चक्षुष्या दीपनी रुच्या विषमज्वरनाशिनी॥ ४३॥

त्रिफला के लक्षण, नाम तथा गुण—हरड, बहेड़ा और आंवला इन तीनों के फल यदि समान भाग से एकत्र किये जायं तो यही त्रिफला कहलाता है। इसके फलत्रिक और वरा ये भी नामान्तर हैं। **त्रिफला**—कफ तथा पित्त को नाश करनेवाली एवं प्रमेह व कुष्ठ को दूर करनेवाली, दस्तावर, नेत्रों के लिये हितकर, अग्निदीपक, रुचिकारक एवं विषम ज्वर को नाश करने वाली होती है॥

त्रिफला

आजकल विद्वान् यद्यपि हरड, बहेड़ा और आँवला-इन तीनों को एक साथ मिलाकर त्रिफला मानते हैं तोभी इनके सम भाग होने में मत भेद है। कोई एक भाग हरड, दो भाग बहेड़ा और तीन भाग आंवला एवं कोई एक भाग हरड, दो भाग बहेड़ा और चार भाग आंवला को त्रिफला कहते हैं। एक हरड़, दो बहेड़े और चार आंवले को भी बहुत लोग त्रिफला मानते हैं। उसी प्रकार एक हरड़ से एक भाग हरड, दो बहेड़ा से दो भाग बहेड़ा और चार आंवले से चार भाग आंवले समझते हैं किन्तु यदि एक हरड, दो बहेड़े और चार आंवले (बनारसी बड़े आंवले से भिन्न) लिये जायं तो ये प्रायः समभाग ही होते हैं।

अथ शुण्ठ्यानामानि गुणाँश्चाह

शुण्ठी विश्वा च विश्वञ्च नागरं विश्वभेषजम्। ऊषणं कटुभद्रञ्च शृङ्गवेरं महौषधम्॥ ४४॥
शुण्ठी रुच्यामवातघ्नी पाचनी कटुका लघुः। स्निग्धोष्णा मधुरा पाके कफवातविबन्धनुत्॥

वृष्या [1]स्वर्यावमिश्वासशूलकासहृदामयान्। हन्ति श्लीपदशोथार्शं आनाहोदरमारुतान्॥
आग्नेयगुणभूयिष्ठात्[2] तोयांशपरिशोषि यत्। संगृह्णाति मलं तत्तु ग्राहि शुण्ठ्यादयो यथा॥
विबन्धभेदिनी या तु सा कथं ग्राहिणी भवेत्। शक्तिर्विबन्धभेदे स्याद्यतो न मलपातने॥

सोंठ के नाम तथा गुण—शुण्ठी, विश्वा, विश्व, नागर, विश्वभेषज, ऊषण, कटुभद्र, शृङ्गवेर और महौषध ये सब संस्कृत नाम सोंठ के हैं। **सोंठ**—रुचिकारक, आमवातनाशक, पाचक, कटुरस युक्त, लघुपाकी, स्निग्ध, उष्णवीर्य, विपाक में मधुर रस युक्त, कफ, वात और विबन्ध (विबद्धता) को दूर करने वाली, वृष्य, स्वर के लिये हितकारी, वमन, श्वास, शूल, कास, हृद्रोग, श्लीपद, शोथ, बवासीर, आनाह और उदर की वायु इन सबों को दूर करती है और जो द्रव्य अधिकतर अग्नि सम्बन्धी गुणों से युक्त होने से जलीय अंश को सूखाने वाला तथा मल का संग्राहक अर्थात् पतले मल के जलीय भाग को सुखाकर गाढ़ा करने वाला होता है वह 'ग्राही' कहलाता है, जैसे कि—सोंठ आदि। अब यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि—जो सोंठ विबन्ध (बँधे हुये मल) का भेदन करने वाली होती है वह कैसे ग्राही होगी? क्योंकि अभी अपने ग्राही द्रव्य का 'मल को गाढ़ा करना' लक्षण बतलाया है। इसका उत्तर यह है कि—इस द्रव्य का यह प्रभाव है कि—यह विबंध (मलबद्धता) के दूर करने में तो समर्थ होती है, किन्तु मल के गिराने में नहीं होती है क्योंकि आश्रय भेद से द्रव्यों के कर्मों में भी प्रभाववश भिन्नता हो ही जाती है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है॥ ४४-४८॥

४ सोंठ

हि०–सोंठ, सौठं, सूंठ, सिंघी। **बं०**–शुंठ्र, शुण्ठि, सुंट। **मा०**–सूंठ। **सिंहली०**–वेलिच इगुरु। **गु०**–शुंठ्य, सुंठ, सूंठ। **क०**–शुंठि, शोंठि, ओणसुठि, वेनंशुठी। **ते०**–शोंठी, सोंटी, सोंटि। **ता०**–शुक्कु। **पं०**–सुंढ। **मला०**–चुक्क। **ब्रह्मी०**–गिन्सीखियाव। **फा०**–जञ्जबील, जञ्जबीलखुश्क। **अ०**–जञ्जबीले आबिस। **अं०**–Dry Zingiber (ड्राइजिंजिबेर) Ginger (जिंजर)। **ले०**–Zingiber officinale Roscoe (जिंजिबेर ऑफिसिनेल)। Fam. Zingiberaceae (जिंजिबेरेसी)।

सुखाई आदी को सोंठ कहते हैं। सुखाने की विधि के अनुसार इसके स्वरूप में अंतर पाया जाता है। आदी को खूब स्वच्छ कर पानी या दूध में उबाल कर सुखाते हैं। प्रायः सोंठ दो प्रकार की होती है एक रक्ताभ भूरी और दूसरी सफेद। चूने के साथ शोधन करने से यह सफेद तथा टिकाऊ हो जाती है। जिनमें रेशे बहुत कम होते हैं, वह अच्छी समझी जाती है।

रासायनिक संगठन—सोंठ में १-३% उडन शील तैल रहता है। जिंजेरोल तथा शोगोल नामक इसमें कटु द्रव्य हैं। इसके अतिरिक्त इसमें रेजिन तथा स्टार्च रहता है। अच्छी सोंठ में राख ६% से अधिक नहीं रहती जिसमें से जल में घुलनशील राख की मात्रा १.७% से कम न होनी चाहिये। इसमें मद्यसार में घुलनशील सत्व ४.५% से कम तथा जल में घुलनशील सत्व १०% से कम न होना चाहिये।

गुण और प्रयोग—सोंठ यह अनेक रोगों में अन्य औषधियों के साथ उपयोग में आती है। सोंठ, मिरिच और पीपल तीनों मिलकर त्रिकटु कहलाती हैं जिसका बहुत व्यवहार होता है। सोंठ यह एक उत्तम पाचक. कफघ्न, वातहर एवं उत्तेजक सुगन्धित द्रव्य है। इससे उदरगत वायु

१. 'सर्व्ये'ति पाठा०। २. 'भूयिष्ठमि'ति पाठा०।

के कारण होने वाले उदरशूल, हृच्छूल में लाभ होता है। इसके सेवन से पाचन क्रिया ठीक होकर उदर में वायु का सञ्चय नहीं होता। जीर्ण सन्धिवात में विशेषतः वृद्धों में इसके फांट का नित्य रात में प्रयोग लाभकारी होता है। यह उष्ण एवं वातहर होने से किसी भी प्रकार की पीड़ा में लाभकारी है। गरम जल में सोंठ के चूर्ण का लेप शिरःशूल, वातनाड़ीशूल, एवं दन्तशूल में उपयोगी है। पसीना अधिक होकर हाथ और पैरों में शीत आने पर इसके चूर्ण को रगड़ने से रक्ताभिसरण की क्रिया ठीक होकर शीत दूर होता है।

यह कफघ्न होने के कारण इसका प्रयोग श्वास, कास, प्रतिश्याय, गले के रोग, स्वरभङ्ग इत्यादि में किया जाता है। इसके लिये इसका फांट बना कर लेना चाहिये। आमदोष दूर करने के लिये सोंठ के चूर्ण को घी के साथ रेंड के पत्तों में लपेट कर अग्नि में पुटपाक करना चाहिये और फिर इस चूर्ण को मिश्री के साथ सुबह लेना चाहिये। इससे आमातिसारजन्य शूल दूर होता है।

गुड़ के साथ सोंठ का उपयोग अर्श, अजीर्ण, अतिसार, गुल्म, शोथ, प्रमेह, कामला आदि में किया जाता है। बल्य औषधियों के साथ सोंठ का उपयोग क्षतक्षीण एवं दुर्बल रोगियों के लिये उपयोगी है। विरेचक औषधियों के साथ सोंठ लेने से ह्रास, पेट में मरोड़ या ऐंठन नहीं होती।

मात्रा—चूर्ण २ से ८ रत्ती।

अथार्द्रकस्य नामानि गुणाँश्चाह

आर्द्रकं शृङ्गवेरं स्यात्कटुभद्रं तथाऽऽर्द्रिका। आर्द्रिका भेदिनी गुर्वी तीक्ष्णोष्णा दीपनी मता॥
कटुका मधुरा पाके रूक्षा वातकफापहा।
ये गुणाः कथिताः शुण्ठ्यास्तेऽपि सन्त्यार्द्रकेऽखिलाः॥ ५० ॥
भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्। अग्निसन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम्॥५१॥
कुष्ठपाण्ड्वामये कृच्छ्रे रक्तपित्ते व्रणे ज्वरे। दाहे निदाघशरदोर्नैव पूजितमार्द्रकम्॥ ५२ ॥

अदरख के नाम तथा गुण—आर्द्रक, शृङ्गवेर, कटुभद्र और आर्द्रिका ये संस्कृत नाम अदरख के हैं। **अदरख**—मल को भेदन करने वाली, पाक में गुरु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, कटुरसयुक्त, विपाक में मधुर रसयुक्त, रूक्ष, वात तथा कफ को नष्ट करने वाली होती है और जितने गुण पूर्व में सोंठ के कह आये हैं, सभी गुण अदरख में भी रहते हैं और भोजन करने के प्रथम सर्वदा सेंधा नमक के साथ अदरख खाना हितकारी होता है। क्योंकि यह अग्नि को दीप्त करने वाला, रुचिकारक, जिह्वा तथा कण्ठ का शोधन करने वाला होता है। कुष्ठ, पाण्डुरोग, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, व्रण, ज्वर, दाह इन रोगों में एवं ग्रीष्म तथा शरद् ऋतुओं में अदरख खाना हितकर नहीं है॥ ४९-५२ ॥

५ अदरख

हि०-अदरख, आदी। **बं०**-आदा। **पं०**-अदरक, अद, अद्रक, आदा। **म०**-आले। **ते०**-अल्लं, अल्लमू। **ब्रह्मी०**-ख्येन, सेङ्ग, गिनसिन। **गु०**-आदु। **क०**-अल्ल, असिशोंठि, हसीसुण्ठी। **मा०**-आदो। **ता०**-शुक, इञ्जि। **मल०**-इञ्चि। **सिंहली०**-अमुइङ्गुरु। **फा०**-अजीबीले तर। **अ०**-जंजबीले रतब। **अं०**-Ginger root (जिञ्जर रूट)। **लै०**-Zingiber officinale (जिंजिबेर ऑफिसिनेल)।

भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में अदरक की खेती की जाती है।

अदरक का **पौधा** प्रायः एक हाथ ऊँचा होता है। इसके पत्ते बांस के पत्तों के समान पर उनसे कुछ छोटे होते हैं। इसकी जड़ में जो कन्द होता है, उसीको अदरक कहते हैं। इसका फूल, फल-

बहुत कम देखने में आता है। किसी २ पुराने पौधे पर फूल आते हैं। फूलों का रङ्ग जामुनी रङ्ग का होता है।

अदरक रेतीली भूमि में गोबर की खाद डाली हुई दुमट मिट्टी में अधिक उत्पन्न होती है। इसके लिये पर्याप्त वर्षा की आवश्यकता रहती है।

गुण और प्रयोग—आर्द्रक के रस का उपयोग शहद के साथ विशेष कर श्वास, कास आदि कफ रोगों में अनुपान के लिये किया जाता है। भोजन के पूर्व सेंधानमक और आदी के सेवन से भूख बढ़ती है, जिह्वा एवं कण्ठ की शुद्धि होकर अन्न में रुचि भी बढ़ती है। आर्द्रक रस और प्याज का रस १, १ तोला लेने से उल्टी और जी मिचलाना दूर होता है।

मलाबार में जलोदर रोग में इसका रस, तीव्र मूत्रनिःसारक रूप में दिया जाता है। इसकी मात्रा धीरे २ बढ़ाई जाती है जिससे मूत्र की मात्रा भी बढ़ती जाती है। लेकिन पुराने हृदय रोग एवम् वृक्कविकार (ब्राइट्स डिसीज) में यह हानिकर है। गुड़ के साथ इसका रस शीतपित्त में उपयोगी है। आदी का रस गुनगुना गरम करके कान में डालने से कर्णशूल दूर होता है।

मात्रा—स्वरस ½-२ चम्मच।

अथ पिप्पल्या नामानि गुणाँश्चाह

पिप्पली मागधी कृष्णा वैदेही चपला कणा। उपकुल्योषणा शौण्डी कोला स्यात्तीक्ष्णतण्डुला।
पिप्पली दीपनी वृष्या स्वादुपाका रसायनी। अनुष्णा कटुका स्निग्धा वातश्लेष्महरी लघुः॥
पिप्पली रेचनी हन्ति श्वासकासोदरज्वरान्। कुष्ठप्रमेहगुल्मार्शः प्लीहशूलाममारुतान्॥५५॥
आर्द्रा कफप्रदा स्निग्धा शीतला मधुरा गुरुः। पित्तप्रशमनी सा तु शुष्का पित्तप्रकोपिणी॥५६॥
पिप्पली मधुसंयुक्ता मेदःकफविनाशिनी। श्वासकासज्वरहरी वृष्या मेध्याऽग्निवर्द्धिनी॥५७॥
जीर्णज्वरेऽग्निमान्द्ये च शस्यते गुडपिप्पली। कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्डुकृमिरोगनुत्॥५८॥
द्विगुणः पिप्पलीचूर्णाद् गुडोऽत्र भिषजां मतः॥ ५८ ॥

पीपर के नाम तथा गुण—पिप्पली, मागधी, कृष्णा, वैदेही, चपला, कणा, उपकुल्या, ऊषणा, शौण्डी, कोला और तीक्ष्णतण्डुला ये सब संस्कृत नाम पीपर के हैं। **पीपर**-अग्निदीपक, वृष्य, पाक में मधुर रसयुक्त, रसायन, अनुष्ण (थोड़ी उष्ण), कटुरसयुक्त, स्निग्ध, वात तथा कफ नाशक, लघुपाकी और रेचक (दस्तावर) है। यह—श्वास, कास, उदररोग, ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, बवासीर, प्लीहा, शूल और आमवातनाशक है। **कच्ची पीपर**-कफकारी, स्निग्ध, शीतल, मधुर, गुरु और पित्त को शान्त करने वाली है। किन्तु **सूखी पीपर**-पित्त को कुपित करने वाली है। **मधु (शहद) से युक्त पीपर**-मेद, कफ, श्वास, कास और ज्वर का नाश करने वाली होती है एवं वृष्य, मेधा (धारणशक्ति) के लिये हितकारी और अग्निवर्द्धक भी है। **गुड़ से युक्त पीपर**-जीर्णज्वर और अग्निमान्द्य में हितकर होती है—एवं-कास, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृद्रोग, पाण्डुरोग तथा कृमिरोग को दूर करने वाली भी होती है। यहां पर अर्थात् पीपर के साथ गुड़ मिलाने में पीपर के चूर्ण के तोल से दूना गुड़ मिलाना चाहिए ऐसा वैद्यों का मत है॥ ५३-५८ ॥

६ पीपल

हि०-पीपर, पीपल। **बं०**-पीपुल, पिपुल। **म०**-पिंपली। **गु०**-पीपर, लींडी पीपल, लिंडी पीपल। **क०**-हिप्पली। **ते०**-पिप्पलु, पिप्पलि, पिप्पल चेट्टु। **ता०**-तिप्पिली। **तु०**-इप्पली। **मला०**-तिप्पली। **ब्राह्मी०**-पौखीन। **गोम०**-हिपली। **मा०**-पीपल। **फा०**-पिलपिल दराज,

फिल्फिल् दराज, पीपल दराज़। **अ०**–दारफिल्फिल्, डाल फिल्फिल्। **अं०**–Long pepper (लॉंग पीपर); Dried catkins (ड्राइड कॅटकिन्स)। **ले०**–Piper longum Linn. (पाइपर लॉंगम)। Chavica roxburghii (चविका रॉक्सबर्घाइ)। Fam. Piperaceae (पाइपरेसी)।

पीपल—इस देश से गरम प्रान्तों में पूर्व नेपाल से आसाम, खासिया के पहाड़ों पर, बंगाल में, पश्चिम की ओर बम्बई तक तथा दक्षिण की ओर ट्रावनकोर तक पायी जाती है। सीलोन, मलाका तथा फिलीपाइन द्वीपों में भी यह पाई जाती है।

पीपल **लता** जाति की वनौषधि का फल है। इसकी बेल–अन्य लताओं की भाँति अधिक विस्तार में नहीं बढ़ती किन्तु थोड़ी ही दूरी में फैलती है। **जड़**–कुछ मोटी और खड़ी सी होती है। उससे शाखाएँ निकल कर भूमि पर फैलती हैं। **पत्ते**–२॥–३॥ इञ्च के घेरे में, गोलाकार, पान के पत्तों के आकार वाले कोमल होते हैं। ऊपर के पत्ते बिनाल होते हैं। **फलगुच्छ**—१–१॥ इञ्च लम्बे और कृष्णाभ होते हैं जिनमें अत्यन्त छोटे-छोटे फल लगे रहते हैं।

एक दूसरी जाति की पीपल को पहाड़ी पीपल कहते हैं। इसका लेटिन नाम Piper sylvaticum Roxb. (पीपर सिलवेटिकम्) है। यह आसाम और बंगाल में अधिक उत्पन्न होती है। इसकी **लता** कई फीट तक बढ़ जाती है और सूखने पर आपस में लिपटी हुई मालूम होती है। **पत्ते**–पान के आकार वाले, उक्त पीपल के पत्तों से किञ्चित् बड़े होते हैं। **फलगुच्छ**–पौन से १॥ इञ्च लम्बे गोल होते हैं। इसको बङ्गाल के कविराज अधिक व्यवहार में लाते हैं।

पीपल छोटी और बड़ी—इन भेदों से दो प्रकार की होती है। इनमें छोटी अधिक गुणकारी समझी जाती है।

रासायनिक संगठन—इसमें १% उडन शील तैल रहता है जिसमें से करीब ५–६·४%पाइपरीन, पाइपरीडीन एवं एक कटु राल (चविसीन), स्टार्च और स्नेह आदि द्रव्य रहते हैं।

गुण और प्रयोग—पीपल रसायन, सुगन्धि, दीपक, पाचक, उष्ण, वातहर और कफघ्न है। इसका उपयोग आनाह, अपचन, अग्निमान्द्य, उदरशूल, कास, श्वास, जीर्णज्वर, प्रसूतिज्वर, आमवात, गृध्रसी, कटिशूल, वातरक्त, अङ्गघात आदि रोगों में किया जाता है।

(१) मधु के साथ इसका चूर्ण नये वा पुराने कास, श्वास, स्वरभङ्ग तथा हिचकी में उपयोगी है।

(२) प्रसूतिज्वर में गर्भाशय शुद्धि के लिए इसका मधु के साथ अच्छा उपयोग होता है।

(३) वर्धमान पिप्पली का उपयोग रसायन के लिए एवं अधोशाखाघात, पुरानी खांसी, दमा, यक्ष्मा, प्लीहावृद्धि, उदर, अर्श आदि रोगों में बहुत लाभदायी है। इसके लिए प्रथम दिन ३ पीपल का फांट मधु अथवा शर्करा के साथ दिया जाता है फिर नित्य ३ पीपल बढ़ाई जाती है। इस प्रकार दसवें दिन ३० पीपल का फांट दिया जाता है। फिर इसी प्रकार ३ पीपल नित्य कम की जाती है। कुछ लोग आधा दूध और आधा जल में उबालकर दूध शेष रहने पर उसी पीपल को खिलाकर ऊपर से वही दूध पिलाते हैं। इसके अतिरिक्त इसके चूर्ण को घृत और मधु के साथ उपयोग किया जा सकता है।

(४) पीपल चौसठ प्रहर घोट कर उपयोग करने से जीर्ण ज्वर में विशेष लाभदायी होती है।

(५) सोंठ एवं पीपल से सिद्ध तैल की मालिश गृध्रसी, कटिशूल तथा अधोशाखाघात में उपयोगी है।

(६) त्रिकटु और सहिजन के बीज को अगस्तिमूल के रस से घोटकर उसका नस्य देने से बेहोशी, मूर्च्छा आदि दूर होती है।

मात्रा—चूर्ण २–४ र०। **दर्पनाशक**—जरेशक, बबूल का गोंद और इसबगोल।

अथ मरीचस्य नामानि गुणाँश्चाह

मरिचं वेल्लजं कृष्णमूषणं धर्मपत्तनम् ॥ ५९ ॥
मरिचं कटुकं तीक्ष्णं दीपनं कफवातजित्। उष्णं पित्तकरं रूक्षं श्वासशूलकृमीन्हरेत् ॥६०॥
तदार्द्रं मधुरं पाके नात्युष्णं कटुकं गुरु। किञ्चित्तीक्ष्णगुणं श्लेष्मप्रसेकि स्यादपित्तलम् ॥६१॥

मरिच के नाम तथा गुण—मरिच, वेल्लज, कृष्ण, ऊषण और धर्मपत्तन ये मरिच के संस्कृत नाम हैं। **मरिच**—कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कफ तथा वायु को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, पित्तकारक और रूक्ष है एवं श्वास, शूल तथा कृमिरोग को नष्ट करने वाला होता है। यदि यही **गीला (कच्चा)** हो तो—पाक में मधुर रस युक्त, थोड़ा उष्णवीर्य, कटुरस युक्त, पाक में गुरु, थोड़ा तीक्ष्ण गुण से युक्त, कफ को गिराने वाला और थोड़ा पित्तकारक होता है ॥ ५९–६१ ॥

७ मरिच

हि०—मरिच, मिरच, गोल मरिच, काली मरिच, दक्षिणी मरिच, गोल मिर्च, चोखा मिरच। **बं०**–मरिच, गोल मरिच, गोल मिरच, मुरिच, मोरिच। **म०**–मिरे, काली मिरीं। **क०**–ओल्हेमेणसु। **गु०**–मरि, मरितीखा, मरी, कालामरी। **ते०**–मरिचमु, शव्यमु, मरियलु। **ता०**–मोलह शेव्वियम्। **पं०**–काली मरिच, गोल मिरिच। **मा०**–काली मरिच। **मोटिया०**–स्पोट। **काश्मी०**–मर्ज। **सिन्धी०**–गूलमिरीएं। **मला०**–लह, कुरु मुलक, कुरू मिलगु। **अफ०**–दारुगर्म। **फा०**–पिल्पिले अस्वद, फिल्फिल् अस्वद, स्याह गिर्द, हलपिला गिर्द, फिल्फिल् स्याह। **अ०**–फिल्फिले अवीद, फिल्फिल् गिर्द, फिल् फिलस्सोदाय, पिल्पिले गिर्द। **अं०**–Black pepper (ब्लॅक पैपर)। **ले०**–Piper nigrum, Linn. (पाइपर नाइग्रम् लिन.)। Fam. Piperaceae (पाइपरेसी)।

दक्षिण कोंकण, आसाम, मलाबार तथा मलाया और स्याम इसका उत्पत्ति स्थान है। दक्षिण भारत के उष्ण और आर्द्र भागों में त्रिवांकुर, मलाबार आदि खादर तथा गीली जमीन में यह अधिकता से उत्पन्न होती है। कच्छार, सिलहट, दार्जिलिंग, सहारनपुर और देहरादून के पास भी इसकी खेती की जाती है। वर्षा ऋतु में इसकी लता को पान के बेल के समान छोटे छोटे टुकड़े कर बड़े बड़े वृक्षों की जड़ में गाड़ देते हैं। ये लता रूप से बढ़ कर वृक्षों का सहारा पाने से उनके ऊपर चढ़ जाते हैं। **पत्ते** ५–७ इञ्च लम्बे तथा २–५ इञ्च चौड़े, गोलाकार, नुकीले तथा पान के पत्तों के आकार के होते हैं। **फल**—गुच्छों में लगते हैं। कच्ची अवस्था में फल हरे रङ्ग के होते हैं। उस अवस्था में चरपराहट कम होती है। जब पकने पर आते हैं तब उनका रङ्ग नारंग लाल हो जाता है। उसी समय तोड़ कर सुखा लेते हैं। सूखने पर काले रङ्ग के हो जाते हैं। पूरे पक जाने पर तोड़ने से चरपराहट कम हो जाती है।

पूर्वी मरिच की अपेक्षा दक्षिणी मरिच अधिक गुणदायक है। दक्षिणी मरिच ऊपर से भूरी तथा भीतर से हरियाली युक्त सफेद होती है। यह अधिक तीक्ष्ण होती है। पूर्वी मरिच ऊपर से अधिक काली और भीतर सफेद होती है। अधिक पके फलों को जब वे पीले हो जाते हैं तब तोड़कर पानी में फुला कर छिलके दूर करके सुखा लेते हैं। उसी को सफेद मरिच कहते हैं। मरिच के ऊपरी छिलके में कटु द्रव्य अधिक रहता है इसलिये सफेद मरिच कम कटु रहती है। **इस सफेद मरिच** को–**बं०** में 'सादा मरिच', **म०**–में 'पांढरेमिरे, **गु०**–में 'धोला मरी', **क०**–में 'विलेय मेणसु' और **ता०**–में 'मिलाओ' कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील, जल में न घुलनेवाला, पाइपरीन नामक एक

रवेदार क्षाराभ ५–९%, पाइपरीडीन ५%, चविसीन नामक कटुराल, एक अन्य हरे रंग की कटुराल ६%, उडनशील तैल १–२·५%, स्टार्च ३०%, ईथर में घुलनशील न उडने वाला पदार्थ ६%, प्रोटीड ७% तथा लिगनिन, गोंद आदि कुछ अन्य द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—मरिच का प्रयोग अनेक योगों में किया जाता है। यह सुगन्धि, उत्तेजक, पाचक, अग्निदीपक, रुचिकर, स्वेदकर, कफघ्न एवं कृमिहर है। इसका उत्तेजक प्रभाव आंत्र एवं मूत्र संस्थान की श्लेष्मल कला पर पड़ता है। इसके सेवन से मूत्र की मात्रा बढ़ती है और इसका उपयोग पुराने सुजाक में किया जाता है। इसके सेवन से आमाशयिक रस की वृद्धि होती है और पाचन की क्रिया सुधरती है। घृत के पाचन में यह विशेष उपयोगी है। इसका उपयोग आध्मान, अपचन, प्रवाहिका, आमाशय शैथिल्य आदि में अच्छा होता है।

(१) प्रवाहिका में इसके सूक्ष्म चूर्ण को हींग एवं अफीम के साथ दिया जाता है।

(२) स्याहजीरा एवं काली मिरच मधु के साथ नित्य सेवन से गुदा की श्लेष्मकला का संकोच होकर गुदभ्रंश एवं अर्श में बहुत लाभ होता है।

(३) इसके **पाइपरीन** नामक क्षार के ज्वरघ्न गुण के कारण इसका उपयोग मलेरिया में कीनीन के साथ अधिक प्रभावकारी है।

(४) विसूचिका के प्रारम्भ में मरिच, अफीम तथा हींग तीनों समान मात्रा में लेकर २ रत्ती की मात्रा में प्रत्येक २ या ४ घण्टे के बाद में देने से लाभ होता है।

(५) खांसी में मधु एवं घृत के साथ देने से लाभ होता है।

(६) पुराने जुकाम में इसको गुड़ एवं दही के साथ सेवन करना चाहिये।

अधिक मात्रा में मरिच के सेवन से उदरशूल, वमन, बस्ति एवं मूत्र मार्ग प्रदाह, उदर्द आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

बाह्य प्रयोग—अनेक चर्म विकारों में एवं वायु के विकारों में किया जाता है।

(१) इससे सिद्ध तैल की मालिश आमवात, गठिया, अङ्गघात एवं कण्डु, पामा आदि में उपयोगी है।

(२) घृत के साथ इसका लेप अर्श के मस्से पर करने से वाताशशूल एवं शिथिलता दूर होती है।

(३) फोड़े, फुन्सियों की आमावस्था में उनको बैठाने के लिए उन पर इसको पीस कर लगाया जाता है।

(४) विषैले कीड़ों के काटने पर विनेगार (सिरका) के साथ इसको पीस कर लगाना चाहिये।

(५) दही के साथ घिसकर इसके अञ्जन से अनेक नेत्र रोग जैसे रात्र्यंध, कण्डु आदि में लाभ होता है।

(६) सर की दद्रु के कारण यदि सर के बाल झड़ गये हों तो इसे प्याज और नमक के साथ लगाने से लाभ होता है। इसी प्रकार इसका लेप शिरःशूल में भी उपयोगी है।

(७) इसके क्वाथ से कुल्ला करने से दंतशूल दूर होता है एवं बढ़ी हुई उपजिह्वा में भी लाभ होता है।

(८) इसका दंतमञ्जनों में भी व्यवहार होता है।

मात्रा—चूर्ण २–४ रत्ती।

श्वेत मरिच—काली मरिच के समान ही गुण वाली लेकिन उससे कुछ हीन गुण होती है। इसका एक विशेष प्रयोग श्लीपद में शोथ के साथ बार २ ज्वर के आक्रमण को रोकने के लिए किया जाता है। बचनाग एक भाग और सफेदमरीच १५ भाग दूध में भिगोया जाता है। रोज

दूध बदल दिया जाता है। इस प्रकार ३ दिन करने के बाद आदी के रस में घोंटकर १ र० की गोली बनाई जाती है। इसकी १ गोली दिन में ३ बार दी जाती है।

अथ त्रिकटुकनामलक्षणगुणानाह

विश्वोपकुल्या मरिचं त्रयं त्रिकटु कथ्यते। कटुत्रिकं तु त्रिकटु त्र्यूषणं व्योष उच्यते ॥६२॥
त्र्यूषणं दीपनं हन्ति श्वासकासत्वगामयान्। गुल्ममेहकफस्थौल्यमेदःश्लीपदपीनसान् ॥६३॥

त्रिकटु के लक्षण, नाम तथा गुण—सोंठ, पीपर तथा मरिच इन तीनों के योग को 'त्रिकटु' कहते हैं। कटुत्रिक, त्रिकटु, त्र्यूषण और व्योष ये संस्कृत नाम 'त्रिकटु' के हैं। **त्रिकटु**–अग्निदीपक होता है तथा श्वास, कास, चर्मसम्बन्धी रोग, गुल्म, मेह, कफ, स्थूलता, मेद, श्लीपद और पीनस इन सब रोगों को दूर करता है॥ ६२–६३ ॥

अथ पिप्पलीमूलस्य नामानि गुणाँश्चाह

ग्रन्थिकं पिप्पलीमूलमूषणं चटकाशिरः। दीपनं पिप्पलीमूलं कटूष्णं पाचनं लघु ॥ ६४ ॥
रूक्षं पित्तकरं भेदि कफवातोदरापहम्। आनाहप्लीहगुल्मघ्नं कृमिश्वासक्षयापहम् ॥ ६५ ॥

पिपरामूल के नाम तथा गुण—ग्रन्थिक, पिप्पलीमूल, ऊषण और चटकाशिर ये संस्कृत नाम 'पिपरामूल' के हैं। **पिपरामूल**–अग्निदीपक, कटुरस वाला, उष्णवीर्य, पाचक, लघु, रूक्ष, पित्तकारक, मल को भेदन करने वाला, कफ, वायु एवम् उदर सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला होता है। तथा आनाह, प्लीहा, गुल्म, कृमि, श्वास और क्षय इन सब रोगों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ६४–६५ ॥

८ पिपलामूल

हि०–पीपलामूल, पीपरामूल। **बं०**–पिपुल मूल। **म०**–पिंपली मूल, पिंपलमूल, पिंपला मूल। **गु०**–पीपरी मूलना गंठोडा, पींपली मूल, पीपरी मूल। **क०**–हिप्पलीयबरु, हिप्पलीयबेरु, हिप्पली मूल। **ते०**–मोडी, पिप्पली वेरु, पिप्ली दुम्प। **पं०**–पिप्पला मूल। **मा०**–पीपला मूल। **ता०**–पिप्पली मूल। **फा०**–फिल्फिल्दराज, फिलफिल मूयह। **अ०**–फिल्फिलादराज, फिलफिले सोया। **अं०**–Piper root (पाइपर रूट)। **ले०**–*Root of the Piper longum Linn.* (रूट ऑफ दी पाइपर् लॉङ्गम्)।

पीपल लता की गांठदार जड़ को पीपलामूल कहते हैं। इसकी जगह कितने पंसारी पींपल लता की मोटी शाखाओं को छोटे-छोटे टुकड़े कर बेचते हैं। इसलिये अच्छी तरह देख भाल कर खरीदना चाहिये।

गुण और प्रयोग—पीपला मूल पीपल के ही समान लेकिन कम गुण वाला है। यह पीपल से अधिक उत्तेजक है। डाक्टर देसाई के मतानुसार प्रसव होने में अधिक समय लग रहा हो तो पीपरामूल, ईश्वर मूल और हींग, पान के साथ खिलाना चाहिये जिससे पीडा बढ़कर प्रसव हो जाता है। प्रसव के पश्चात् तुरत इसका फांट देने से आवल (अपरा) गिरने में सहायता होती है।

अथ चतुरूषणस्य लक्षणगुणानाह

त्र्यूषणं सकणामूलं कथितं चतुरूषणम्। व्योषस्येव गुणाः प्रोक्ता अधिकाश्चतुरूषणे ॥ ६६ ॥

चतुरूषण के लक्षण, नाम तथा गुण—त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच) में यदि पिपरामूल मिला दिया जाय तो इसे चतुरूषण कहते हैं। पहले जितने गुण त्रिकटु के कह आये हैं, वही सब गुण चतुरूषण में अधिक रूप से रहते हैं॥ ६६ ॥

प्रयोग करने से यह सिद्ध हुआ है कि चतुरूषण ५ से ३० र० की मात्रा में दिन में दो बार न केवल खांसी, प्रतिश्याय, स्वरभंग में उपयोगी है बल्कि उदरशूल, आध्मान आदि में भी बहुत उपयोगी है।

अथ चव्यनामगुणानाह

भवेच्चव्यं तु चविका कथिता सा तथोषणा। कणामूलगुणं चव्यं विशेषाद् गुदजापहम्॥६७॥

चव्य के नाम तथा गुण—चव्य, चविका और ऊषण ये तीन संस्कृत नाम 'चव्य' के हैं। जो २ गुण 'पिपरामूल' के कह आये हैं वे ही सब 'चव्य' के भी होते हैं। केवल विशेषता यह है कि-यह अर्श (बवासीर) का नाशक होता है॥ ६७॥

९ चव्य

हि०—चव्य, चाब, चाभ, चव। **बं०**—चेअर, चई, चोई। **म०**—चवक, कंकल, चावेलीनी। **गु०**—चवक, **ते०**—सेवासु, चैकाणी, चव्यसु। **ता०**—चव्य। **ले०**—*Piper chaba Hunter* (पाइपर चबा हण्टर); *Piper officinarum Cas D. C.* (पाइपर ऑफिसिनेरम्)। Fam. Piperaceae (पाइपरेसी)।

चव्य के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। भावप्रकाशकार आगे गजपिप्पली के वर्णन में लिखते हैं कि विद्वानों ने चव्य के फल को गजपिप्पली कहा है। अर्वाचीन विद्वानों ने गजपिप्पली एवं चव्य ये दो अलग वनस्पतियां मानी हैं। और यही कारण है कि ये दोनों द्रव्य संदिग्ध की श्रेणी में आ गये हैं। अधिकांश विद्वानों ने जिन दो द्रव्यों को माना है उन्हीं का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। पाइपर चबा को चव्य कहा गया है।

भारत के अनेक प्रान्तों में यह लगाई हुई मिलती है। यह वनस्पति जावा, सुमात्रा, मलाया आदि देशों में विशेषरूप से उत्पन्न होती है। इसके फल तथा कांड का उपयोग किया जाता है। संभवतः यह फल सिंगापूर के रास्ते कलकत्ते में आकर बड़ी पीपर के नाम से बिकता है।

यह लताजाति की वनस्पति बहुत दृढ होती है। इस पर किसी प्रकार के रोम इत्यादि नहीं होते। इसकी **शाखायें**-वृक्षों की डालियों से खूब लिपटती हुई बढ़ती हैं और सूखने पर पीलापन युक्त सफेद रङ्ग की हो जाती हैं। **पत्ते**-५-७ इञ्च लम्बे तथा २-२॥ से ३॥ इञ्च तक चौड़े, आयताकार, अण्डाकार, और किंचित् नुकीले होते हैं, सूखने पर फीके या पीलापन युक्त सफेद रंग के हो जाते हैं। उनके ऊपर का भाग चमकदार होता है। इन पर रक्तवर्ण के **फूल** और **फलों** के गुच्छे लगते हैं। ये गुच्छे १-३ इञ्च लम्बे और ½ इञ्च मोटे, अग्र की तरफ कुछ पतले एवं डण्ठल की तरफ मोटे गोल और भूरे रंग के होते हैं। **फल**-बहुत छोटे छोटे इञ्च के दसवें हिस्से के घेरे में अण्डाकृति आते हैं। ये फल सुगंधित एवं स्वाद में कटु होते हैं।

गुण और प्रयोग—चाभ का उपयोग पीपर के समान ही किया जाता है। यह उत्तेजक एवं पाचक है तथा शूल, आध्मान, वृक्करोग तथा विशेष कर खांसी, जुकाम आदि गले के रोगों में उपयोग में आता है। यूनानी मतानुसार इसके फल का नस्य अपस्मार में उपयोगी है।

मात्रा—चाभ चूर्ण-१ से २ माशे, चाभ फल चूर्ण—२-४ र०।

अथ गजपिप्पल्या नामानि गुणाँश्चाह

चविकायाः फलं प्राज्ञैः कथिता गजपिप्पली। कपिवल्ली कोलवल्ली श्रेयसीवशिरश्च सा॥६८॥
गजकृष्णा कटुर्वातश्लेष्महृद्वह्निवर्धिनी। उष्णा निहन्त्यतीसारं श्वासकण्ठामयक्रिमीन्॥६९॥

'गजपीपल' के नाम तथा गुण—'चव्य' के फल का ही नाम 'गजपीपल' है ऐसा वैद्य लोग कहते हैं। कपिवल्ली, कोलवल्ली, श्रेयसी और वशिर ये सब संस्कृत नाम 'गजपीपल' के हैं। **गज पीपल**-कटुरसयुक्त, वात कफ नाशक, अग्निवर्धक और उष्ण वीर्य होती हैं तथा अतिसार, श्वास, कण्ठसम्बन्धी रोग और कृमि का भी नाश करती है॥ ६८-६९॥

गजपिप्पली के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ चव्य के फल को गजपिप्पली मानते हैं तो कुछ सिंडेप्सस् आफिसिनेलिस् के फल को मानते हैं। अधिकांश विद्वान सिं. आफिसिनेलिस् को गजपिप्पली मानते हैं जो ठीक भी मालूम होता है। कुछ बाजारों में ताडवृक्ष के बाल (पुं-पुष्प व्यूह) को काटकर गजपिप्पली के नाम से बेचते हैं।

१० गजपीपल

हि०—गजपीपर, गजपीपल। **बं०**—गजपीपल। **म०**—गजपिंपळी, थोरपिंपली। **क०**—अड्केबीलुवल्लि। **गु०**—मोटो पीपर। **ते०**—एनुगा पिप्पल। **ता०**—अनै तिप्पली। **पं०**—गजपीपल। **सन्ताल०**—दरे क्षपक। **मल०**—अतितिप्पली, अनैतिप्पली। **ले०**—*Scindapsus officinalis, Schott* (सिन्डेप्सस् ऑफिसिनेलिस् स्काट); *Syn: Pothos officinalis Schott Melet* (पोथोस् ऑफिसिनेलिस्)। Fam. Araceae (ॲरासी)।

इसकी लता आर्द्रसपाट मैदानों में हिमालय के प्रान्तों में सिकम से पूर्व की ओर बंगाल, चट्टगांव, अक्षा तथा सिवालिक के जंगलों में शाल वृक्षों पर चढ़ी हुई पाई जाती है।

इसका डंठल-गूदेदार एक इञ्च या इससे भी अधिक मोटा एवं गोल होता है। **पत्ते**-बड़े बड़े, जैसे-५ से १० इञ्च तक लम्बे और २॥ से ६ इञ्च तक चौड़े, अंडाकार, गाढ़े हरे होते हैं और शाखाओं पर विपरीत रहते हैं। **पत्र वृन्त** ३ से ६ इञ्च तक लम्बा और अन्त का हिस्सा हाथ की कोहनी के समान होता है एवं तलवार की म्यान के समान दिखाई पड़ता है। इसके भीतर का हिस्सा पीले रङ्ग का होता है। **फल**-रसयुक्त, गूदेदार, लगभग ६ इञ्च लम्बा, १।-१॥ इञ्च व्यास में और नीचे की ओर लटका हुआ रहता है। इसका आगे का हिस्सा नोकदार होता है। इसके फल के आडे कटे हुवे सूखे टुकड़े बाजार में बिकते हैं। ये १ इञ्च व्यास के, ½ इञ्च मोटे और भूरे रङ्ग के होते हैं। इनमें गन्ध नहीं रहती तथा उन्हें जल में भिगोकर रखने से ये फूल कर नरम हो जाते हैं। इनके बीच में बीज होते हैं और उनके चारों ओर चूने के सूई के समान दाने होते हैं। **बीज**-वृक्काकार, चिकने, गांजे के बीज से बड़े और भूरे रङ्ग के होते हैं। इसके पत्ते का शाक बनाकर खाते हैं।

गुण और प्रयोग-सूखा हुआ फल-तीक्ष्ण, पसीना लाने वाला, सुगन्धिकारक, वातहर, कृमिनाशक, उत्तेजक, पाचक, एवं बल्य है। आमातिसार, श्वास और खांसी में जब कफ की अधिकता रहती है तब इसका उपयोग किया जाता है। इसके फांट को देने से कफ ढीला होकर निकलता है। संताल लोग इसको आमवात, संधिवात आदि रोगों में स्थानीय लेप के रूप में लगाते हैं। इसका उपयोग सुगंधित द्रव्य के रूप में अन्य औषधियों के साथ किया जाता है। इसमें १४½% राख, गोंद तथा एक क्षाराभ रहता है।

मात्रा—फांट (१ में १०) २-६ ड्राम।

अथ चित्रकस्य नामानि गुणाँश्चाह

चित्रकोऽनलनामा च पाठी व्यालस्तथोषणः। चित्रकः कटुकः पाके वह्निकृत्पाचनो लघुः॥
रूक्षोष्णो ग्रहणीकुष्ठशोथार्शः कृमिकासनुत्। वातश्लेष्महरो ग्राही वातघ्नः[1] श्लेष्मपित्तहृत्॥

१. 'वातघ्नः' इति पाठा०।

'चीता' के नाम तथा गुण—चित्रक, अनलनामा (अग्नि के जितने नाम हैं वे सब 'चीता' के भी होते हैं), पाठी, व्याल तथा ऊषण ये सब संस्कृत नाम चीता के हैं। **चीता**-पाक में कटुरस युक्त, अग्निवर्धक, पाचक, लघु (शीघ्र पचने वाला), रूक्ष और उष्ण वीर्य वाला है और यह ग्रहणी, कुष्ठ, शोथ, अर्श, कृमि तथा कास का नाशक होता है। तथा वात और श्लेष्मा को दूर करने वाला, ग्राही, वात और श्लेष्म एवं पित्त का नाशक होता है ॥ ७०-७१ ॥

११ चित्रक

हि०-चीत, चीता, चित्रा, चित्रक, चित्ता, चितरक, चितउर। **बं०**-चिता, चितु। **म०**-चित्रक। **क०**-पेल्लीचित्रमूल, चित्रकमूल। **पं०**-चित्रा। **ते०**-अग्निमत, चित्रमूलं, तेल्लाचित्रा। **ता०**-पँचीत्तर, कोदिवेल। **उ०**-धुवचिता। **गु०**-चित्रो, चित्रा, पितरो। **मला०**-वेल्लाकोदुवेरि, कोदुबेलि। **फा०**-बेख बरंदा, बेख बरंदह, शीतरद, शीतरुह, शीतरक, बेखबुरिंदा। **अ०**-शितरज, शितरझ, शीतरज हिन्दी, शैतरज। **अं०**-Ceylon Leadwort, White Leadwort (सीलोन लेडवोर्ट, व्हाइट लेडवोर्ट)। **ले०**-*Plumbago zeylanica Linn.* (प्लम्बॅगो झेलॅनिका)। Fam. Plumbaginaceae (प्लम्बॅजिनासी)।

सफेद, लाल और नीले फूलों के भेद से चित्रक तीन प्रकार का होता है। कोई कोई पीले फूल का भी चित्रक बतलाते हैं किन्तु इसका उल्लेख किसी पुस्तक में देखा नहीं जाता। सफेद फूल का चित्रक बहुत मिलता है और लाल फूल का कहीं कहीं नमूने की तरह देखने में आता है और मिलता भी बहुत कम है। नीले फूल का चित्रक भी कम मिलता है जिससे नमूने की तरह भी बहुत कम ही वैद्य लोग देख पाये होंगे।

सफेद चित्रक इस देश के प्रायः सब प्रान्तों की जङ्गली झाड़ियों में देखा जाता है विशेष कर संयुक्त प्रान्त, बिहार, बङ्गाल, दक्षिण भारत, सीलोन और कुमाऊँ के पहाड़ों बहुत मिलता है। यह आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होता है और कहीं कहीं वाटिकाओं में भी हैं।

इसका **क्षुप** २ से ५ फूट तक ऊँचा होता है और बारहों मास मिलता है। गर्मी के दिनों में पत्ते प्रायः कम दिखाई पड़ते हैं किन्तु बरसात में हरे भरे हो जाते हैं। कांड पर लम्बाई में धारियां होती हैं। **पत्ते**-विपरीत, १॥ से ३॥ इञ्च तक लम्बे, १ से १॥ इञ्च चौड़े, अण्डाकार, नोकदार, चिकने, कोमल और मोगरा के समान होते हैं। **फूल**-जाड़े के दिनों में चमेली के फूल के समान अत्यन्त सफेद फूल आते हैं। **फल**-यव के आकार वाले लम्बे, कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर धूसर रङ्ग के, सूक्ष्म तथा चिपचिपे रोवों से भरे रहते हैं जो तोड़ने से आपस में सट जाते हैं और स्पर्श से लसीले जान पड़ते हैं। इसकी **छाल**-कालापन लिये भूरे रंग की, खड़े बल में कटी हुई और उस पर थोड़ी सी छोटी गांठें होती हैं। सूखी हुई जड़ तोड़ने से तुरत टूट जाती है। इसका स्वाद तीता, कड़ुआ और जिह्वा को सूई चुभोने के समान मालूम होता है। इसकी जड़ औषधि के काम आती है। यह हमेशा ताजी प्रयोग करनी चाहिये क्योंकि बहुत पुरानी होने पर यह गुणहीन हो जाती है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में प्लम्बॅजिन (Plumbagin) नामक एक रवेदार पदार्थ होता है। यह पीले रंग का, सुइयों के सदृश, दाहक एवं कटु पदार्थ है। यह मद्यसार एवं ईथर में अच्छी तरह घुल जाता है लेकिन उबलते हुवे जल में बहुत थोड़ा घुलता है और गरम करने पर कुछ अंश में उड़नशील है। इसका द्रवणांक ७२° श० है। भारतवर्ष में प्राप्त होने वाली

इसकी सभी जातियों में इसकी अधिक से अधिक मात्रा ०·९१% रहती है। सूखी जमीन में उत्पन्न होने वाले पुराने क्षुप में यह अधिक मात्रा में रहता है।

गुण और प्रयोग—चित्रक में रहने वाला **प्लम्बॅजिन** अल्प मात्रा में केन्द्रीय वातनाडी संस्थान को उत्तेजित करता है लेकिन अधिक मात्रा में वह दाहजनक एवं सम्मोहक विष है जिससे श्वसन-क्रिया बन्द होकर मृत्यु हो जाती है।

चित्रकमूल—अग्निदीपक, गर्भाशय संकोचक, स्वेदजनक, कुष्ठहर, अर्शहर, रसायन, वात एवं कफहर है। इसका उपयोग मन्दाग्नि, अपचन, आध्मान, ज्वर, आमवात, आमातिसार, संग्रहणी, कुष्ठ, शोथ, पाण्डु एवं अर्श आदि रोगों में किया जाता है।

अल्प मात्रा में यह पाचक संस्थान की श्लैष्मिक कला को उत्तेजित करके पाचक स्रावों की वृद्धि करता है जिससे भूख अच्छी लगती है। खाया हुआ जल्दी पचता है। अर्श में इसके प्रयोग से गुदवली की शिथिलता दूर होकर लाभ होता है। गर्भाशय के ऊपर इसकी बहुत तीव्र संकोचक क्रिया होती है जिससे गर्भिणी में इसको किसी भी समय प्रयोग करने से एक दो प्रहर में गर्भपात हो जाता है लेकिन गर्भ हमेशा मृत ही होता है। गर्भपात के लिये आंतरिक प्रयोग के साथ २ इसको गर्भाशयमुख में प्रविष्ट करते हैं या इसका लेप करते हैं। इसके प्रयोग में यदि विशेष सावधानी न रक्खी जाय तो इससे रक्तस्राव, धातुनाश एवं कोथ आदि गंभीर उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। अतः इसका प्रयोग गर्भिणी में कभी भी न करना चाहिये।

विषम ज्वर में यकृत प्लीहा वृद्धि होकर पाण्डु हो गया हो तो इसका सेवन करना चाहिये। सूतिका ज्वर में निर्गुण्डी के साथ इसके उपयोग से ज्वर कम होता है तथा दूषित आर्तव निकलकर मक्कलशूल भी दूर होता है।

(१) अग्निमांद्य, अरोचक, अजीर्ण, अतीसार आदि में चित्रक, वायविडङ्ग एवं मुस्ता का प्रयोग करना चाहिये।
(२) अर्श में इसे दही के साथ सेवन करना चाहिये।
(३) यकृत एवं प्लीहा वृद्धि में इसका क्षार मट्ठे के साथ उपयोगी है।
(४) इसका उपयोग कुष्ठ, फिरङ्ग की द्वितीयावस्था आदि में लाभकारी है।

चित्रक मूल बाह्य प्रयोग में तीव्र कृमिघ्न, दाहजनक, एवं स्फोटोत्पादक है। आमवात, संधिशूल अङ्गघात आदि में इससे सिद्ध तैल की मालिश करने से लाभ होता है। प्लेग की गाठों पर गाठों को फोड़ने के लिये इसको काम में लाते हैं। श्वित्र एवं खालित्य में इसका लेप उपयोगी है।

आमवातादि में स्फोटोत्पादन के लिये इसका लेप १५,२० मिनट से अधिक न रखना चाहिये। इससे उत्पन्न स्फोटों में पीडा बहुत होती है इसलिये जहां तक हो उसका प्रयोग न किया जाय।

हानिकारक—फुफ्फुस, यकृत और गर्भ।

दर्पनाशक—फुफ्फुस के लिये मस्तगी एवं बबूल का गोंद तथा यकृत के लिये गुलाब के फूल एव चन्दन।

मात्रा—½ से २ माशा।

१२ लाल चीता

हि०—लाल चीत, लाल चीता, लालचित्रक, लाल चितउर इत्यादि। **बं०**-लालचिता, रक्तो-चितो। **म०**-लालचित्रक। **क०**-केम्पु, चित्रमूल। **ते०**-येर्रांचित्रमूलम्। **ता०**-शिवप्पु चित्रमूलम्,

चित्तुरमोल, कोडिमूली । उ०-रक्तचिता, रकतचिता । **मला०**-चेक्कीकोटुवेरी । **अं०**-Rose coloured Leadwort (रोज कलर्ड लेडवोर्ट)। **ले०**-*Plumbago rosea Linn.* (प्लम्बॅगो रोझिया)।

यह सिकम और खसिया की तराइयों में पाया जाता है। इसको वाटिकाओं में भी लगाते हैं परन्तु थोड़ी असावधानी से नष्ट हो जाता है।

इसका **क्षुप** २-४ फूट ऊंचा, सदा हरा भरा रहता है। गर्मी के दिनों में कुछ पुराने पत्ते सूखकर गिर जाते हैं। **पत्ते**-उक्त चित्रक के समान होते हैं। **फूल**-लाल और **फल** सफेद चीते के समान लसीले होते हैं।

लाल **चित्रक** गुणों में सफेद चित्रक की अपेक्षा अधिक प्रभाव शाली और तीव्र गुण सम्पन्न है, विशेष कर रुचिकारी, रसायन, शरीर को नवीन और स्थूल करने वाला, पारे को बांधने-वाला, लोहे को बेधने वाला तथा कुष्ठ को नष्ट करने वाला है। इसकी थोड़ी मात्रा उत्तेजक तथा अधिक मात्रा तीव्र मदकारी विष के समान हानिकारक होती है ॥ १२ ॥

१३ नीला चित्रक

ले०-*Plumbago capensis Thumb* (प्लम्बॅगो कॅपेनसिस थम्ब)

काले चित्रक का **क्षुप**-उक्त चित्रक के समान किन्तु पत्र चाक्रिक क्रम में आते है। पुष्प सफेदी युक्त नीले रङ्ग के होते हैं। यद्यपि यह दक्षिण अफ्रिका का आदिवासी है तथापि बागों में लगाया हुवा मिलता है।

लोग यह भी कहते हैं कि नीले चित्रक के सेवन करने से बाल काले हो जाते हैं और यदि गौ इसके क्षुप को केवल सूंघ ले अथवा इसकी जड़ दूध में डाली जावे तो दूध का रङ्ग काला हो जाता है। परन्तु इसमें कहां तक सत्यता है परीक्षा करने से ही मालूम हो सकती है।

अथ पञ्चकोलस्य लक्षणगुणानाह

पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यचित्रकनागरैः। पञ्चभिः कोलमात्रं यत्पञ्चकोलं तदुच्यते ॥७२॥
पञ्चकोलं रसे पाके कटुकं रुचिकृन्मतम्। तीक्ष्णोष्णं पाचनं श्रेष्ठं दीपनं कफवातनुत्॥
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ॥ ७३ ॥

'पञ्चकोल' के लक्षण तथा गुण—पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता तथा सोंठ ये सब पांच द्रव्य यदि कोलमात्र अर्थात् आधा २ तोला की मात्रा में एकत्र किये जांय तो उसी को 'पञ्चकोल' कहते हैं। **पञ्चकोल**-स्वाद तथा पाक में कटुरस युक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य होता है। तथा पाचक अत्यन्त अग्निदीपक, कफ-वात नाशक, गुल्म, प्लीहा, उदरसम्बन्धी रोग, आनाह और शूल का नाश करने वाला तथा पित्त को कुपित करने वाला होता है ॥ ७२-७३ ॥

मात्रा—५-१५ र० दिन में दो बार।

अथ षडूषणस्य लक्षणगुणानाह

पञ्चकोलं समरिचं षडूषणमुदाहृतम्। पञ्चकोलगुणं तत्तु रूक्षमुष्णं विषापहम् ॥ ७४ ॥

'षडूषण' के लक्षण तथा गुण—ऊपर कहे हुवे 'पञ्चकोल' के पीपल आदि पांचों द्रव्यों के साथ यदि छठां द्रव्य 'मरिच' भी सम भाग में मिला दिया जाय तो उसे 'षडूषण' कहते हैं। पञ्चकोल के

जो गुण कह आये हैं वे ही सब 'षडूषण' के समझने चाहिये, अन्तर केवल इतना ही है कि यह रूक्ष, उष्ण तथा विषनाशक भी होता है ॥ ७४ ॥

अथ यवान्या नामानि गुणाँश्चाह

यवानिकोग्रगन्धा च ब्रह्मदर्भाऽजमोदिका ॥ ७५ ॥
सैवोक्ता दीप्यका दीप्या तथा स्याद्यवसाह्वया।
यवानी पाचनी रुच्या तीक्ष्णोष्णा कटुका लघुः ॥ ७६ ॥
दीपनी च तथा तिक्ता पित्तला शुक्रशूलहृत्। वातश्लेष्मोदरानाहगुल्मप्लीहकृमिप्रणुत् ॥७७॥

'अजवायन' के नाम तथा गुण—यवानिका, उग्रगन्धा, ब्रह्मदर्भा, अजमोदिका, दीप्यका, दीप्या और यवसाह्वया ये सब नाम 'अजवाइन' के हैं। **अजवाइन**—पाचक, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, कटुरसयुक्त, परिपाक में लघु, अग्निदीपक, तिक्तरसयुक्त, पित्तवर्धक एवम् शुक्र तथा शूल की नाशक है। और यह वात, श्लेष्मा, उदरसम्बन्धी रोग, आनाह, गुल्म, प्लीहा तथा कृमि की भी नाशक है ॥ ७५-७७ ॥

१४ अजवायन (यवानी)

हि०-अजवायन, अजवाइन, अजमायन, जवाइन, जवायन, अजवां, अजोवां। **बं०**-यमानी, यउयान, योयान्, जोवान्। **मं०**-ओंवा, उंवा। **गु०**-अजमा, यवान, जवाइन, अजमो। **क०**-वोम, ओमु। **ते०**-वामु, ओममी, ओममु, ओमा। **ता०**-अमन, ओमम्, ओमन। **मा०**-अजवाण। **कच्छ०**-वोहरा। काश्मी०-जविन्द। **फा०**-नानुखा, झिनियानस नान्ख्वाह, जीनान्। **अ०**-कमूमे-'मुलुकी, अमूसा, तोलिबउल खुब्जा। **अं०**-The Bishop's weed (दी बिशॉप्स वीड); Ajova seeds (अजोवां सीड्स), Lovage (लोहाज)। **ले०**-*Carum copticum Benth & Hook* (करम् कोप्टिकम्); *Syn: Trachyspermum ammi Linn.* (ट्रॅकीस्पर्मम् अम्मी लिन); *Syn: Ptychotis ajowan DC* (प्टिकोटिस् अजोवां)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में हरसाल खेतों में यह बोई जाती है विशेषकर इन्दौर तथा हैदराबाद राज्य में यह अधिकता से होती है। यह अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, पर्शिया, मिश्र और यूरोप आदि देशों में भी उत्पन्न होती है।

इसका **क्षुप** १ से ३-फुट तक ऊँचा, **पत्ते**—धनिये के पत्ते के समान कटीले, अनेक भागों में विभक्त, डालियों पर दूर-दूर आते हैं। **फूल**—छत्ते में, सफेद रंग के बारीक आते हैं। **फल**—नन्हें-नन्हें रहते हैं। छत्ते पकने पर फल निकाल लिए जाते जाते हैं। इन्हीं फलों को अजवायन कहते हैं। ये **फल** बहुत छोटे, दबे हुए, गोल अंडाकार, २ मि० मि० लम्बे, भूरे रंग के होते हैं। इनकी ऊपरी सतह पर छोटी गांठें एवं प्रत्येक अर्ध खण्ड पर पांच धारियां होती हैं। इसमें अज-वायन की विशिष्ट गंध होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील सुगन्धित तैल जिसे अजवाइन का तेल कहते हैं, २ से ३% पाया जाता है जिसमें से ४०-५०% थाइमॉल रहता है। इसमें पाये जाने वाला रवेदार पदार्थ स्टिअरोप्टिन, जिसे अजवाइन का फूल या अजवायन का सत कहते हैं डाक्टरी के थाइमॉल के समान होता है। इसके अतिरिक्त इसमें साइमोन, टरपेन आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—अजवायन अग्निदीपक, पाचक, उष्ण, उद्वेष्टन निरोधी, उत्तेजक, बल्य, कृमिघ्न, संक्रमण निरोधी, दुर्गन्धिनाशक एवं सड़न को दूर करने वाली है। इसका उपयोग अतिसार, कुपचन, अजीर्ण, उदरशूल, आध्मान, विसूचिका आदि रोगों में किया जाता है।

इसमें सरसों और मिर्चा का तीतापन, चिरायते का कड़ुआपन, एवं हींग का उद्वेष्टन निरोधी गुण तीनों एक साथ हैं। इसका उपयोग अनेक औषधियों विशेषतया एरंड तैल की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए किया जाता है। पुरानी खाँसी में जब कफ बहुत कम रहता है तब इसके प्रयोग से कफ ढीला होकर निकल जाता है। श्वास में गरम पानी के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है या इसको चिलम में रखकर पीते हैं। अजवायन का चूर्ण और सेंधानमक अजीर्ण से उत्पन्न विकारों की घरेलू दवा है।

(१) उदरशूल, आध्मान आदि विकारों में अजवायन, सेंधानमक, सोंचरनमक, यवक्षार, हींग और आंवला इनके चूर्ण को ½ से १ माशा की मात्रा में मधु के साथ दिया जाता है।

(२) शराबियों को मद्य की आदत छुड़ाने के लिये शराब पीने की इच्छा होने पर इसे चबाने को दिया जाता है।

(३) बच्चों के रोगों में तथा हैजे में इसका अर्क बहुत उपयोगी है।

(४) **अजवायन का सत्**—बहुत अच्छा कृमिघ्न, सड़न को दूर करने वाला, प्रतिदूषक पदार्थ है। इसका उपयोग घोल के रूप में व्रण प्रक्षालन के लिये किया जाता है।

अजवायन का सत, पेपरमिंट का सत और कपूर तीनों मिलाने से एक तरल पदार्थ बनता है जिसका विसूचिका के प्रारम्भ में ३, ४ बूँद बतासे के साथ व्यवहार किया जाता है। इससे कै, दस्त कम होकर लाभ होता है। अमृतधारा जैसे प्रचलित पेटेण्ट योगों में ये ही औषधियाँ मूलतः रहती हैं। यह आंत्रिक कृमियों पर विशेषकर अंकुश कृमि में बहुत उपयोगी है। संधिशूल आदि में इसको लगाने से लाभ होता है। अजवायन का सत दंतशूल में उपयोगी है।

(५) इसकी पुल्टिस बनाकर उदरशूल, आमवात, सन्धिशूल आदि में सेंका जाता है। विसूचिका में हाथ, पैरों को तथा श्वास और खांसी में छाती को इससे सेंकने से लाभ होता है।

(६) इसके पत्तों का रस कृमियों को मारने के लिये काम में आता है एवं पत्तों को पीसकर कीड़ों के काटे हुए स्थानों पर लगाया जाता है। पत्तों के अन्य गुण शाकवर्ग में देखें।

मात्रा—चूर्ण-३ से ६ माशा, अर्क-१ से २ औंस, सत-½ से १ र०।

अथ अजमोदाया नामानि गुणांश्चाह

अजमोदा खराश्वा च मायूरो[1] दीप्यकस्तथा। तथा ब्रह्मकुशा प्रोक्ता कारवीलो[2] चमस्तका।
अजमोदा कटुस्तीक्ष्णा दीपनी कफवातनुत्। उष्णा विदाहिनी हृद्या वृष्या बलकरी लघुः।
नेत्रामय[3] कृमिच्छर्दिहिक्कावस्तिरुजो हरेत् ॥ ७९ ॥

'अजमोदा' (बड़ीअजवाइन) के नाम तथा गुण—अजमोदा, खराश्वा, मायूरो, दीप्यक, ब्रह्मकुशा, कारवी और लोचमस्तका ये सब नाम 'अजमोदा' के हैं। **अजमोदा**—कटुरसयुक्त, तीक्ष्णवीर्य, अग्निदीपक, कफवातनाशक, उष्णवीर्य, विदाही, हृद्य (हृदय के लिये हितकर), वृष्य,

१. 'मयूर' इति पाठा०। २. 'च समस्तके'ति पाठा०। ३. 'कफे' पाठा०।

बलकारक और परिपाक में लघु होती है। और यह नेत्ररोग, कृमि, वमन, हिक्का (हिचकी) एवं बस्तिसम्बन्धी रोगों को नाश करने वाली होती है ॥ ७८–७९ ॥

१५ अजमोदा

हि०—अजमोद, अजमोदा, अजमूदा, अजमोत। **बं०**—वनयमानी, रान्धुनी, अजमूद, चनु। **गु०**—बोडी अजमोद, अजमोद, बोडी अजमो। **ते०**—आजामोदा, वोमा, अशमदागां, वोमां, अजोदा-वोमरु। **मध्य प्र०**—रान्धुनी। **पं०**—भूतजटा। **ता०**—अशम, टागम, तागम, अशमता ओमान्। **म०**—अजमोदा वोवा, कोरंजा। **क०**—अजमोदा वोमा। **फा०**—करप्स। **अ०**—वजूरुल् करप्स। **अं०**—Celery fruit (सेलेरी फ्रूट); Apii fructus (अप्पाई फ्रक्टस्)। **ले०**—*Apium graveolens, Linn.* (एपिअम् ग्रॅविओलेन्स् लिन)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

युरोप, अमेरिका तथा भारतवर्ष में इसकी खेती की जाती है। पञ्जाब तथा उत्तर प्रदेश में इसकी विशेष खेती होती है। यह उत्तर पश्चिमी हिमालय तथा पञ्जाब के पहाड़ी प्रान्तों में भी उत्पन्न होता है।

इसका **क्षुप** २ से ३ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**—अनेक भागों में विभक्त, प्रत्येक भाग गहरे कटे किनारे वाले होते हैं। **फूल**—सफेद और छोटे छत्ते से होते हैं। **फल**—पीताभ, भूरा, गोलाभ अंडाकार, १ से १.५ मि. मि. लंबा, १·५ मि. मि. चौड़ा, ०·५ मि. मि. मोटा एवं प्रत्येक अर्धखण्ड पर ५ गहरी धारियों से युक्त होता है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक हल्के पीले रङ्ग का उड़नशील तैल १.५–३% पाया जाता है जिसमें एक विशेष प्रकार की इसकी गन्ध होती है। इसके अतिरिक्त इसमें गन्धक, अॅपोइल Apoil) नामक एक विषैला पदार्थ, एक ग्लूकोसाइड ॲपीईन (Glucoside-Apiin), अल्ब्यूमिन्, गोंद और क्षार आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, पाचक, वातानुलोमक, उत्तेजक, वातशामक, बल्य, मूत्रल, गर्भाशय संकोचक एवं हृद्य है। घरेलू औषधि के रूप में इसका उपयोग आमवात, उदरशूल, आध्मान, वमन, हिक्का, कुपचन आदि रोगों में किया जाता है। इसको वातरक्त, कृमि, मूत्राशय के रोग और नष्टार्तव में काम में लाते हैं।

इसके उद्वेष्टन निरोधी गुण के कारण श्वसनिका शोथ, श्वास एवं उदरशूल आदि विकारों में इसका व्यवहार किया जाता है। इसका पथरी के रोग में भी व्यवहार होता है। यकृत और प्लीहा के रोगों में भी यह कुछ लाभदायी है। मसाले के रूप में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

(१) इसका तैल उद्वेष्टन निरोधी, वातनाडियों के लिये बल्य एवं आमवाताभ संधिशोथ में लाभदायी है।

(२) इसका मूल रसायन एवं मूत्रल माना गया है और इसका उपयोग सर्वांग शोफ और शूल में किया जाता है।

(३) इसके मूल से बनी कॉफी मस्तिष्क एवं वातनाडियों के लिये बलदायक मानी गई है।

(४) यह अपस्मार एवं गर्भिणी के लिये हानिकारक माना गया है।

मात्रा—फल चूर्ण-१ से ४ माशा।

१६ अजवायन जंगली (१)

यह दो प्रकार की होती है जिनका अलग-अलग वर्णन नीचे संक्षेप में दिया गया है।

सं०—वन्ययमानी ? । **म०**—किरमिजी अजवां । **बं०**—वनजोवान । **लै०**—Seseli indicum W. & A. (सिसिली इण्डिकम्) । Fam. Umbelliferae (अम्बेलीफेरी) ।

यह हिमालय के निचले भागों में देहरादून से लेकर गोरखपुर, बुंदेलखण्ड, आसाम, मध्य बंगाल तथा कारोमण्डल तक होती है।

इसके **क्षुप**-वर्षायु, ४ से १२ इञ्च तक ऊँचे, अनेक शाखा प्रशाखाओं से युक्त सघन देखने में आते हैं। **पत्ते**-विभक्त, कटे किनारे वाले और रोमश होते हैं। **फूल**—छत्ते से सफेदी युक्त गुलाबी रंग के, **फल**—बारीक छोटे-छोटे गोल, किञ्चित् लम्बे फीके पीले रंग के होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फल प्रायः पशुओं के लिये औषधि के काम में अधिक आते हैं। यह उत्तेजकदीपन, पाचन, शूलघ्न, आंतों के लिये हितकारी तथा विशेषरूप से गोल कृमि का नाशक है।

इसके सेवन से पेट के आफरे में लाभ होता है और भूख बढ़ती है।

मात्रा—१ से ३ माशा।

१७ अजवायन जंगली (२)

हि०—वन अजवायन। **पं०**—माशो, रांगस्तुर, मरिज़ह। **फा०**—हाशा। **अं०**—Wild Thyme (वाइल्ड थाइम्)। **लै०**—*Thymus serpyllum Linn.* (थाइमस् सर्पाइलम्)। Fam. Labiatae (लेबियेटी)।

यह हिमालय के गरम प्रांतों में काश्मीर से कुमाऊँ तक एवं ईरान में होती है।

यह क्षुप जाति की वनौषधि अनेक शाखा प्रशाखाओं से युक्त, सघन, कुछ रोमयुक्त, ६ से १२ इञ्च तक ऊँची और सुगन्धित होती है। **पत्ते**-अवृन्त, इञ्च के अष्टमांश से चतुर्थांश के घेरे में किञ्चित् आयताकार अण्डाकार होते हैं और उन पर तैलीय धब्बे होते हैं। **फूल**—बारीक बैंगनी रंग के गुच्छों में आते हैं। **फल**—बारीक और चिकने होते हैं।

इस औषधि का पञ्चांग व्यवहार में आता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील सुगन्धित तैल ०·६%, टैनिन तथा गोंद पाया जाता है। इसमें थायमॉल (अजवायन का सत) बहुत ही थोड़ी मात्रा में होता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, सड़न को दूर करने वाली, मूत्रजनन, उत्तेजक, आंखों के लिये हितकर, श्वास एवं कफहर, ग्राही, कृमिघ्न, व्रणशोषक और व्रणरोपक है। सड़न को दूर करने का इसका गुण बहुत स्पष्ट है।

(१) इसका स्वरस, सिरका और मधु पुरानी खांसी, श्वास, कुक्कुर खांसी और घटसर्प तथा आंत्रिक व्रणों में दिया जाता है।

(२) अजीर्ण और अग्निमांद्य में सैन्धव के साथ इसको दिया जाता है। यह ग्राही है तथा इससे उदरशूल दूर होता है।

(३) वस्ति पीडा, वस्ति शोथ, तथा लसिकामेह (Chyluria) एवं मूत्र स्वच्छ न होने पर इसका क्वाथ मधु और सिरके के साथ दिया जाता है।

(४) चर्मरोग जैसे दाद, खुजली आदि में यह बहुत लाभदायी है।

(५) अग्निदग्ध व्रण पर इसका स्वरस घी के साथ लगाते हैं।

(६ सन्धिशोथ आदि में इसको रेंडी के तेल के साथ पीसकर लगाते हैं तथा इसका क्वाथ पीने को देते हैं।

(७) इसकी चटनी दृष्टि के लिये उपयोगी है।

(८) इसका धूपनार्थ प्रयोग करने से हवा शुद्ध होती है।

मात्रा—चूर्ण-१/८ से १/४ तोला। तेल-१ से ३ बूंद।

अथ पारसीकयवानीगुणानाह

पारसीकयवानी तु यवानीसदृशी गुणैः। विशेषात्पाचनी रुच्या ग्राहिणी मादिनी गुरुः ॥८०॥

खुरासानी अजवाइन के गुण—पारसीकयवानी अर्थात् खुरासानी अजवाइन का भी गुण अजवाइन के समान ही जानना चाहिये। किन्तु विशेषता यह है कि यह पाचक, रुचिकारक, ग्राही, मादक तथा परिपाक में गुरु होती है॥ ८०॥

१८ पारसीक यवानी

हि०-खुरासानी अजवायन, खुरासानी अजवाइन, खुरसानी। **बं०**-खुरासानी अजोवान। **म०**-खुरासानी ओंवा, खुरासाण ओंवा। **गु०**-खुरासाणी अजमो, छुहारी अजमोद। **ते०**-कुरासानी वाम। **ता०**-कुरासानी योमाम। **पं०**-खुरासानी अजवाइन, बजरुल। **मा०**-खुरासानी अजवाण। **क०**-खुरासानी वोमं। **फा०**-तुख्म बजे, बङ्गदिवाना, बज, तुख्मेबिनग, तुख्मेबंग। **अ०**-बज़रुल बज, अबीद शिकरान, बजुलबज, बज़रुल बिनग। **यू०**-अजवायनी खुरसानी। **अं०**-Henbane (हेनबेन)। **लै०**-*Hyoscyamus niger, Linn.* (हायोसायामस् नाइगर लिन)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसी)।

खुरासानी अजवायन केवल खुरासान देश में ही नहीं बल्कि इसके छोटे छोटे क्षुप योरप और मध्य एशिया के कई प्रान्तों के जङ्गलों तथा कूडों के ढेर पर उगे हुए रहते हैं। हमारे देश में पश्चिम हिमालय के गरम प्रान्तों में काश्मीर से गढ़वाल तक पाये जाते हैं और सहारनपुर, पूना, आगरा और अजमेर के आस पास के कितने ही स्थानों में इसकी खेती की जाती है।

इसकी अन्य जातियां H. reticulatus (हा. रेटिक्यूलेटस), तथा H. muticus (हा. म्यूटिकस-कोहीभंग) होती हैं। H. muticus (हा. म्यूटिकस) अधिक विषैली होती है तथा यह पश्चिमी पञ्जाब और सिन्ध के जङ्गली प्रदेशों तथा नदियों के किनारों पर उत्पन्न होती है एवं हा. रेटिक्युलेटस् बलुचिस्तान में होती है। इसका **पौधा**-सीधा, रोमश, चिपचिपा, उग्रगंधयुक्त एवं १-३ फीट ऊँचा होता है। **पत्ते**-धतूरे के समान, कुछ कटे किनारेवाले, दन्तुर, नीचे के सवृन्त आयताकार, अंडाकार किन्तु ऊपर के अवृन्त अंडाकार होते हैं। **पुष्प**-पीले रंग के, पांच पंखडीवाले और आकार में तमाखू के फूलों के समान होते हैं तथा उन पर जामुनी रेखायें होती हैं। **फल**-अंडाकार, १/२ इंच व्यास के एवं दो खण्डों में विभक्त होते हैं। **बीज**-भूरे, धूसर, चिपटे, वृक्काकार, या घोंघा की तरह, १·५-१·७५ × १-१·२ × ०·५-०·७ मि. मि. बड़े, धारीदार, गंधहीन एवं अल्पतिक्त होते हैं।

हा. म्यूटिकस् के बीज-पीताभ, चिपटे, गोलाई लिये हुवे चौकोर, करीब उतने ही बड़े किन्तु सूक्ष्म गढ़ेदार, अल्प उग्रगंध युक्त किन्तु स्वादहीन होते हैं। बजार में दोनों मिले हुवे मिलते हैं जिसमें अन्य पदार्थ भी मिले हुवे पाये जाते हैं।

आयुर्वेद में बीजों का तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में पत्र तथा पुष्पित अग्रभाग के विभिन्न कल्पों का उपयोग किया जाता है।

यूनानी चिकित्सकों के मत से खुरासानी अजवायन सफेद, काली और लाल तीन जाति की होती है। इनमें से काली विष के समान हानिकर और घातक मानी जाती है।

रासायनिक संगठन—इसकी पत्तियों में हायोसाएमिन (Hyoscyamine) नामक क्षाराभ तथा अल्प मात्रा में हायोसीन (Hyoscine) या स्कोपोलामाइन (Scopolamine), ॲट्रोपिन (Atropine), हायोसिप्रिन (Hyoscipprin), कोलिन (Cholin), तैल, गोंद, ॲल्ब्यूमिन तथा पोटॅशियम नाइट्रेट २% आदि पदार्थ रहते हैं। इसकी विभिन्न जातियों में क्षाराभों की मात्रा भिन्न-भिन्न रहती है। सहारनपुर तथा काश्मीर में लगाये पौधों में इनकी मात्रा प्राकृत पौधों की अपेक्षा अधिक (·०३%) होती है, तथा ब्रिटिशफार्माकोपिया के प्रतिमान (·०५५%) के करीब होती है। इसके बीजों में हायोसाएमिन (Hyoscyamine), २५% तैल, तथा राख ४-५% होती है।

गुण और प्रयोग—यह अवसादक, वेदनाहर, स्वापजनक, उद्वेष्टन निरोधी, शामक, बल्य, कनीनिका विकासि, दीपन, पाचन तथा कृमिघ्न है। यह बहुत अच्छा वेदनाहर एवं निद्राकर है। इससे अफीम के समान कब्जियत नहीं होती। इसकी क्रिया बेलाडोना की तरह होती है, लेकिन इससे मस्तिष्क कम उत्तेजित होता है और सुषुम्ना एवं आन्त्र पर इसकी अवसादक क्रिया होती है। इससे अनैच्छिक मांस पेशियों के उद्वेष्टन के कारण होने वाले शूल—जैसे नाग (Lead) शूल तथा मूत्रमार्ग प्रक्षोभ से उत्पन्न शूल—दूर होते हैं।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक, निद्राभंग, आक्षेप, नाडीशूल तथा अनेक मस्तिष्क के विकार एवं मानसिक अस्वस्थता में किया जाता है। सूखी खांसी एवं दमा में श्वसनिकाओं का संकोच दूर होकर लाभ होता है। यह विरेचक औषधियों से उत्पन्न मरोड को दूर करती है। पथरी एवं बस्तिशोथ आदि से उत्पन्न प्रक्षोभ में यवक्षार, पाठा तथा गुरुच के साथ यह बहुत गुणकारी है। अल्प मात्रा में देने से यह हृदय के लिये शामक है, और बल्य होने से हृदय की धड़कन में इससे लाभ होता है। पीडितार्तव, अनियमितार्तव में भी इसका अच्छा उपयोग होता है। मद्य के साथ इसके बीजों को पीसकर स्तनशोथ, अंडशोथ, यकृत पीडा एवं संधिशोथ में लगाने से शोथ एवं वेदना कम होती है। दांत के गड्ढे में इसके बीजों को पीस कर रखने से दंतशूल दूर होता है। इसको अंगारों पर जलाकर उसके धूएं को मुख में जाने देने से भी दंतशूल में लाभ होता है।

अधिक मात्रा में यह मादक विष है जिससे प्रलाप, संन्यास आदि होकर शीघ्र मृत्यु होती है। वृद्ध एवं दुर्बल इसकी अधिक मात्रा सहन नहीं कर सकते, लेकिन बच्चे अधिक मात्रा सहन कर सकते हैं।

मात्रा—पत्र चूर्ण १½-३ र., बीज चूर्ण १½-३ र., तरल एक्स्ट्रॅक्ट ३-६ बूंद, शुष्क एक्स्ट्रॅक्ट ½-½ र., टिंक्चर ३०-६० बूंद।

अथ शुक्लजीरककृष्णजीरककालिकानां नामानि गुणाँश्चाह

जीरको जरणोऽजाजी कणा स्याद्दीर्घजीरकः ॥ ८१ ॥
कृष्णजीरः सुगन्धश्च तथैवोद्गारशोधनः। कालाजाजी तु सुषवी कालिका चोपकालिका ॥८२॥
पृथ्वीका कारवी पृथ्वी पृथुकृष्णोपकुञ्चिका। उपकुञ्ची च कुञ्ची च बृहज्जीरक इत्यपि ॥८३॥
जीरकत्रितयं रूक्षं कटूष्णं दीपनं लघु। संग्राही पित्तलं मेध्यं गर्भाशयविशुद्धिकृत् ॥८४॥
ज्वरघ्नं पाचनं वृष्यं बल्यं रुच्यं कफापहम्। चक्षुष्यं पवनाध्मानगुल्मच्छर्द्यतिसारहृत् ॥८५॥

सफेद जीरा, स्याह जीरा तथा कलौंजी (मंगरैला) के नाम तथा गुण—उसमें से जीरक, जरण, अजाजी, कणा और दीर्घजीरक ये सब 'सफेद जीरा' के नाम हैं। कृष्णजीर, सुगन्ध और उद्गारशोधन ये नाम 'स्याहजीरा' के हैं और कालाजाजी (कोई २ काला तथा अजाजी ऐसा पृथक् दो नाम मानते हैं), सुषवी, कालिका, उपकालिका, पृथ्वीका, कारवी, पृथ्वी, पृथु, कृष्णा, उपकुञ्चिका, उपकुञ्ची, कुञ्ची और बृहज्जीरक ये सब नाम कलौंजी (मंगरैला) के हैं। **तीनों प्रकार के जीरे**—रूक्ष, कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, परिपाक में लघु, संग्राही, पित्तकारक, मेधा के लिये हितकारी, गर्भाशय को शुद्ध करने वाले, ज्वरनाशक, पाचक, वृष्य (वीर्यवर्धक), बलकारक, रुचिजनक, कफनाशक, नेत्रों के लिये हितकारी और वायु, आध्मान, गुल्म, वमन और अतिसार को भी दूर करने वाले होते हैं ॥ ८१-८५ ॥

१९ शुक्लजीरक (जीरा)

हि०—जीरा, सादाजीरा, साधारण जीरा, सफेद जीरा। **ब०**—सादाजीरे, शाहाजीरे, जीरे। **म०**—जीरें, पांढरे जीरे। **गु०**—जीरुं, शाकनु जीरुं, सादु जीरुं, धोळु जीरुं। **क०**—जीरिगे, विलिय जिरिगे विलिय जीरगे। **ते०**—जिलकारा, जील करर, जील कर्र। **ता०**—शीरागम। **यू०**—रवामुने। **फा०**—जीरये सफेद। **अ०**—कमून अबियज़। **अं०**—Cumin seed (क्युमिन सीड)। **ले०**—*Cuminum cyminum Linn.* (क्युमिनम् साइमिनम्, लिन.)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

जीरा—एक सर्वप्रसिद्ध मसाले की वस्तु है। आसाम और बंगाल के सिवा प्रायः सब प्रान्तों में विशेषकर राजपूताना और उत्तर भारत के कई प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है।

यह खेतों में प्रति वर्ष बोया जाता है। इस क्षुप जाति की वनस्पति की शाखायें पतली होती हैं। **पत्ते**—सौंफ के पत्तों के समान पतले-पतले, लम्बे तथा २-३ एक साथ रहते हैं। बारीक सफेद फूलों के छत्ते लगते हैं। **फल**—सौंफ के समान होता है ॥ १८ ॥

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धि, उडनशील तथा हलके पीले रङ्ग का तैल २·५-४% पाया जाता है। इस तैल में क्यूमिक ॲल्डिहाइड (Cumic aldehyde) की मात्रा ५२% तक होती है जिसके अन्दर कई रासायनिक पदार्थ होते हैं। इस तैल को कृत्रिम रूप से थाइमॉल् (Thymol = अजवाइन का सत्व) में परिवर्तित किया जा सकता है जो अच्छा प्रतिदूषक (Antiseptic) और कृमिघ्न पदार्थ है। इसके अतिरिक्त इसमें स्थिर तैल १०% एवं पेन्टोसान (Pentosan) ६·७% होता है।

गुण और प्रयोग—यह पाचक, वातानुलोमक, मूत्रविरजनीय, वेदनाहर, उत्तेजक एवं संग्राही है। इसका उपयोग वमन, अतिसार, अपचन, आध्मान, ज्वर तथा मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान के रोग जैसे सुजाक, पथरी एवं मूत्रावरोध में किया जाता है। बालकों के पाचन के विकारों में यह अधिक उपयोगी है।

(१) ज्वर में पाचन सुधरकर भूख बढ़ती है, पेशाब साफ होती है और दाह शांति होती है इसमें गुड के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये।

(२) अतिसार में दही के साथ इसको दिया जाता है। जीरकाद्यमोदक का उपयोग जीर्ण अतिसार, अपचन एवं अग्निमांद्यादि रोगों में किया जाता है। गर्भिणी में पित्तजन्य वांति में नींबू के रस के साथ देने से लाभ होता है।

(३) सुजाक आदि में निम्न चूर्ण १० रत्ती की मात्रा में देने से लाभ होता है—जीरा ४, खूनखराबा २, कलमीशोरा ५, धनियां ५ तथा गुलाब २ भाग।

(४) प्रसूता को देने से दुग्ध वृद्धि होती है।

(५) हिचकी में घृत के साथ इसका धूम्रपान बहुत उपयोगी है।

(६) इसको स्वरभंग एवं सर्पविष में भी उपयोगी बतलाया गया है।

(७) इसका बाह्यलेप पीडाहर है एवं यह अर्श, स्तन, अण्डकोष तथा उदर की पीड़ा पर लगाया जाता है और घृत, मधु एवं नमक के साथ बिच्छू के काटने पर लगाने से लाभ होता है। इसके क्वाथ से स्नान करने से खुजली दूर होती है तथा इससे सिद्ध तैल का चर्मरोगों में उपयोग होता है।

मात्रा—½-२ माशा

२० कृष्ण जीरक

हि०–काला जीरा, स्या जीरा, स्याह जीरा, कृष्णजीरा। **बं०**–काल जीरें, कृष्णजीरा। **म०**–शहाजीरें, शाहाजीरं, कालेजीरे। **गु०**–स्याजीरुं। **क०**–करिजीरके, करिजिरिगे। **ते०**–शिमइसपू। **ता०**–शिमद्द शोम्बु। **मा०**–स्याजीरो। **चनाब०**–गूंयूं। **फा०**–सियाहजीरा, स्याहजीरा, जीरेस्याह, जीरयेस्याह। **अ०**–कमूने किरमानी, कमून अस्वद। **अं०**–Black Caraway seed (ब्लक कॅरावे सीड)। **ले०**–*Carum carvi Linn.* (कॅरम् कॅरुइ)। Fam. Umbelliferae (अम्बेलिफेरी)।

इसका **क्षुप** उत्तरी हिमालय के पहाड़ी भागों में उत्पन्न होता है। इसकी खेती भारत के मैदानी भागों में एवं काश्मीर, कुमाऊँ, गढवाल, चम्बा आदि पहाड़ी स्थानों में की जाती है। यह अफगानिस्तान एवं ईरान में भी होता है। यह १-२ फूट ऊँचा, **शाखा**–कोमल, हरित, एकांतर; **पत्र**–बहुविभक्त; **पुष्प**–श्वेत, छत्राकार; **फल**–कुछ टेढ़ापन लिये लंबे, सुगंधि, भूरापन लिये हुये काले, करीब ७ मि० मि० तक लंबे एवं २ मि० मि० चौड़े एवं दोनों सिरों पर नोकीले होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल ३·१-७% पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक और स्तन्यजनन है। आध्मान, उदरशूल, अतिसार, अपचन, जीर्णज्वर आदि में इसका उपयोग किया जाता है। प्रसूतिकाल में दूध बढ़ाने के लिए इसको देते हैं। यूरोप में इसको शान्तिदायक, मस्तिष्क के लिए उत्तेजक और अपतंत्रक में उपयोगी मानते हैं।

(१) इसके तैल का उपयोग अन्य औषधियों को सुगन्धित करने के लिए एवं उनसे उत्पन्न हृल्लास और मरोड़ को दूर करने के लिए किया जाता है।

(२) इसके अर्क का उपयोग बच्चों का पेट फूलना, शूल आदि में अनुपान के रूप में किया जाता है।

(३) अर्श में सूजन हो तो इसके क्वाथ से सेकने से लाभ होता एवं गर्भाशय की पीडा में स्त्री को इसके क्वाथ में बैठाते हैं।

मात्रा—½-२ माशा।

नोट—एक अन्य प्रकार के जीरक का वर्णन जिसे संस्कृत में **अरण्यजीरक** और लैटिन में वर्नोनिया ॲन्थेलमिन्टिका; कॉम्पोसिटी (Vernonia anthelmintica Willd; Fam. Compositae) कहते हैं, परिशिष्ट में देखें।

२१ कालाजाजी (कलौंजी)

हि०–कलोंजी, कलवंजी, कलौंजी, मँगरेला, मंगरैल, मंगरैला। **बं०**–मोटा कालेजीरे, मोटकालजीर। **म०**–कलौंजी जीरें, कालेजीरे। **गु०**–कलौंजी जीरुं। **क०**–करि जीरिगे। **ते०**–नल्लजील कारा। **फा०**–स्याहदाना। **अ०**–हब्बतुस्सोदा, शोनिझ। **अं०**–Black cumin (ब्लॅक् क्युमिन्), Small fennel (स्मॉल फेनेल), Nigella seed (निगेल्ला सीड)। **ले०**–*Nigella sativa Linn.* (निगेला सॅटिवा, लिन.)। Fam. Ranunculaceae रेनन्क्युलेसी)।

कलोंजी हमारे देश का सर्व प्रसिद्ध एक गरम मसाला है। यह प्रायः पूर्व के प्रान्तों में एवं बिहार और पञ्जाब में अधिक बोई जाती है। दक्षिणी यूरोप तथा सीरिया में भी यह उत्पन्न होती है। इसका **क्षुप** छोटा, **पत्ते** लम्बे तथा कटे हुए, **फूल**–हलके नीले रंग के और **फलियां** ½ इञ्च लम्बी होती हैं। **बीज**–त्रिकोणाकार, तिल के समान पर तिल से किञ्चित् मोटे और अत्यन्त काले रङ्ग के होते हैं। इसका गूदा सफेद होता है और इसमें तीव्र गन्ध होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें पीले रंग का उड़नशील तैल ०·५-१·४%, स्थिर तैल ३७·५%, राल, ॲल्ब्यूमिन्, शर्करा, गोंद, टॅनिन, ग्लूकोसाइड, मेलान्थिन, मेलान्थेजेनिन (१%) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धित, वातानुलोमक, दीपन, पाचन, गर्भाशय शुद्धिकर, स्तन्यवर्धक, स्वेदल एवं कृमिघ्न है। इसका उत्सर्ग त्वचा, वृक्क एवं स्तन द्वारा होता है तथा इनके स्रावों की वृद्धि होती है। अधिक मात्रा में इसके सेवन से शरीर की उष्णता बढ़ती है, नाड़ी की गति बढ़ती है तथा साथ ही साथ गर्भाशय संकोच होकर गर्भपात की भी संभावना रहती है।

सूतिका में इसका उपयोग चित्रकमूल के साथ करने से भूख बढ़ती है, पाचन ठीक होता है, गर्भाशय शुद्ध होता है तथा दूध भी बढ़ता है। पीडितार्तव वा नष्टार्तव में यह उपयोगी है। सूतिका ज्वर तथा विषमज्वर में इसका उपयोग किया जाता है। अग्निमांद्य, कुपचन तथा आध्मान आदि में अन्य औषधियों के साथ इसका प्रयोग लाभदायक है। हिचकी में मट्ठे के साथ देने से लाभ होता है। विरेचक औषधियों के साथ इसके उपयोग से मरोड़ नहीं होने पाती। यह मसाले के रूप में भी व्यवहार में आता है। इसका लेप हाथ और पैरों की सूजन पर करने से दर्द दूर होकर सूजन कम होती है। त्वक् रोगों में इससे सिद्ध तैल का व्यवहार करते हैं तथा इसका आंतरिक प्रयोग भी करते हैं।

मात्रा ½-१ माशा। **हानिकर**—गर्भिणी के लिये।

अथ धान्यकस्य नामानि गुणाँश्चाह

धान्यकं धानकं धान्यं धाना धानेयकं तथा। कुनटी धेनुका छत्रा कुस्तुम्बुरु वितुन्नकम् ॥८६॥
धान्यकं तुवरं स्निग्धमवृष्यं मूत्रलं लघु। तिक्तं कटूष्णवीर्यञ्च दीपनं पाचनं स्मृतम् ॥ ८७ ॥
ज्वरघ्नं रोचकं ग्राहि स्वादुपाकि त्रिदोषनुत्। तृष्णादाहवमिश्वासकासकार्श्यक्रिमिप्रणुत्॥८८॥
आर्द्रन्तु तद्‌गुणं स्वादु विशेषात्पित्तनाशनम्[1] ॥ ८८ ॥

धनियां के नाम तथा गुण—धान्यक, धानक, धान्य, धाना, धानेयक, कुनटी, धेनुका, छत्रा, कुस्तुम्बरु और वितुन्नक ये सब 'धनियां' के नाम हैं। **धनियां**—कषायरसयुक्त, स्निग्ध, अवृष्य, मूत्रजनक, लघु, तिक्त तथा कटुरस युक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, पाचक, ज्वरनाशक, रोचक, ग्राही, परिपाक में मधुररसयुक्त, त्रिदोष को दूर करने वाली, तृष्णा (प्यास), दाह, वमन, श्वास, कास, कृशता तथा कृमिरोग का नाश करने वाली है। कच्ची धनियां के भी गुण

१. 'पित्तनाशि तदि'ति पाठा०।

'धनियाँ' ही के समान हैं किन्तु विशेषता यह है कि यह मधुर रस युक्त तथा पित्त की विशेष रूप से नाशक होती है ॥ ८६-८८ ॥

२२ धनियां

हि०—धनियां। **बं०**—धने। **म०**—धने,। कोथिंबीर, धणे। **गु०**—धाना, धाणा, कोथमीर। **क०**—कोथुंबुरी, कोथम्बरी, हविज। **ते०**—कोत्तिमिरि, धनियलु। **ता०**-कोटमल्लि, कोतमल्ली। **सिन्ध०**-धानु। **फा०**-कश्नीज। **अ०**-कज़बुरा, कजबुरह। **अं०**—Coriander fruit (कोरिॲण्डर फ्रूट)। **ले०**—*Coriandrum sativum Linn.* (कोरिएण्ड्रम् सॅटिवम् लिन)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में एवं विदेशों में भी इसकी उपज की जाती है।

इसका **पौधा** १-२ फुट ऊँचा, **शाखायें**-चिकनी, **पत्ते**-विषमवर्त्ती, जड़ के निकटवाले पत्ते गोलाकार, ३-४ या ५ भागों में विभक्त, प्रत्येक भाग कटे किनारे वाले और कँगूरेदार तथा शाखाओं के **पत्ते** सोआ, चनसुल आदि के पत्तों के समान होते हैं। **फूल**-छत्ते से सोया के फूल के समान सफेद या किंचित् गुलाबी रंग के आते हैं। **फल**-नन्हें नन्हें, अण्डाकार, गुच्छों में छत्राकार लगते हैं। सूखने पर वे दो टुकड़े होकर धनिये के नाम से बिकते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक उड़नशील तैल ०.५-१% तक पाया जाता है जिसमें ४५-५५% कोरिएण्ड्रॉल (Coriandrol, $C_{10}H_{18}O$) तथा कुछ अन्य पदार्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें स्थिर तैल १३%, वसीय पदार्थ १३%, गोंद, टॅनिन, मॅलिक् एसिड तथा राख ५% आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—धनियां मूत्रल, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, संग्राही, दाहशामक एवं पिपासाघ्न है।

इसका उपयोग नेत्र रोग, ज्वरजन्यदाह, वमन, अतिसार, आमाजीर्ण, आध्मान, शूल आदि में किया जाता है। मसाले के रूप में, अनेक औषधियों को सुगन्धित करने के लिए तथा विरेचक औषधियां जैसे सनाय रेवाचीनी आदि से मरोड़ न हो इसलिए इसका व्यवहार किया जाता है।

(१) ज्वर में दाह एवं प्यास की शान्ति के लिए इसका शीत कषाय मिश्री तथा मधु मिलाकर पिलाते हैं।

(२) नेत्राभिष्यन्द में इसके क्वाथ को छानकर नेत्र बिन्दु के रूप में डालने से लाभ होता है। पहले एरण्ड तैल डालकर फिर इसका प्रयोग करना चाहिये। शीतला में आँख धोने के लिये इसके जल का व्यवहार किया जाता है जिससे उत्तरकालीन नेत्राभिष्यन्द एवं नेत्रव्रण आदि उपद्रवों का प्रतिषेध होता है।

(३) इसके तैल का व्यवहार वातनाड़ी शूल एवं जोड़ों के दर्द में करते हैं तथा बच्चों के आध्मान जन्य शूल में १-४ बूँद मिश्री के साथ देते हैं।

(४) कच्ची धनियां का लेप सरदर्द तथा भिलावे से उत्पन्न दाह पर किया जाता है।

(५) पुराने घाव, सूजन तथा विषैले फोड़ों पर यवके आटे के साथ इसकी पुल्टिस उपयोगी है।

(६) इसके क्वाथ में मिश्री मिलाकर रक्तार्श में देने से लाभ होता है।

(७) क्षोभशामक होने के कारण धनियां के शीत कषाय का उपयोग अनुपान या सहपान के रूप में स्वप्नमेह एवं श्वेतप्रदर में किया जाता है।

(८) जीर्ण प्रतिश्याय में धनियां का फाण्ट या बीजों का चूर्ण मिश्री के साथ प्रयुक्त होता है।

मात्रा—१ - ४ माशा।

अधिक मात्रा में सेवन से कामशक्ति का ह्रास तथा स्त्रियों में मासिक धर्म रुक जाता है। दर्पनाशक—मधु, दालचीनी और अण्डा।

अथ शतपुष्पामिश्रेययोर्नामानि गुणांश्चाह

शतपुष्पा शताह्वा च मधुरा कारवी मिसिः। अतिलम्बी सितच्छत्रा संहितच्छत्रिकाऽपि[1] च॥
छत्रा शालेयशालीनौ मिश्रेया मधुरा मिसिः। शतपुष्पा लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः॥
उष्णा ज्वरानिलश्लेष्मव्रणशूलाक्षिरोगहृत्। मिश्रेया तद्गुणा प्रोक्ता विशेषाद्योनिशूलनुत्॥
अग्निमान्द्यहरी हृद्या बद्धविट्कृमिशुक्रहृत्। रूक्षोष्णा पाचनी कासवमिश्लेष्मानिलाञ्जयेत्॥

सोया और सौंफ के नाम तथा गुण—शतपुष्पा, शताह्वा, मधुरा, कारवी, मिसि, अतिलम्बी, सितच्छत्रा तथा संहितच्छत्रिका ये नाम सोये के हैं और छत्रा, शालेय, शालीन, मिश्रेया, मधुरा और मिसि ये सब नाम सौंफ के हैं। **सोया**—परिपाक में लघु, तीक्ष्ण, पित्तकारक, अग्निदीपक, कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य तथा ज्वर, वातश्लेष्म, व्रण, शूल और नेत्रसम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली है और **सौंफ** के भी सोये के समान ही गुण हैं किन्तु विशेष करके यह योनिसम्बन्धी शूल को दूर करने वाली, अग्नि की मन्दता को नाश करने वाली, हृदय के लिये हितकारक, मल की विबद्धता को दूर करने वाली, कृमि तथा शुक्र का नाश करने वाली, रूक्ष, उष्णवीर्य पाचक एवं कास, वमन, कफ तथा वायु को दूर करने वाली होती है ॥ ८९-९२ ॥

२३ सोआ

हि०-सोआ, सोया, सोवा, वनसौंफ। **बं०**-शुलफा, शुल्फा। **पं०**-सोया। **म०**-बाळंत शोप, शेपु। **क०**-सब्बसिगे। **गु०**-सुवा। **ते०**-पुशतकुपिविद्दुलु, सोम्पा। **मा०**-सोवा, सुवा। **ता०**-शतकुप्पी विरइ। **अं०**-Indian dill fruit (इन्डियन डिल फ्रुट)। **ले०**-Anethum sowa Kurz (अनेथम् सोवा)। *Peucedanum graveolens Linn.* (प्यूसिडॅनम् ग्रॅवियोलेन्स लिन) Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

युरोपीय जाति प्यूसिडॅनम् ग्रॅवियोलेन्स (Peucedanum graveolens) से भारतीय जाति में कुछ अन्तर होने के कारण भारतीय जाति को अनेथम सोवा (Anethum sowa) कहते हैं।

इस देश के सब प्रान्तों में विशेषकर गरम और शीत गरम प्रान्तों में इसकी खेती शीत ऋतु में की जाती है।

यह क्षुप जाति की वनस्पति १-३ फुट तक ऊँची होती है। **पत्ते**-कई भागों में विभक्त, बारीक और अत्यन्त कोमल होते हैं। **फूल**-छत्राकार किञ्चित् पीले रंग के होते हैं। फल-अंडाकार, चिपटे, उन्नतोदर, किनारे पर सपक्ष एवं प्रायः दोनों अर्धखण्ड मिले हुवे तथा आधार पर पतला डण्ठल लगा रहता है। ये विदेशी बीजों से कम चौड़े तथा अधिक उन्नतोदर और इनके पृष्ठ भाग की धारियां हलके रंग की होती हैं।

---

१. 'संहिते'ति पाठा०।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में ३-३.५% एक उड़न शील तैल पाया जाता है। इस तैल में डिल एपिओल (Dill-apiole, $C_{12}H_{14}O_4$) नामक एक तैलीय पदार्थ रहता है जो पारस्ले एपिओल (Parsley apiole, $C_{12}H_{14}O_4$) के सदृश होते हुवे भी गुणों में उससे पृथक् (Isomeric = आइसोमैरिक्) रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें एक तरल हाइड्रोकार्बन अॅनीथेन् (Hydrocarbon-anethene, $C_{10}H_{16}$) और कारवोन (Carvone) सदृश पदार्थ रहता है। विदेशी और भारतीय तैल में थोड़ा अन्तर होता है।

गुण और प्रयोग—सोआ दीपन, पाचन, वातानुलोमक, सुगन्धि, उत्तेजक, वातहर, गर्भाशय उत्तेजक एवं दुग्धवर्धक है।

बालकों के पचन विकारों में, विशेषकर आध्मान एवं शूल में चूने के जल के साथ इसके अर्क का बहुत व्यवहार किया जाता है। प्रसूता में भी वमन, अजीर्ण, हिक्का, आध्मान, शूल तथा दुग्ध वृद्धि आदि के लिये इसके क्वाथ का प्रयोग किया जाता है। अनार्तव में भी इसका प्रयोग करते हैं। केस और म्हसकर के मतानुसार अंकुश कृमि (Hookworm) में यह उपयोगी है।

(१) अतिसार में मेथी और सोआ घी में भूनकर देते हैं।

(२) इसके पत्तों को तेल लगा कर गरम करके फोड़े फुन्सियों पर बांधने से वे जल्दी पक जाते हैं।

(३) इसके पत्ते तथा मूल को पीसकर जोड़ों की सूजन पर बांधने से लाभ होता है।
(४) विरेचक औषधियों के साथ इसके तैल या अर्क के व्यवहार से मरोड नहीं होती।
(५) चरक की राजयक्ष्मा की चिकित्सा में पार्श्वशूलहर लेप में इसका उल्लेख है।

मात्रा—फल चूर्ण – १-४ माशा, तैल—१-३ बूंद, अर्क—½-१ औंस।

संकेन्द्रित जल (ॲका कन्सॅन्ट्रेटा = Aqua Concentrata)—५-१५ बूंद।

२४ सौंफ

हि०—सौंफ, बड़ी सौंफ, सउँफ। **बं०**—मौरी, पान मौरी। **म०**—बड़ी शेपते **गु०**—वरीआली, वलीयारी। **क०**—वड्डी सोपु, सब्बसिगे। **मा०**—सोंफ। **प०**—सोंफ। **ते०**—सोपु, पेद्दजिलकुर्रा। **ता०**—सोहिकिरे, शोम्बु। **फा०**—राजयानज, राजयाना, बादियां, बादियान, राजियानह। **अ०**—एजियानज़, असलुल एजियानज़, राज़ियाज़। **अं०**—Fennel Fruit (फेन्नेल फ्रूट)। **ले०**—*Foeniculum vulgare Mill.* (फिनिक्यूलम् वल्गेरि); Syr.-Anethum foeniculum (एनेथम् फिनिक्यूलम्)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में यह बोई जाती है।

इसका **क्षुप** लम्बा, **पत्ते**—कई भागों में विभक्त सोये के पत्तों के समान, **फूल**—छत्राकार किञ्चित् पीले रंग के और **फल**—६ से ७ मि. मि. लम्बे, ४ मि. मि. चौड़े, आयताकार, प्रायः अखण्डित एवं डंठल युक्त होते हैं। नये **बीज** हरे रंग के और पुराने होने पर पीलापन युक्त हो जाते हैं। जिन फलों का तेल निकाल लिया जाता है उनमें तैल की मात्रा कम हो जाती है और उनकी गन्ध भी कम होती है तथा वे अधिक गहरे रंग के हो जाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल १-२.९% और स्थिर तैल ८.८-१५.८% रहता है। इस उड़नशील तैल में एनीथॉल् (Anethol) ६०% तथा फेनकोन् (Fenchone)

आदि कुछ अन्य पदार्थ रहते हैं। विदेशी सौंफ की अपेक्षा भारतीय सौंफ में इस तैल की मात्रा कम रहती है।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, दाहप्रशमन एवं मूत्रविरजनीय है।

इसका उपयोग विशेषरूप से मसाले के रूप में एवं मादक पेयों में सुगन्धि के लिये किया जाता है। इसका अर्क बच्चों के पाचन के विकार जैसे आध्मान, शूल आदि में दिया जाता है और अन्य औषधियों के अनुपान के रूप में भी व्यवहार करते हैं। इसका व्यवहार आमातिसार, अजीर्ण, आध्मान, ज्वर, खांसी, श्वास, वृक्करोग, प्लीहा वृद्धि, अनार्तव तथा दृष्टिमांद्य आदि रोगों में किया जाता है।

(१) इसको पीसकर पीने से पेशाब की जलन दूर होकर पेशाब साफ होती है।
(२) सूखी खांसी और मुख के विकारों में इसे मुख में रखने से लाभ होता है।
(३) इसके पत्र सुगन्धि, मूत्रल और स्वेदजनक होते हैं।
(४) इसका मूल विरेचक होता है।
(५) इसके फलों को पीसकर लेप करने से गरमी के दिनों में होने वाला चक्कर तथा शिरःशूल दूर होता है।
(६) आध्मान में इसके क्वाथ से बस्ति देने से लाभ होता है।

मात्रा—४ रत्ती से २ माशा तक।

नोट—एक अन्य प्रकार की सौंफ जिसे 'बादियाण' (Pimpinella anisum Linn. पिंपिनेला एनिसम्) कहते हैं उसका वर्णन परिशिष्ट में देखें।

अथ मेथीवनमेथीनामगुणानाह

**[1]मेथिकामेथिनी मेथी दीपनी बहुपत्रिका। बोधिनी बहुबीजा च ज्योतिर्गन्धफला[2] तथा।
वल्लरी चन्द्रिका मन्था मिश्रपुष्पा च कैरवी। कुञ्चिका बहुपर्णी च पीतबीजा[3] मुनिच्छदा॥
मेथिका वातशमनी श्लेष्मघ्नी ज्वरनाशिनी। ततः स्वल्पगुणा वन्या[4] वाजिनां सा तु पूजिता॥**

मेथी तथा वनमेथी के नाम तथा गुण—मेथिका, मेथिनी, मेथी, दीपनी, बहुपत्रिका, बोधिनी, बहुबीजा, ज्योतिः, गन्धफला, वल्लरी, चन्द्रिका, मन्था, मिश्रपुष्पा, कैरवी, कुञ्चिका, बहुपर्णी, पीतबीजा और मुनिच्छदा ये सब नाम मेथी के हैं। **मेथी**—वायु को शमन करने वाली, कफ को दूर करने वाली तथा ज्वर को नष्ट करने वाली है और **वनमेथी**—मेथी की अपेक्षा कम गुण वाली होती है, किन्तु वह घोड़ों के लिये अत्यन्त उत्तम (हितकर) होती है॥ ९३-९५॥

२५ मेथी

हि०—मेथी। **पं०-बं०-म०-गु०**—मेथी। **ते०**—मेंडुलु, मेंतुलु, मेंति। **ता०**—वण्डयम्, वेंडयम, वेन्दयम। **क०**—मेंत्रे। **मल**—उलव। **फा०**—तुख्मशमलीत। **अ०**—बजरुल हुल्बा, बजरुलहुल्बह, हुलबह।

---

१. 'मिथिनी'ति पाठा०। २. 'जाती'ति पाठा०।
३. 'पित्तजिदायुवृद्धिदे'ति पाठा०। ४. 'मल्येऽ'ति पाठा०।

अं०–Fenugreek (फेनुग्रीक)। **ले०**–*Trigonella foenumgraecum Linn.* (ट्राइगोनेल्ला फोएनम् ग्रेइकम्) । Papilionaceae (पॅपिलिओनेसी) ।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है परन्तु पञ्जाब और काश्मीर में यह आपही आप जङ्गल में उत्पन्न होती है ।

इसका **क्षुप** ६ इञ्च से १६–१७ इञ्च तक ऊँचा होता है । **पत्ते** संयुक्त एवं प्रत्येक सींक पर तीन तीन पत्रक रहते हैं और वे आध से एक इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार और बारीक कंगूरेदार होते हैं । **फूल**–नन्हें नन्हें हलके पीत रङ्ग के आते हैं । **फलियाँ**–गोल २–३ इञ्च लम्बी कुछ टेढ़ी सी नोकदार रहती हैं । प्रत्येक से १०–२० पीले रङ्ग के दाने निकलते हैं । इन्हीं का चिकित्सा में अधिक उपयोग करते हैं ।

रासायनिक सङ्गठन—इसके **सूखे पञ्चाङ्ग** में प्रोटीन (Protein) की मात्रा १६%रहती है जिसमें से इसके ग्लोब्यूलिन (Globulin) में हिस्टॅडीन् (Histadine) की काफी मात्रा रहती है । इसके ॲल्ब्यूमिन् (Albumin) भाग में फॉस्फोरस् (Phosphorus) तथा गन्धक रहता है ।

इसके **बीजों** में ट्रिगोनेल्लिन (Trigonelline, $C_7 H_7 O_2 N$), कोलीन (Choline) आदि क्षाराभ, एक पीत रञ्जक पदार्थ, स्थिरतैल ६%, प्रोटीन २२% तथा गोंद २८% रहता है । बीजों को जलाने से इसमें ७%राख निकलती है जिसमें से ⅓ फॉस्फोरिक् एसिड (Phosphoric acid) रहता है । इसके बीजों में फॉस्फेट्स (Phosphates), लेसिथिन् (Lecithin) और न्यूक्लिओ ॲल्ब्यूमिन् (Nucleo-albumin) रहने के कारण ये कॉडलिवर ऑइल (Cod-liver oil) के समान पोषक तथा बलकारक होते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसके बीज स्निग्ध, सुगन्धि, वातानुलोमक, अग्निदीपक, आध्मानहर, बल्य, वृष्य, वातहर, गर्भाशय सङ्कोचक, दुग्ध वृद्धिकर एवं शोथघ्न होते हैं । इसके पत्र शीतल, दाहशामक, शोथहर एवं मृदु विरेचक होते हैं ।

(१) इसके बीजों से बनाये लड्डू का व्यवहार प्रसूता में किया जाता है जिससे भूख बढ़ती है, मल शुद्धि और आर्तवशुद्धि होती है । अजीर्ण, अग्निमांद्य, आमवात, एवं कामशक्ति की कमज़ोरी में भी ये उपयोगी हैं ।

(२) रक्तातिसार एवं मसूरिका में इसके बीज भूँनकर और फिर उसका फांट बनाकर देते हैं ।

(३) शरीर की पीड़ा में इसके बीजों को ½–१ तोला की मात्रा में खिलाने से लाभ होता है ।

(४) दुग्ध वृद्धि के लिये इसकी लप्सी बनाकर प्रसूता को दी जाती है ।

(५) घी में भुने हुये मेथी के बीज, बादियाण और नमक का व्यवहार अतिसार रोकने के लिये करते हैं ।

(६) इसके बीजों को कॉडलिवर आइल के स्थान पर दे सकते हैं और इसका व्यवहार गण्डमाला, फक्करोग, पाण्डु, वातरक्त, मधुमेह और औपसर्गिक रोगजन्य दौर्बल्य में किया जाता है ।

(७) मिस्र में ज्वर रोकने के लिये इसको अङ्कुरित करके खिलाते हैं । मधुमेह में भी इससे लाभ होता है ।

(८) चर्म को मुलायम और स्वच्छ रखने के लिये इसके बीजों का उपयोग किया जाता है । बालों के झड़ने पर तथा सूजन पर इसका लेप उपयोगी है । श्वेतप्रदर में इसकी पेसरी को धारण कराया जाता है ।

(९) इसके पत्तों का भी लेप सूजन एवं दाह में किया जाता है । लू लगने में इसके पत्तों को पीसकर शरीर पर मलते हैं तथा आन्तरिक व्यवहार भी करते हैं जिसमे दाह की शान्ति होती है । अल्पमूल्य में बल्य एवं पोषक होने के कारण पशुओं को भी खिलायी जाती है ।

मात्रा—चूर्ण ¼–½ तोला ।

२६ वनमेथी

हि०—वनमेथी, जङ्गली मेथी । **पं०**—सिंजी । **सिन्ध**—जिर । **अ०**–अक्लिल्–उल्–मलिका । **अं०**–Sweet-cloves (स्वीट् क्लोव्स्) । **ले०**—*Melilotus parviflora Desf.* मेलिलोटस् पार्विफ्लोरा); Syn.—Trifolium indicum Linn. (ट्रिफोलिअम् इण्डिकम्) । Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) ।

पश्चिम प्रायद्वीप, बंगाल और उत्तरप्रदेश आदि स्थानों में यह आप ही आप उत्पन्न होती है ।

इसका **क्षुप**—३० से ४५ मि० मि० ऊँचा तथा वर्षायु होता है । **पत्र**—संयुक्त तथा त्रिपत्रक होते हैं । **पत्रक**—१२ से १६ × ८ से १० मि० मि०, दन्तुर, अर्धमालाकार या अर्ध अंडाकार होते हैं । पुष्प—सूक्ष्म, पीतवर्ण की मंजरियों में आते हैं । फली—दीर्घवृत्ताकार, दबी हुई, दोनों छोर पर पतली एवं २.५ मि० मि० लंबे एक बीज युक्त होती है ।

गुण और प्रयोग—इसके बीज ग्राही होते हैं तथा उदरशूल, अतिसार और आंत्र के विकारों में लाभदायक है । इसका व्यवहार कष्टार्तव, आमवात, गण्डमाला आदि में तथा रक्त शुद्धि के लिये किया जाता है । बच्चों के अतिसार में इसकी लप्सी का व्यवहार करते हैं ।

अथ चन्द्रशूरस्य नामानि गुणाँश्चाह

चन्द्रिका[1] चर्महन्त्री च पशुमेहनकारिका । नन्दिनी कारवी भद्रा वासपुष्पा[2] सुवासरा ॥९६॥
चन्द्रशूरं हितं हिक्कावातश्लेष्मातिसारिणाम् । असृग्वातगदद्वेषि बलपुष्टिविवर्द्धनम् ॥९७॥

चनसूर के नाम तथा गुण—चन्द्रिका, चर्महन्त्री, पशुमेहनकारिका, नन्दिनी, कारवी, भद्रा, वासपुष्पा और सुवासरा ये नाम चनसूर के हैं । **चनसूर**—हिचकी, वात-श्लेष्मा और अतिसार ग्रस्त रोगी तथा रक्तवातग्रस्त रोगियों के लिए हितकर है और बल तथा पुष्टिवर्धक भी है ॥९६–९७॥

२७ चन्द्रिका (हालों)

हि०—हालों, हालिम, चनसुर, चन्दसुर, चन्द्रशूर । **बं०**—हालिम, हालिमा, हालो, चान्दसूर, अलेवेरी । **म०**—आलीव, हलिम, अहालीव । **गु०**—अशेलीओ, अशेरिया, आशाल बीज । **यू०**—तरम राह के बीज । **फा०**—तुख्म तरह तेजक । **अ०**—बाजरुज्जरजीर । **कुमा०**—हालिम । **ता०**—अलिविरइ । **ते०**—अदित यलु । **प०**—तेजक । **सि०**—अहेरो । **क०**—अलिबीज । **अं०**—Common Cress (कॉमनक्रेस) । **ले०**—*Lepidium sativum Linn.* (लेपिडियम् सेटिवम्) Fam. Cruciferae (क्रुसिफेरी) ।

यह सब प्रान्तों में बोया जाता है । इसका **क्षुप**—१ से ३ फीट ऊँचा, मसृण या कुछ रोंएदार होता है । पत्ते—विभक्त होते हैं । पुष्प—सफेद तथा छोटे होते हैं । **फल**—०.२ इञ्च, चिपटे,

---

१. 'चन्द्रिकाया' इति पाठा० । २. 'वामपुष्पे'ति पाठा० ।

अण्डाकार परन्तु अग्र पर भीतर की तरफ दबे हुये रहते हैं। **बीज**—छोटे, लाल तथा जल में डालने पर लुआबदार होते हैं। अधिकतर इसके बीजों का उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक सुगन्धि उड़नशील तथा स्थिर तैल पाया जाता है। इसमें आयोडीन (Iodine), लोह, फॉस्फेटस् (Phosphates), पोटैश (Potash), कुछ लवण, एक तिक्त सत्व एवं जल आदि पदार्थ रहते हैं तथा गन्धक अधिक मात्रा में रहता है। इसके ग्लुकोसाइड (Glucoside) को ग्लुकोट्रोपोइओलिन (Glucotro-poeolin) कहते हैं।

गुण और प्रयोग—चनसुर रसायन, बल्य, वाजीकर, उत्तेजक, आनुलोमिक, दुग्धवर्धक एवं शूलहर है। इसका उपयोग प्रसूतावस्था, रक्तदोष, त्वचा के रोग, नेत्र रोग, यकृत और प्लीहा की जीर्ण वृद्धि, ग्रन्थिरोग, रक्तार्श, श्वास, कास एवं अतिसार आदि में किया जाता है।

(१) इसके फांट का व्यवहार आमाशय के प्रक्षोभ से उत्पन्न हिक्का में किया जाता है। इसको बार-बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पिलाना चाहिये। इसी प्रकार प्रक्षोभजन्य अतिसार एवं ग्रहणी में भी इससे लाभ होता है।

(२) गरी के साथ इसको बर्फी या दूध में लप्सी बनाकर प्रसूता को दिया जाता है। यह रसायन, पौष्टिक तथा दुग्धवर्धक है। इससे कटिशूल एवं श्वेतप्रदर में भी लाभ होता है। दूध में उबाल कर गर्भपात कराने के लिए प्रयोग में लाते हैं। पुरुषों के लिए भी यह रसायन तथा वाजीकर है एवं इसका व्यवहार शरीर की ऊँचाई बढ़ाने के लिए करते हैं।

(३) मिश्री के साथ इसका चूर्ण कुपचन, अतिसार एवं ग्रहणी आदि में देते हैं।

(४) नींबू के रस में पीसकर इसका लेप कटिशूल, आन्तरिक शोथ, आमवात तथा सन्धिशूल आदि में करते हैं।

(५) इसके पत्र मूत्रल तथा उत्तेजक होते हैं एवं इनका सलाद प्रशीताद (Scurvy = स्कर्वी) नामक रोग में व्यवहार में लाया जाता है।

(६) इसकी जड़ का व्यवहार फिरङ्ग तथा निस्तानिका (Tenesimus = टेनेस्मस्) में किया जाता है।

मात्रा—½-१ तो०।

अथ चतुर्बीजगुणानाह

मेथिका चन्द्रशूरश्च कालाऽजाजी यवानिका। एतच्चतुष्टयं युक्तं चतुर्बीजमिति स्मृतम् ॥९८॥
तच्चूर्णं भक्षितं नित्यं निहन्ति पवनामयम्। अजीर्णं शूलमाध्मानं पार्श्वशूलं कटिव्यथाम् ॥

'चतुर्बीज' (चारदाना) के गुण—मैथी, चनसुर, मंगरैला और अजवाइन इन चारों के बीजों के योग को 'चतुर्बीज (चारदाना) कहते हैं और इस चतुर्बीज का चूर्ण बनाकर नित्य खाने से वात सम्बन्धी रोग, अजीर्ण, शूल, आध्मान, पार्श्वशूल और कमर का दर्द दूर होता है ॥ ९८-९९ ॥

अथ हिंगुनामगुणानाह

सहस्रवेधि जतुकं बाह्लीकं हिङ्गु रामठम् ॥ १०० ॥
हिङ्गूष्णं पाचनं रुच्यं तीक्ष्णं वातबलासनुत्[1]। शूलगुल्मोदरानाहकृमिघ्नं पित्तवर्धनम् ॥

1. 'हृदि'ति पा०।

हींग के नाम तथा गुण—सहस्रवेधि, जतुक, बाह्लीक, हिङ्गु और रामठ ये सब नाम हींग के हैं। हींग उष्णवीर्य, पाचक, रुचिकारक, तीक्ष्ण, वात-श्लेष्म को दूर करने वाला, शूल, गुल्म, उदर सम्बन्धी रोग, आनाह (अफरा) और कृमियों को नष्ट करनेवाला एवम् पित्त को बढ़ाने वाला होता है ॥ १००-१०१ ॥

२८ हींग

हि०—हींग। **ब०**—हिंगु। **पं०**—हिंगे, हींग। **म०**—हिंग। **मा०**—हींग। **गु०**—हिंगड़ो, वघारणी, हिंग बघारणी। **ते०**—इङ्गुव, इंगुर, इंगुरा। **ता०**—पेरुंगियम्, पेरुंग्यम्। **क०**—हिंगु। **फा०**—अंगूजह, अंगुजा, अंघुजेह-इलरी। **अ०**—हिल तीत, हिलतीस। **अं०**—Asafoetida (असेफीटिडा)। **ले०**—*Ferula narthex, Boiss.* (फेरुला नार्थेक्स, बॉयस.); F. alliacea Boiss. (फे. एलिएसिआ); Ferula foetida Regel (फेरुला फीटिडा)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

हींग सर्व प्रसिद्ध वस्तु एक विदेशीय वृक्ष का निर्यास है। इसकी उपर्युक्त कई जातियां विभिन्न स्थानोंपर होती हैं जिनसे कुछ कुछ भिन्न प्रकार का निर्यास प्राप्त किया जाता है। अधिकांश मिलावटी हींग बिकती है। इनमें चोखी हींग, हीरा हींग, तलाव हींग इत्यादि अच्छी समझी जाती हैं। जो हींग रूमी मस्तगी के समान वर्ण वाली, गरम घी में डालने से लावा के समान खिल जाने वाली तथा लालिमा लिये भूरे या बादामी रंग की हो वह अच्छी मानी जाती है। उत्तम हींग की डली को तोड़ने से वह भाग बादामी रंग का दिखाई पड़ता है। इसका स्वाद कड़वा और लहसुन के समान खराशदार तथा इसकी गन्ध लहसुन के समान तीव्र होती है। पानी में घोलने से सफेद रंग की दीखाई पड़ती है।

हींग के वृक्ष काबुल, हिरात, खुरासान, फारस एवं अफगानिस्तान आदि प्रदेशों में उत्पन्न होते हैं तथा इस देश के पंजाब और काश्मीर में कहीं कहीं देखने में आते हैं। विभिन्न जातियों में थोड़ा बहुत स्वरूप में अंतर होता है।

इसका वृक्ष झाड़ के समान छोटा, ५ से ८-९ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते** अनेक भागों में विभक्त, अजमोदे के पत्तों के समान कटे किनारे वाले एवं १-२ फुट लम्बे होते हैं तथा टहनियों के अन्त में **फूलों** के गुच्छे लगते हैं। **फल**—तिहाई से तीन चौथाई इञ्च के घेरे में अण्डाकार होते हैं।

चार वर्ष का वृक्ष होने पर इसको काटते हैं और भूमि के पास वाली जड़ को तिरछे तराशने से जो रस निकल कर सूख जाता है उसको दो दिन के बाद खुरच कर संग्रह कर लेते हैं। फिर दो दिन के बाद जड़ को उसी प्रकार ऊपर से तराश कर छोड़ देते हैं और सूखने पर खुरच कर इकट्ठा कर लेते हैं। यही सूखा हुआ पदार्थ हींग है। प्रत्येक वृक्ष से २-३ छटांक से ५-६ छटांक तक हींग मिल सकती है। देशी हींग की अपेक्षा काबुली हींग अच्छी होती है।

साधारण परीक्षा—(१) जल के साथ घोटने से इसका पीताभ दुधिया घोल बनता है जो क्षार मिलाने पर हरिताभ पीत हो जाता है।

(२) थोड़ेसे हींग को गन्धक के तेजाब के साथ गरम करने पर लाल से भूरे रंग का घोल बनता है। इस घोल को अधिक जल से विरल बनाकर (Dilute), छानकर (filtering) उसको क्षारीय करने से एक गाढ़े नीले रंग की चमक उत्पन्न होती है (Purplish-blue fluorescence)।

मिलावटें—हींग में कङ्कड़, वालू, मिट्टी, मूल के टुकड़े, गोदन्ती तथा गोंद आदि मिलाये रहते हैं।

रासायनिक संगठन—यह गन्धक का सेन्द्रिय योग है। इसमें लहसुन में पाये जाने वाला एक उड़नशील तैल ६-१७% रहता है। इस तैल में टरपेन्स (Terpenes), डाइसल्फाइड्स (Disulphides, $C_7H_{14}S_2$ and $C_{11}H_{20}S_2$) और एक नीले रंग का तरल पदार्थ ($C_{10}H_{16}O$)n रहता है। इसमें राल ४०-६५% रहती है जिसमें ॲसारेसिनोटेनॉल (Asaresinotannol), ॲसारेसिनोल फेरूलिक् एसिड इस्टर (Asaresinol ferulic acid ester) तथा फ्री फेरूलिक् एसिड (Free ferulic acid-1.3%) रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें गोंद की मात्रा २५% रहती है। शुद्ध हींग में ६५-७५% मद्यसार में घुलने वाले पदार्थ रहते हैं तथा राख ३-५% रहती है। इसकी राल का ऊर्ध्वपातन (Dry distillation) करने से अंबेलिफेरोन् (Umbelliferone) प्राप्त होता है लेकिन भारतीय जाति से यह प्राप्त नहीं होता।

गुण और प्रयोग—हींग दीपन, पाचन, वातानुलोमक, उद्वेष्टन निरोधि, उत्तेजक, कफदुर्गन्धि हर, कफनिःसारक, वातनाडियों के लिये बल्य, गर्भाशयसंकोचक एवं कृमिघ्न है। इसका उत्सर्ग फुफ्फुस, त्वचा, मूत्र तथा पसीने के द्वारा होता है।

इसका उपयोग आध्मान, शूल, अपस्मार, अपतन्त्रक, वातविकार, श्वास, कास, कुकास एवं हृच्छूल आदि में किया जाता है। हींग को घृत में भूनकर व्यवहार में लाया जाता है जिससे वमन नहीं होने पाता।

(१) फुफ्फुस के रोगों में हींग का अच्छा उपयोग होता है। जीर्ण श्वास नलिका शोथ, दमा, कुकास, बच्चों के फुफ्फुसपाक एवं शुष्क कास आदि में इसका व्यवहार किया जाता है। इसके लिये जल के साथ हींग के घोल का व्यवहार करना चाहिये।

(२) आध्मान, शूल, विबन्ध एवं आमाशय तथा आन्त्र की शिथिलता में अजवाइन अथवा एलुवा और साबुन के साथ गोली बनाकर दिया जाता है। ऐसे विकारों में हिंग्वाष्टक चूर्ण अथवा हिंगुकर्पूरवटी का बहुत व्यवहार किया जाता है।

(३) विषमज्वर में प्रतिबन्धन की दृष्टि से अन्न के साथ हींग का व्यवहार किया जाता है।

(४) अपस्मार, अपतन्त्रक एवं तज्जन्य अन्य विकारों में इसका बहुत अच्छा उपयोग होता है।

(५) प्रसव के बाद इसके उपयोग से आर्तव शुद्धि होती है। बार बार होने वाले गर्भपात को रोकने के लिये भी इसका उपयोग करते हैं। गर्भ रहते ही ६ माशे हींग की ६० गोलियां बनाकर प्रारम्भ में १ गोली दिन में दो बार देते हैं। बाद में धीरे धीरे इसकी मात्रा बढ़ाते हुये १० गोली प्रतिदिन देते हैं और फिर प्रसवतक धीरे धीरे इसकी मात्रा कम करते हैं।

(६) आध्मान, शूल एवं आक्षेप आदि में २-३ माशा हींग जल के साथ घोटकर उसकी बस्ति दी जाती है। इससे सूत्र कृमि में भी लाभ होता है।

(७) सीलोन में नारियल के दूध में हींग को उबालकर सर्पदंश के स्थान पर लगाते हैं तथा पानी में इसको घोलकर नाक में भी टपकाते हैं। बिच्छू के काटने पर भी इसको लगाने से लाभ होता है।

(८) बच्चों के पेट फूलने पर इसका लेप पेट पर लगाते हैं तथा कुकास में छाती पर लेप करने से लाभ होता है। नारू तथा दाद पर इसको लगाने से लाभ होता है।

(९) हींग तथा अफीम की गोली दांत के दर्द में दांत के गढे में रखने से लाभ होता है।

(१०) हींग, लहसुन तथा सैंधव आदि पदार्थों से सिद्ध तैल कर्णरोगों में बहुत उपयोगी है। इसको ½-१ चम्मच दूध के साथ दिन में ३, ४ बार या सुबह ४ चम्मच एक साथ ही दूध और मिश्री के साथ पिलाते हैं एवं इसको गर्म करके कान में ३, ४ बूँद डालते हैं। यह तैल बहुत अच्छा प्रतिदूषक (Antiseptic) है एवं इसका अन्तर्बाह्य प्रयोग उपयोगी है।

मात्रा—२-८ रत्ती।

अथ वचाया नामानि गुणाँश्चाह

वचोग्रगन्धा षड्ग्रन्था गोलोमी शतपर्विका। क्षुद्रपत्री च मङ्गल्या जटिलोग्रा च लोमशा॥
वचोग्रगन्धा कटुका तिक्तोष्णा वान्तिवह्निकृत्। विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी॥
अपस्मारकफोन्मादभूतजन्त्वनिलान्हरेत्॥ १०३॥

वच के नाम तथा गुण—वचा, उग्रगन्धा, षड्ग्रन्था, गोलोमी, शतपर्विका, क्षुद्रपत्री, मङ्गल्या, जटिला, उग्रा और लोमशा ये सब नाम वच के हैं। वच-उग्रगन्ध युक्त, तिक्त तथा कटुरस वाली, उष्णवीर्य, वमनकारक, अग्निजनक, विबन्ध, आध्मान और शूलको नष्ट करने वाली एवं मल तथा मूत्र का शोधन करने वाली होती है। एवम् मिर्गी, कफ, उन्माद, भूतबाधा, कृमि तथा वायु को भी दूर करने वाली होती है॥ १०२-१०३॥

२९ वच

हि०—वच, घोरवच, घोड़वच। **ब०**—वच। **म०**—वेखण्ड। **ते०**—वासा, वस। **गु०**—वज, घोड़ावज। **क०**—बजे। **ता०**—वशाम्बु। **मला०**—व्वयम्पु। **गोमा०**—वेखण्ड। **पं०**—बरि बोज। **फा०**—सोसन जर्द, अगरि तुर्की। **अ०**—उदल बुज, अकरुन, वज, विज। **यू०**—अकुरुन्। **अं०**—Sweet Flag (स्वीट फ्लॅग)। **ले०**—*Acorus calamus, Linn.* (एकोरस् कॅलॅमस्, लिन.)। *Fam.* Araceae (एरॅसी)।

एशिया खण्ड का मध्य भाग तथा पूर्वी यूरोप वच का उत्पत्ति स्थान माना जाता है। मणीपुर, नागा पहाड़, काश्मीर, सिरमुर और युक्त प्रान्त के कितने ही देशों के दलदल और सजल स्थान, में यह उत्पन्न होती है।

यह गुल्म जाति की वनौषधि ३-४ हाथ ऊँची होती है। इसकी जड़ अन्य पौधों की जड़ की तरह सीधी नहीं रहती बल्कि बहुत सी जटा के सदृश जड़ की शाखायें चारों ओर फैली हुई रहती हैं और इसकी मुटाई मध्यमा उँगली के समान होती है। प्रत्येक गांठ के चारो ओर सघन रोवें से होते हैं। इसके पत्ते लम्बे, पतले और तलवार के समान रहते हैं। मंजरियां सघन, विदण्डिक, २-४ इञ्च लम्बी, लम्ब गोल और ६-१८ इञ्च लम्बे पत्रकोशों से ढकी रहती हैं। वच के पौधों के सर्वाङ्ग में गन्ध आती है और इसकी जड़ में यह अत्यधिक होती है। मूलस्तम्भ तथा राइज़ोम (Rhizome) को टुकड़े टुकड़े कर बाजार में बेचते हैं। ये भूरे रङ्ग के और सुगन्धित होते हैं जिनके निचले हिस्से पर मूल के निशान रहते हैं तथा ऊपर के भाग में लम्बी गठेदार धारियां होती हैं।

बाजार में वच के नाम से प्रायः कुलिंजन (Alpinia galanga) की जड़ बेची जाती है। इसी लिये जहां वचा (Acorus calamus) की आवश्यकता हो वहां घोरवच नाम से ही औषधि खरीदनी चाहिये। वच के स्थान पर आंतरिक प्रयोग में बालवच का प्रयोग भी शास्त्रोक्त नहीं है न उचित ही है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धि उड़नशील पीले रङ्ग का तैल १.५–३.५%, एकोरिन (Acorin) नामक मधु के समान पतला तिक्त सुगन्धि ग्लुकोसाइड, एकोरेटिन (Acoretin) नामक राल सदृश पदार्थ, कॅलामेन (Calamene) नामक रवेदार क्षाराम तथा स्टार्च, गोंद, टॅनिन् एवं कॅल्शियम् ऑक्सॅलेट (Calcium oxalate) आदि पदार्थ रहते हैं। इसके उड़नशील तैल में ॲसारिल् ॲल्डिहाइड् (Asaryl-aldehyde), ॲल्फापिनिन (a-pinene) एवं कॅम्फीन् (Camphene) आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—वच वमिक, कफनिःसारक, हृल्लासकर, उद्वेष्ठन निरोधि, वातानुलोमक, दीपन, पाचन, मेध्य, वृष्य, कृमिघ्न एवं सुगन्धि है। अधिक मात्रा में देने से यह वामक है।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक, श्वास, कास, कण्ठरोग, जीर्ण अतिसार, संग्रहणी, आध्मान, शूल, मन्दज्वर, विषमज्वर, कर्णमूल ग्रन्थिशोथ एवं अश्मरी आदि रोगों में किया जाता है।

(१) अपस्मार, अपतन्त्रक एवं अंगघात आदि रोगों के लिये यह बहुत अच्छी औषधि है। इसके सेवन से धारणाशक्ति (मेधा) बढ़ती है। इसके लिये वच को मधु अथवा दूध के साथ अधिक दिन तक सेवन करना चाहिये। ब्राह्मी, शंखपुष्पी तथा वच तीनों समान मात्रा में लेकर इसके चूर्ण को ब्राह्मी के रस की ३ भावनाएं देनी चाहिये। इसको अथवा सारस्वत चूर्ण को ½ से १ माशा मधु एवं घृत के साथ कुछ दिन लेने से उन्माद, स्मरण शक्ति का ह्रास एवं वाणी की जड़ता आदि दूर होकर बुद्धि का विकास होता है। बेहोशी दूर करने के लिये अन्य औषधियों के साथ इसका अच्छा उपयोग होता है।

(२) यह अधिक मात्रा (१ से २ माशा) में वामक है तथा खांसी और श्वास में वमन कराने के लिये इसको नमक और गरम जल से पिलाना चाहिये। इससे बिना किसी कष्ट के कफ निकल जाता है। यह इपिकाक की अपेक्षा अधिक अच्छी औषधि है। सरदी, गले की सूजन, खांसी तथा बच्चों के सूक्ष्म श्वसनिका शोथ में इसका क्वाथ बहुत उपयोगी होता है। सूखी खांसी में इसका टुकड़ा मुख में रखने से लाभ होता है।

(३) इसमें रहने वाले टॅनिन के कारण इसका उपयोग जीर्ण अतिसार एवं संग्रहणी आदि में किया जाता है। इसके सेवन से आध्मान एवं शूल दूर होता है तथा पाचन सुधर कर भूख बढ़ती है। बच्चों के लिए इसको भूनकर देना चाहिए। यह कृमि तथा पथरी में भी लाभदायक है। दंतोद्भेद के समय इसको चबाने को बच्चों को देते हैं।

(४) मलेरिया आदि विषमज्वरों में अन्य औषधियों के साथ इसके उपयोग से अधिक लाभ होता है।

(५) जयपाल के विष को दूर करने के लिए इसको भूनकर जल के साथ पिलाना चाहिये।

(६) अर्श में भांग और अजवाइन के साथ इसकी धूनी देने से दर्द दूर होता है।

(७) इसका बाह्य प्रयोग अंगघात, आमवात, संधिपीडा, आध्मान, शूल तथा खांसी और श्वास में उपयोगी है।

(८) मक्खी एवं दीमक आदि कीटों का नाश करने के लिए इसका उपयोग होता है।

मात्रा—वामक–१ से २ माशा; अन्य गुणों के लिए–२–४ र०। **अधिक मात्रा से** शिरःशूल होता है। **दर्पनाशक**—सौंफ।

अथ पारसीक (खुरासानी) वचाया नामानि गुणाँश्चाह

पारसीकवचा शुक्ला प्रोक्ता हैमवतीति सा। हैमवत्युदिता तद्वद्वातं हन्ति विशेषतः ॥१०४॥

खुरासानी वच के नाम तथा गुण—पारसीकवचा, शुक्लवचा और हैमवती ये नाम खुरासानी वच के हैं। **खुरासानी वच**—शुक्लवर्ण की (सफेद) होती है तथा गुणों में पूर्वोक्त वच के समान ही होती है किन्तु विशेष करके यह वायु को दूर करनेवाली होती है ॥ १०४ ॥

२० पारसीक वचा (खुरासानी वच)

पारसीक वचा (हैमवती) के संबंध में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। कुछ लोग इसी को बालवच भी कहते हैं। कुछ परम्परा ऐसी है कि आंतरिक प्रयोग में जब 'वचा' लेनी हो तो बालवच नाम से मिलने वाला द्रव्य लिया जाय एवं बाह्य प्रयोग में 'वचा' के नाम से घोरवच लिया जाय। यद्यपि इसके लिए कोई शास्त्रीय आधार नहीं मिलता और प्रत्यक्षतः वचा के स्थान पर बाह्याभ्यन्तर प्रयोग में घोर वच का उपयोग अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। बालवच के नाम से भी बाजार में भिन्न-भिन्न मूल की गांठें बिकती हैं जिनमें से एक का विनिश्चय श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने किया है। इसका वैज्ञानिक नाम Paris polyphylla (पैरिस पॉलिफाइला) है तथा इसे हिन्दी में दुधवच एवं नेपाली में इसे सतुआ कहते हैं। इसकी मोटी मोटी गांठें जैसी होती हैं। डा० देसाई के मत से मजार पोश (कश्मी०) ले०—*Iris germanica Linn.* (आइरिस् जर्मेनिका) यह बाल वच है। यह कश्मीर में कब्र पर लगाई हुई मिलती है। बाजार में एक बहुत छोटे अन्य प्रकार के मूल भी बालवच के नाम से मिलते हैं।

अथ महाभरीवचा

यस्या लोके कुलिञ्जन इति नामान्तरं तस्या गुणानाह

सुगन्धाऽप्युग्रगन्धा च विशेषात्कफकासनुत्। सुस्वरत्वकरी रुच्या हृत्कण्ठमुखशोधिनी ॥

महाभरी (कुलिञ्जन) के गुण—**महाभरी वच (कुलिंजन)** सुगन्ध तथा उग्रगन्ध युक्त होती है। विशेष करके यह कफ तथा खाँसी दूर करने वाली, स्वर को उत्तम करने वाली, रुचिजनक, हृदय, कण्ठ तथा मुख को शुद्ध करने वाली होती है ॥ १०५ ॥

२१ कुलिंजन

हि०—कुलंजन, कुलिंजन, बड़ा कुलंजन। **बं०**—कुरची वच, महाभरी वच, कुलंजन। **म०**—कुलिंजन्, कोष्ट कोलञ्जन, मोठे कोलञ्जन। **गु०**—कुलिंजन जाड़ु, कोलिंजन। **सिन्ध०**—कुअर, कंजर, कांठी। **ता०**—पेररत्तइ। **ते०**—पेद्दादुम्पराष्ट्रकम्। **मला०**—पेरारट्टा। **क०**—धूम रास्मी। **ब्रह्मी०**—पदगोजी। **फा०**—खिरदारु, खरदारु, खुशरवे दारु एकलान्। **अ०**—इर्क खोलिंजान, खुलंजान, खुलांजाने कस्बी, खुलंजान्-ए-कबीर। **अं०**—Greater Galangal (ग्रेटर

गॅलंगाल); Java Galangal (जावा गॅलंगाल । ले०—*Alpinia galanga Willd.* (ॲल्पिनिया गॅलंगा) । Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरॅसी) ।

पहले यह जावा और सुमात्रा से आया करता था किन्तु अब बंगाल के पूर्व भाग, दक्षिण भारत, मालावार और गोमान्तक के जंगलों में यह अधिकता से उत्पन्न होता है ।

इसका **क्षुप** आमा हल्दी के आकार का ६–७ फीट ऊँचा होता है । **पत्ते**—९ से १८ इंच लम्बे, १½ से ४½ इञ्च चौड़े, चिकने, आयताकार-भालाकार होते हैं । **फूल**—हरे से सफेद छोटे छोटे आते हैं । **फल**—तिहाई इञ्च गोल नारङ्गी रङ्ग के होते हैं । बहुवर्षायु क्षुप होने के कारण काण्ड के सूख जाने पर भी इसकी जड़ जीवित रहती है । **जड़**—कन्दवत् और सुगन्ध युक्त होती है । इसको टुकड़े-टुकड़े कर सुखा करके बेंचते हैं । ये टुकड़े १ इञ्च से २॥ इञ्च तक मोटे, बाहर से लाल या मोर्चा के समान बादामी रङ्ग के और अन्दर से हलके नारङ्गी बादामी रङ्ग के होते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित हलके पीले रंग का तेल १·५–४·८% पाया जाता है जिसमें यूजेनॉल (Eugenol 25%), सिनेओल-डी-पिनेन् (Cineole-d-pinene , कॅडेनेन्स (Cadene1s), बॅसोरिन् (Bassorin) एवं गॅलेंगिन् (Galangin) रहते हैं । इसके अतिरिक्त इसमें ३ पीले रवेदार पदार्थ कॅम्फेराइड (Kaempferide, $C_{16}H_{12}O, H_2O$), गलेंगॉल् (Galangol), मॉनोमेथिल् ईथर ऑफ गॅलेंगिन् (Mono-methyl ether of galangin) और स्टार्च २३%, राल, टैनिन, फ्लोबॅफेन (Phlobaphane), वसा और मोम आदि पदार्थ रहते हैं ।

गुण और प्रयोग—प्राणियों में सिरा द्वारा इसके टिंक्चर या क्वाथ के प्रयोग से निम्न प्रभाव दिखलाई देते हैं । रक्त का दबाव पहले कम होकर बाद में ठीक हो जाता है । यह शायद औदरिक रक्तवाहिनियों के विस्फार के कारण होता है । रक्तवहसंस्थान तथा हृदय के ऊपर इसकी अवसादक क्रिया होती है । इसकी अल्प मात्रा से श्वसन क्रिया उत्तेजित तथा अधिक मात्रा से श्वसन केन्द्र का घात होकर अवसादित होता है । इसकी अल्प मात्रा से भी श्वसनिकाओं (Bronchioles) का विस्फार होता है । यह पाइलोकारपीन द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न श्वसनिकाओं के संकोच को भी दूर करता है । रक्त के दबाव के कम होने के कारण ही प्रारंभ में मूत्र की मात्रा कम होती है जो बाद में प्रकृत हो जाती है । पृथक्कृत (Isolated) गर्भाशय इसके प्रयोग से शिथिल होता है तथा उसके संकोच नियमित होने लगते हैं । पाचन-संस्थान के ऊपर इसकी क्रिया अन्य सुगन्धि उड़नशील तैलों की तरह होती है ।

कुलंजन उत्तेजक, कफनिःसारक, दीपक, पाचक, वातानुलोमक, बल्य तथा वृष्य है ।

इसका व्यवहार सरदी, जुकाम, आमवात, खांसी, श्वास, स्वर भंग एवं मधुमेह आदि में किया जाता है ।

(१) श्वास, खांसी, कुकास एवं सरदी के लिये यह बहुत अच्छी औषध है । बच्चों एवं वृद्धों के श्वसनसंस्थान के विकारों में इसको मधु के साथ चटाने से बहुत लाभ होता है । इससे श्वासकृच्छ्र दूर होकर ज्वर भी कम होता है । दमे में इसके उद्वेष्टननिरोधि गुण के कारण लाभ होता है । गले के प्रदाह में इसको चूसने से लाभ होता है ।

(२) इसके सुगन्धि, पाचक तथा दीपक गुणों के कारण पाचन के विकारों में यह उपयोगी है तथा अन्य औषधियों को सुगन्धित करने के लिये इसका व्यवहार किया जाता है ।

(३) मधुमेह तथा अपने आप होने वाले मूत्रत्याग (Incontinence) में इसका क्वाथ लाभदायी है ।

(४) मुख की दुर्गन्धि दूर करने के लिये तथा वाजीकरण के लिये इसको चबाते हैं ।

(५) इससे सिद्ध तैल का उपयोग मुखदूषिका तथा कर्णपिटिका आदि चर्म रोगों में किया जाता है ।

(६) दन्तशूल में इसके चूर्ण को दांतों पर रगड़ते हैं ।

(७) अधिक पसीना आता हो तो इसके चूर्ण को शरीर पर रगड़ते हैं ।

(८) इसके बीज का भी उपयुक्त गुणों के लिये व्यवहार होता है ।

मात्रा—२ से ४ र., टिं. ½–१ ड्रा. ।

नोट—इसी की एक अन्य जाति जिसे ॲल्पीनिया ऑफिसिनेरम (Alpinia officinarum Hance) और अं. में लेसर् गॅलेंगल् (Lesser galangal) कहते हैं, उसका भी व्यवहार कुलंजन के स्थान पर किया जाता है तथा हीनश्रेणी की सोंठ अथवा घोरबच की मिलावट भी इसमें रहती है ।

अथ अपरा सुगन्धा स्थूलग्रन्थिः

यस्या लोके महाभरी इति नाम तस्या गुणानाह

स्थूलग्रन्थिः सुगन्धा स्यात्ततो हीनगुणा स्मृता ॥ १०६ ॥

महाभरी वच के गुण—जो मोटी गांठवाली तथा सुगन्धयुक्त (महाभरी) वच होती है वह पूर्वोक्त वच की अपेक्षा हीन गुण वाली होती है ॥ १०६ ॥

३२ महाभरीवच

हि०—महाभरा वच, महाभरी वच, कुलञ्जन भेद । **बं०**—महाभरी बच, नरकचूर । **पं०**—कचूर, नरकचूर । **मला०**—कठुइंशीकुआ । **ले०**—*Zingiber zerumbet Rosc. ex Smith* (जिंजीबर् जिरम्बेट्) । Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरॅसी) । इस देश के कई प्रान्तों में यह उत्पन्न होती है ।

इसका **क्षुप** गन्ने के समान ३ से ५ फीट ऊँचा और आध इञ्च गोल होता है । **पत्ते**—८–१२ इञ्च लम्बे, २–३ इञ्च चौड़े, नरसल के पत्तों के समान किञ्चित् आयताकार-भालाकार एवं नोकदार होते हैं । १२ से १८ इञ्च तक लम्बी डण्डियों पर फूल आते हैं । **फूल**—फीके पीले रङ्ग के होते हैं । **फल**—एक इञ्च लम्बा दीर्घवृत्ताकार होता है । **बीज**—छोटे छोटे आयताकार काले रङ्ग के होते हैं । **मूलस्तम्भ**—कड़ा, द्विवर्षीय, भीतर से पीत, एवं स्वाद में कुछ आर्द्रक जैसा ही किन्तु कुछ कड़वाहट लिये हुए होता है । इसका **व्यवहार** खांसी, श्वास, कृमि, कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोगों में किया जाता है एवं इसके अन्य गुण सोंठ की ही तरह हैं ।

अथ चोपचीनीति लोके या प्रसिद्धा तस्या नाम गुणाँश्चाह

द्वीपान्तरवचा किञ्चित्तिक्तोष्णा वह्निदीप्तिकृत् । विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी ॥
वातव्याधीनपस्मारमुन्मादं तनुवेदनाम् । व्यपोहति विशेषेण फिरङ्गामयनाशिनी ॥१०८॥

चोबचीनी के नाम तथा गुण-'द्वीपान्तरवचा' यह संस्कृत नाम चोबचीनी का है। **चोबचीनी**-कुछ तिक्तरसयुक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, विबन्ध, आध्मान तथा शूल को नष्ट करने वाली, मल तथा मूत्र का शोधन करने वाली होती है एवं वातव्याधि, अपस्मार (मिर्गी), उन्माद (पागलपन) और शरीर के दर्द को दूर करती है और विशेष करके यह फिरङ्गरोग के दूर करने में उत्तम होती है ॥ १०७-१०८ ॥

३३ चोपचीनी

हि०-चोपचीनी, तोपचीनी, चोबचीनी । **बं०**-सोपचीनी, कुमारिका, शुकचिन । **म०, गु०**-चोपचीनी । **ते०**-पिरङ्गीचेका । **ता०**-परङ्गिचेकई । **मला०**-चाइना पेवू या पेरू । **ने०**-चोपचीनी । **यू०**-खसिलियर आशसिनी । **फा०**-चोबचीनी । **अ०**-कशबचीनी, खुशबुस्सीनी । **अं०**-China root (चाइनारूट) । **ले०**-*Smilax china Linn.* (स्माइलॅक्स चाइना) । Fam. Liliaceae (लिलिएसी) ।

वच की अनेक जातियों में चोपचीनी भी एक मानी गई है। यह चीन देश में अधिक उत्पन्न होती है और वहीं से इस देश में आती है। इस कारण इसका नाम द्वीपान्तरवचा रखा गया है।

यह लता जाति की वनौषधि बहुत विस्तार में फैलनेवाली होती है। इस लता की **जड़ को ही** चोपचीनी कहते हैं।

चोबचीनी ८-१० अङ्गुल लम्बी, आध से एक इञ्च तक मोटी, गांठदार, बेरेशा, खुरदरी तथा दृढ़ काष्ठवत् जड़ है। इसका स्वरूप सफेदी मायल पीत, गुलाबी एवं किंचित् कालापन युक्त होता है। अधिक पुरानी होने पर चोपचीनी में प्रायः घुन लग जाते हैं, जिससे वह छिद्र युक्त दिखाई देती है। घुनी हुई तथा गांठविहीन चोपचीनी को उपयोग में नहीं लाना चाहिये।

रासायनिक सङ्गठन—इसमें वसा, शर्करा, ग्लूकोसाइड, रञ्जक पदार्थ, सॅपोनिन्, गोंद तथा स्टार्च आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—सम्राट् चार्ल्स पंचम के वातरक्त (Gout) में इस औषधि की बहुत सफलता सिद्ध होने से इसका युरोप में बहुत प्रचार हुआ था। १७ हवीं शताब्दी में सार्सापरिला के समान इसका व्यवहार किया जाता रहा।

यह स्वेदल, स्नेहन, उत्तेजक, रसायन, रक्तशोधक, बल्य, वाजीकर, फिरंगहर तथा धातुओं को गलाने वाली (Resolvent = रीसॉल्हेन्ट) है।

(१) इसको दूध में उबाल कर इसमें मस्तगी, इलायची तथा दालचीनी मिलाकर इसका व्यवहार आमवात, वातरक्त, अपस्मार, जीर्ण वातविकार, कार्श्य, धातुक्षीणता, ग्रन्थिविकार तथा फिरंग की तृतीयावस्था में किया जाता है।

(२) अनन्तमूल के साथ इसको पुराने सिरदर्द में देने से लाभ होता है तथा आमवात एवं फिरङ्ग में भी इसका व्यवहार करते हैं।

(३) डा० देसाई के मतानुसार यह श्रेष्ठ रसायन है। इसकी क्रिया त्वचा, सन्धियों के बन्धन तथा रसग्रन्थियों पर होती है। सोज़ाक से उत्पन्न सन्धिशोथ आदि विकारों में तथा फिरङ्ग की द्वितीयावस्था तथा तृतीयावस्था में इससे बहुत लाभ होता है। पोटॅशियम् आयोडाइड् की अपेक्षा यह शीघ्र लाभकर निर्दुष्ट औषध है। फिरङ्गादि से उत्पन्न ग्रन्थिवृद्धि में इसके उपयोग से प्रथम वेदना कम होकर बाद में सूजन कम होती है। चोबचीनी जितना चूर्ण रूप में काम करती है उतना फाण्ट या क्वाथरूप में नहीं करती।

मात्रा—चूर्ण-½-१ तो०, सोंठ के साथ दूध में।

इस जाति की जिन अन्य औषधियों का व्यवहार किया जाता है प्रसंगतः उनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है।

(क) जङ्गली उशबा

हि०-जङ्गली उशबा, चोबचीनी । **बं०**-कुमारिका । **मल०**-कुरिबिलण्डि । **म०**-घोटवेल । **गु०**-गुटी । **ता०**-मलैतामर **ले०**-*Smilax macrophylla Roxb.* (स्माइलॅक्स मॅक्रोफाइला राक्स) ।

यह एक बड़ी लता होती है जो समस्त भारत में उत्पन्न होती है। **पत्ते**—लम्बे, बड़े, अखण्ड और नुकीले रहते हैं जिन पर ५, ७ मोटी सिराएं होती हैं। कांटे दूर-दूर या प्रायः अनुपस्थित होते हैं। **पुष्प**—गुच्छों में आते हैं। **फल**—चने के समान गोल, हरित एवं पकने पर रक्तवर्ण के हो जाते हैं। **मूल**—बहुत तथा सार्सापरिला के समान लाल रंग की होती है। इसकी जड़ों का व्यवहार किया जाता है। इसकी जड़ें ताजी काम में लानी चाहिये।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदल, मूत्रल, पौष्टिक, कामोद्दीपक और रसायन है। फिरङ्ग की द्वितीयावस्था, जीर्ण आमवात तथा सन्धिशोथ में इसका बहुत व्यवहार किया जाता है। फिरङ्ग से उत्पन्न होने वाले फोड़े-फुन्सियां, सन्धिवात, अस्थिशोथ, अस्थिवात और शूल तथा ग्रन्थियों की वृद्धि में उपयोगी है। पुराने चर्मरोग तथा गण्डमाला में इससे लाभ होता है। नेपाल में ३ माशा चूर्ण सोजाक तथा अन्य श्लैष्मिककला के स्रावों के लिए दिया जाता है।

मात्रा—१-२ तो० चूर्ण का क्वाथ दिन में एक बार।

(ख) बड़ी चोबचीनी

हि०-बड़ी चोबचीनी । **बं०**-हरिनाशुकचिन । **म०**-गोटी शुकचिन । **पहा०**-हशिन । **ले०**-*Smilax glabra Roxb.* (स्माइलॅक्स ग्लॅब्रा राक्स) ।

यह लता आसाम, सिलहट, खासिया की निम्न श्रेणियां एवं तेनासेरिम आदि स्थानों में उत्पन्न होती है। इसमें कांटे नहीं होते। **पत्र**—नुकीले, पतले, अधोभाग हलके रङ्ग का; **पुष्प**—सफेद विदण्डिक; **मूल**—चोबचीनी की तरह।

गुण और प्रयोग—इसके ताजे मूल का क्वाथ त्वक् रोग तथा फिरंग आदि रतिजन्य उपसर्गों से उत्पन्न फोड़े फुन्सी आदि में दिया जाता है।

(ग) हरिया शुकचिन

पहा०-हुरिन शुकचिन । **बं०**-गुचिआ शुकचिन । **ले०**-*Smilax lanceaefolia Roxb.* (स्माइलॅक्स लॅन्सिफोलिया) ।

यह भी लता सिक्किम, हिमालय, आसाम एवं बर्मा में होती है। **पत्र**—पतले तथा उन पर ३ बड़ी शिराएँ रहती हैं। इसकी जड़ चोबचीनी के समान होती है जिसका व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ का रस निकाल कर आमवात में पिलाते हैं तथा इसके कल्क को वेदनास्थान पर बांधते हैं।

(घ) उशबा, सार्सापरिला

हि०-उशबामग्रबी, सार्सापरिला । **अं०**-Sarsaparilla (सार्सापरिला) । **ले०**-*Smilax ornata Hook.* (स्माइलॅक्स ओर्नेटा) ।

यह स्माइलॅक्स की उपर्युक्त विदेशी जाति तथा अन्य विदेशी जातियों के सुखाये हुए मूल हैं। कभी-कभी भौमिक काण्ड (राइजोम) के टुकड़े इसके साथ मिले रहते हैं।

यह बहुत लंबे, धारीदार एवं कुछ लालिमा लिये हुए होते हैं। स्थान भेद से तथा वर्ण, धारी एवं भौमिक या वायवीय भाग की अधिकता इत्यादि के कारण इसके स्वरूप में भिन्नता रहती है। यह प्रायः गंधहीन एवं कुछ मीठापन लिये हुए कटु होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें मुख्यतया सॅपोनिन् (Saponin) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—फिरंग, आमवात, जीर्ण चर्म विकार एवं रक्तदोष के लिए यह बहुत प्रसिद्ध औषध रही है। यह कैसे कार्य करती है यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः शारीरिक क्षमता को बढ़ाकर या अन्य औषध के प्रचूषण में सहायता का कार्य करती है। विदेशों में इसका उपयोग अनेक बल्य पेयों में किया जाता है। भारतीय सार्सापरिला के नाम से अनन्तमूल का उपयोग किया जाता है।

मात्रा—१ से ३ माशा।

अथ हपुषाद्वयम्

तन्मध्ये प्रथमं फलं मत्स्यसदृशं विस्रगन्धं द्वितीयमश्वत्थफलसदृशं मत्स्यगन्धम्, तयोर्नामानि गुणांश्चाह

हपुषा हवुषा विस्रा पराऽश्वत्थफला मता। मत्स्यागन्धाप्लीहहन्त्री विषघ्नी ध्वांक्षनाशिनी॥
हपुषा दीपनी तिक्ता मृदूष्णा तुवरा गुरुः। पित्तोदरसमीरार्शोग्रहणीगुल्मशूलहृत्॥
पराऽप्येतद्गुणा प्रोक्ता रूपभेदो द्वयोरपि॥ ११०॥

दो प्रकार का 'हाऊबेर' होता है। उसमें पहला जो आकार में मछली के समान तथा आम गन्धवाला होता है और दूसरा जो आकार में पीपल के फल के समान तथा मछली के समान गन्धवाला होता है, उन दोनों के नाम तथा गुण—

हपुषा, हवुषा और विस्रा ये तीन नाम प्रथम हाऊबेर के हैं और दूसरे के नाम-अश्वत्थफला, मत्स्यगन्धा, प्लीहहन्त्री, विषघ्नी और ध्वाङ्क्षनाशिनी (इसके खाने से कौवे मर जाते हैं) ये हैं। प्रथम **हाऊबेर**—अग्निदीपक, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, मृदु, उष्णवीर्य, पाक में गुरु, पित्त, उदर और वात सम्बन्धी रोग, बवासीर, ग्रहणी, गुल्म तथा शूल को दूर करता है और दूसरा हाऊबेर भी इन्हीं पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है अन्तर केवल आकार तथा गन्ध मात्र में ही है।

२४ हपुषा (हाऊबेर)

हिं०—हाऊबेर, हाऊबैर, आरार। **बं०**—हवुषा। **म०**—होश। **मा०**—हाऊबोर। **पं०**—हाऊबेर, पेत्थरी, अबहुल। **कुमा०**—चिचिया। **काश्मी०**—वेंथा, पेथरा। **फा०**—तुख्मदुलह, ओरस। **अ०**—अरअर, अबहाल, हब्बउलअरअर। **अं०**—Juniper berry (ज्युनिपेर बेरी)। **ले०**—*Juniperus communis Linn.* (ज्युनिपेरस् कम्युनिस, लिन)। Fam. Cupressaceae (क्यूपेसेसी)।

हाऊबेर दो प्रकार का होता है। एक का संस्कृत नाम 'हपुषा' और दूसरे का 'अश्वत्थफला' है। **हपुषा** और **अश्वत्थफला** वास्तव में दोनों फल और गन्धभेद से दो द्रव्य हैं, परन्तु दोनों के गुण समान हैं और दोनों ही के वृक्ष भी समान ही होते हैं। **हपुषा**-मछली के समान आकृति का एवं आम गन्ध युक्त और **अश्वत्थफल**-मछली के समान गन्ध और पीपर (अश्वत्थ) वृक्ष के फलों के समान फलवाला होता है।

हपुषा के वृक्ष हिमालय के पश्चिमोत्तर भाग में कुमाऊँ से पश्चिम की ओर १२,५०० से १४,००० फीट की ऊंचाई तक देखने में आते हैं।

इसका वृक्ष बड़ा नहीं होता बल्कि इसका झाड़ होता है जो सघन, फैला हुआ, तथा बारहो मास हरा भरा रहता है। **पत्ते**—रेखाकार, नोकीले, ५ से १३ मि. मी. लंबे, एक साथ तीन-तीन एवं काण्ड से समकोण बनाते हुए होते हैं। **फूल**—पीत वर्ण के गुच्छों में आते हैं। **फल**—१/४-१/३ इञ्च के घेरे में गोलाकार, गूदेदार और पकने पर नीलापन युक्त काले या कुछ बैंगनी रङ्ग के दिखाई पड़ते हैं। इनके ऊपर रजावरण रहता है। अग्र भाग पर शल्कपत्र के त्रिविभक्त निशान रहते हैं और आधार पर भी शल्क पत्र के दो चक्र रहते हैं। प्रत्येक फल में तीन-तीन बीज रहते हैं जिनके पृष्ठ पर तैलग्रन्थियां पाई जाती हैं। फलों से तेल निकाला जाता है।

कुछ लोग **ले०**—टॅमॅरिक्स गॅलिका (Tamarix gallica Linn.), **हिं०**—झाऊ तथा फ्लूजिया ल्यूकोपाइरस (Flueggea leucopyrus Willd) का ग्रहण करते हैं जो उचित नहीं है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल ०.२५%, राल १०%, मधुशर्करा ३३%, एक तिक्त पदार्थ ज्यूनिपेरिन (Juniperin), ऑक्सेलिक एसिड तथा कुछ आर्गेनिक् अम्ल (Organic acid) आदि पदार्थ रहते हैं।

इसी की एक अन्य जाति ज्यू. मॅक्रोपोडा (J. macropoda Boiss) के फल कुछ लम्बे रहते हैं तथा उसमें तैल की मात्रा ३.२४% पाई गई है।

गुण और प्रयोग—हाऊबेर सुगन्धित, मूत्रजनक, वातानुलोमक, आध्मानहर, पाचक, उत्तेजक, वृष्य, रक्तस्कन्दक, आर्तवजनक एवं उपसर्गनाशक है।

इसका उपयोग **उदर रोग, यकृत् प्लीहा के विकार,** आमवात, संधिशोथ, श्वास, जीर्ण श्वसनिकाशोथ, मुखपाक, अर्धावभेदक, **नया तथा पुराना सोजाक, श्वेतप्रदर,** कष्टार्तव, अनार्तव, मधुमेह तथा चर्मरोग में किया जाता है।

(१) यह एक उत्तेजक मूत्रजनक है। इसकी क्रिया प्रत्यक्ष वृक्क के ऊपर होकर मूत्र की मात्रा बढ़ती है। इसका उपयोग हृदय, यकृत अथवा जीर्ण वृक्कशोथ के कारण उत्पन्न जलोदर में अन्य औषधियों के साथ किया जाता है। तीव्र वृक्क शोथ में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। बच्चों के वृक्कजन्य जलोदर में इससे लाभ होता है।

(२) आध्मान, शूल तथा पाचन के विकारों में इसको मद्यसार के साथ देते हैं।

(३) इसका **तैल** उत्तेजक, मूत्रल तथा वातानुलोमक है एवं इसका उपयोग कटिशूल, आध्मान तथा शूल में किया जाता है। उत्सर्ग के समय प्रत्याक्षेप क्रिया द्वारा यह गर्भाशय का संकोच करता है इसलिए आर्तवस्राव वृद्धि के लिए इसका उपयोग किया जाता है। इसके बाह्य प्रयोग से चर्म में प्रक्षोभ उत्पन्न होता है। वृक्क रोग में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(४) इसका काष्ठ स्वेदल है तथा ग्वायकम और सासाफ्रास के बदले में प्रयुक्त होता है।

(५) हाऊबेर का रस एक अच्छा उपसर्ग नाशक है। स्थूलांत्र दण्डाणु (बी० कोलाइ) जैसे जीवाणुओं का भी यह नाश करता है। इसके धूम्र का व्यवहार किया जाता है तथा यह मांस तथा मछो के संरक्षण के लिये भी प्रयोग में आता है। जानपदिक संक्रामक रोगों के मरक (Pestilence) को रोकने की दृष्टि से यह उपयोगी समझा जाता है। मरक के समय इसके चूर्ण का दैनिक सेवन करने से व्याधि का प्रतिषेध होता है।

(६) बच्चों के राजयक्ष्मा में इसको पकाकर देने से भूख बढ़ती है, वजन बढ़ता है और लाभ होता है।

(७) इसके चूर्ण को आमवातादि में संधियों तथा सूजन पर मलते हैं।

(८) यह 'जिन' आदि आपानक मद्यों के निर्माण के लिये युरोप में व्यवहार में आता है।

मात्रा—चूर्ण-२-६ माशा। तैल—½ से १ बूंद पाचक, ४-६ बूंद मूत्रल। स्पिरिट (२० में १) २०-६० बूंद। फांट—२-३ औंस।

अथ विडङ्गस्य नामानि गुणाँश्चाह

पुंसि क्लीबे विडङ्गः स्यात्कृमिघ्नो जन्तुनाशनः। तण्डुलश्च तथा वेल्लममोघा चित्रतण्डुलः॥
विडङ्गं कटु तीक्ष्णोष्णं रूक्षं वह्निकरं लघु। शूलाध्मानोदरश्लेष्मकृमिवातविबन्धनुत्॥११२॥

वायविडङ्ग के नाम तथा गुण—'विडङ्ग (यह शब्द पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग दोनों ही में व्यवहृत होता है), कृमिघ्न, जन्तुनाशन, तण्डुल, वेल्ल, अमोघा और चित्रतण्डुल ये सब वायविडङ्ग के पर्यायवाची शब्द हैं। **वायविडङ्ग**—कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण और उष्ण वीर्य होता है तथा रूक्ष, अग्निवर्धक एवं पाक में लघु होता है और यह शूल, आध्मान, उदर, कफ, कृमि तथा वात रोग एवं विबद्धता को दूर करता है॥ १११-११२॥

३५ वायविडङ्ग

प्रायः सभी पंसारी **धनिये के समान** गोल-गोल किञ्चित् लाली युक्त बीज को वायविडङ्ग के नाम से बेचते हैं और अधिकांश वैद्य इसी को लेकर व्यवहार में लाते है किन्तु आज कल के कतिपय विद्वान् वैद्यों की सम्मति है कि **शास्त्रीय 'विडङ्ग'** वास्तव में आज कल व्यवहार में आने वाले फल वायविडङ्ग नहीं हैं बल्कि 'नाड़ीहिङ्गु' (हिं०-डिकामाली) शास्त्रीय विडङ्ग है। उनके मत से शास्त्रीय 'विडङ्ग' की जगह **नाड़ीहिङ्गु** को उपयोग में लेना चाहिये। कुछ विद्वान् **काम्पिल्ल के फल** को ही वायविडङ्ग मानते हैं। इस प्रकार वायविडङ्ग एक भ्रमात्मक औषधि मानी जाने लगी है। किन्तु मेरी समझ में विडङ्ग और नाड़ीहिङ्गु एक वस्तु नहीं हैं और न वायविडङ्ग काम्पिल्ल का फल ही है। प्रचलित विडङ्ग में शास्त्रोक्त कृमिघ्न अग्निदीपक आदि गुण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, अतः सर्वमान्य निर्णय होने तक इसीका व्यवहार औषधि-कार्यों में करना चाहिए।

हिं०-वायविडङ्ग, वायभिडङ्ग, वायभिरङ्ग, भाभिरंग, बाबिरंग। **बं०**-विरंग। **म०**-वावडिङ्ग, **गु०**-वावडीङ्ग। **क०**-वायुविडङ्ग, वायबिलंग। **ते०**-वायुविडंगमु। **ता०**-वायुविलंगम। **पं०**-बबरंग, वाबरंग। **मा०**-वायबिरंग। **सिंहली०**-उम्बेलिया, अम्बेलिया। **ने०**-हिमलच्चेरी। **अ०**-बरंज कावली, बिरंज काबुली। **फा०**-बरंग काबली, बिरंज काबली, विरङ्ग काबुली। **अं०**-Babreng; Fruits of Embelia ribes (बाब्रिंग, फ्रूट आफ एम्बेलिया राइब्स)। **ले०**-*Embelia ribes Burm.* (एम्बेलिया राइब्स)। Fam. Myrsinaceae (मिर्सिनेसी)।

यह मध्य हिमालय से भारतवर्ष के पहाड़ी भागों में तथा सिलोन से सिंगापुर तक बहुत पाया जाता है।

इसकी **झाड़ी**-बहुत विस्तार में बढ़ने वाली होती है। **छाल**-वातरन्ध्रों के कारण खुरदरी होती है। **टहनियां**-लंबी, पतली, लचीली, गोल एवं लंबे पर्व युक्त होती हैं। **पत्ते**-चर्मवत्,

२ से ४ इञ्च लंबे दीर्घवृत्ताकार, या कुछ भालाकार, तीक्ष्णाग्र, ऊपर से चमकीले एवं अधोतल पर हलके या कुछ रजताभ एवं सूक्ष्म रक्ताभ ग्रन्थियों से युक्त होते हैं। **फूल**-सफेद या किञ्चित् हरियाली लिये फीके पीले रंग के गुच्छों में आते हैं। **फल**-चौथाई इञ्च तक गोलाकार, पकने पर लाल रंगके किन्तु सूखने पर झुर्रीदार काले रंग के दीख पड़ते हैं। फलों में डण्ठल के साथ पांच पट्टों का पुष्प पात्र लगा रहता है और अग्र की तरफ नोकीला रहता है। फल तोड़ने पर चितकबरे लाल रंग के पतले आवरण से युक्त एक-एक बीज निकलता है, जो स्वाद में चरपरा और गरम मसाले के समान सुगन्धित होता है। चित्रतण्डुलः यह पर्याय इसी चितकबरे वर्ण का द्योतक है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एम्बेलिक् एसिड (Embelic acid) या एम्बेलिन (Embelin, $C_{18} H_{28} O_4$) नामक एक सुनहरे पीले रंग का रवेदार पदार्थ २·५% पाया जाता है। यह जल से अघुलनशील तथा मद्यसार, ईथर, क्लोरोफार्म और बेंझीन में घुलनशील होता है। क्षारीय घोल में यह घुलकर घोल लाल रंग का हो जाता है। इसके अतिरिक्त अल्प मात्रा में क्रिस्टेम्बिन (Christembine) नामक एक क्षाराभ तथा तैल, उड़नशील तैल, रञ्जक द्रव्य, टॅनिन एवं राल सदृश पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम कृमिघ्न, वातानुलोमक, वातहर, दीपन, पाचन, वातनाडी संस्थान के लिये बल्य, रक्त शोधक, आनुलोमिक तथा रसायन है। रसग्रन्थियों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। इसका उत्सर्ग मूत्रद्वारा होता है जिससे मूत्र लाल रंग का हो जाता है।

(१) स्फीतकृमि (Tape-worm) के लिये यह अत्युत्तम औषधि है। मेलफर्न (Male-fern) के समान इससे मरोड नहीं होती और अधिक लाभ होता है। बच्चों को ४ माशा तथा बड़ों को ८ माशा चूर्ण मधु या दही के साथ सुबह खिलाकर ४ घंटे पश्चात् एरण्ड तैल अथवा कोई विरेचन देना चाहिये। अथवा कोष्ठ शुद्धि के पश्चात् रातमें इसका चूर्ण मठ्ठे के साथ देकर दूसरे दिन सुबह विरेचन देना चाहिये। इससे मरे हुए कृमि निकल जाते हैं। अन्य कृमियों पर इससे लाभ नहीं होता। इसका कृमिघ्न गुण एम्बेलिक् एसिड के कारण है। इसके लवण अमोनियम् एम्बेलेट (Ammonium embelate) (१½-३ र०) का भी उपयोग मधु के साथ अच्छा होता है। इसके पूर्व तथा पश्चात् एरण्ड तैल से विरेचन कराना चाहिये।

(२) यह एक अच्छा रसायन है। सुश्रुत में एक 'सर्वोपघातशमनीय' नामक प्रयोग बतलाया है। नित्य एक महीने तक विडंग के मगज का चूर्ण तथा मुलेठी खाकर ऊपर से ठण्डा जल पीना चाहिये। पथ्य में बिना नमक मूंग का आंवले के साथ सिद्ध किया यूष तथा घी और भात औषध पचने पर लें। इसके उपयोग से सब प्रकार के अर्श अच्छे होते हैं। ग्रहण शक्ति तथा धारणा शक्ति बढ़ती है। शरीर के सभी प्रकार के कृमि नष्ट होकर शरीर स्वस्थ होता है। इसके हर साल प्रयोग से मनुष्य निरोग तथा शतायु होता है। इससे सब प्रकार के पुराने रोग जैसे अर्श, संग्रहणी, प्रमेह, कुष्ठ, क्षय, श्वास, उपदंश एवं व्रण आदि अच्छे होते हैं तथा हैजा, प्लेग आदि उपसर्गों का भय नहीं रहता।

(३) बालकों के सभी रोगों की यह अच्छी औषधि है। सुखण्डी, आध्मान, शूल, कुपचन एवं अग्निमांद्य आदि में दूध में इसको डालकर उबालते हैं और वही दूध पिलाते हैं। इससे बच्चे तन्दुरुस्त रहते हैं। यदि इसके साथ अनन्तमूल भी दिया जाय तो अधिक लाभ होता है।

(४) गण्डमाला के लिये—वायबिडङ्ग, गुग्गुल, मनःशिला तथा शृङ्गभस्म, मधु और घृत के साथ देने से धीरे २ लाभ होता है।

(५) चर्म रोगों में इसका आन्तरिक एवं बाह्य प्रयोग किया जाता है। दाद में इसके लेप से लाभ होता है।

(६) मज्जातन्तु के रोग जैसे अर्धांगघात, आक्षेप एवं अपस्मार आदि में लहसुन के साथ दूध में उबाल कर देना चाहिये।

(७) पीनस, शिरःशूल तथा अर्धावभेदक में इससे सिद्ध तैल के नस्य से लाभ होता है। शिरःशूल में कपाल पर इसकी मालिश करनी चाहिये।

(८) बिच्छू के काटने तथा सर्प दंश पर इसका उपयोग लिखा गया है।

(९) इसका ताजा रस शीतल, मूत्रल तथा आनुलोमिक होता है।

मात्रा—चूर्ण ४ से १६ माशा।

३६ विडङ्ग भेद

सं०-विडङ्गभेद। **हि०**-वायविडङ्ग भेद, बायबिरङ्ग। **अवध०**-बेबरङ्ग। **देहरादून**-वाय-विरङ्ग, गैया। **गोंड**-कोपडह्ली। **कुरकु०**-भारङ्गेली। **मु०**-आमटी, गोंदली, बार्बटी। **ने०**-कलय बोगोटी। **अं०**-Basal (बासल)।

ले०-E. tsjeriam-cottam, A. DC. (ए० त्स्जेरियम्-कोट्टम, ए० डीसी०)।

Fam. Myrsinaceae (मिरसिनॅसी)।

यह हिमालय पहाड़ के पूर्व की ओर बङ्गाल तथा दक्षिण की ओर सिलोन तक कहीं न कहीं पाया जाता है।

इसके **वृक्ष** छोटे और बहुत झाड़दार होते हैं। पत्ते कुछ अधिक बड़े होते हैं तथा शिराएँ कुछ भुरभुरे रोमावरण से युक्त होती हैं। **फूल**—हरियाली लिये सफेद रङ्ग या हरापन युक्त फीके पीले रङ्ग के बहुत छोटे छोटे आते हैं। **फल**—छोटे छोटे गोल होते हैं और लंबाई में महीन धारीदार होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह वातानुलोमक, कृमिघ्न, अर्शोघ्न, शोथप्रतीकारक और रसायन है। इसका उपयोग विडङ्ग के समान किया जाता है। बाजार में दोनों ही जाति के फल मिले हुये रहते हैं।

(१) यह भी विडङ्ग के समान स्फीतकृमि नाशक होता है।

(२) गण्डमाला में अनन्तमूल के साथ इसका क्वाथ पिलाते हैं तथा ठण्डे जल में पीसकर गांठों पर लेप करते हैं।

(३) दन्तशूल में इसका चूर्ण हींग के साथ दांत के गढे में रखने से लाभ होता है तथा इसका मञ्जन में व्यवहार करते हैं। इसके मूल की छाल का भी इसमें उपयोग होता है।

(४) इसके कोमल पत्तों का सोंठ के साथ क्वाथ बनाकर गले की सूजन, मुख के छाले एवं व्रण में कवल कराने से लाभ होता है।

(५) न्यूमोनिया तथा अन्य छाती के विकारों में चावल की मांड के साथ इसकी छाल को उबाल कर पिलाते हैं तथा छाल पीसकर छाती पर लेप करते हैं। इसके फलों को पीसकर मक्खन के साथ छाती पर लगाने से फुफ्फुसावरण शोथ में लाभ होता है तथा शिरःशूल में भी इसी प्रकार कपाल में इसका लेप करते हैं।

३७ नाड़ी हिङ्गु (डिकामाली)

नाडीहिङ्गु पलाशाख्या जन्तुका रामठी च सा।
वंशपत्री च पिण्डाह्वा सुवीर्य्या हिङ्गुनाडिका॥ रा. नि.

सं०-नाडीहिङ्गु, पलाशाख्या, जन्तुका, रामठी, वंशपत्री, पिण्डाह्वा, सुवीर्य्या, हिङ्गुनाडिका। **हि०**-नाडीहिङ्गु, नारीहींग, कलपतीहींग, डिकामाली, डिकेमाली, कमरी। **ब०**-हिंगुविशेष। **म०**-डिकेमाली। **गु०**-डीकामारी। **काठी०**-मालण, मालडी। **क०**-डिक्कामल्लि। **ता०**-कुंबै। **ते०**-गेरिविक्कि, करिंगा, तेल्लामंगा। **अ०**-कनखाम। **अं०**-Gummy Gardenia (गम्मी गार्डेनीया); Cambi resin (कॅम्बी रेसिन)। **ले०**-*Gardenia gummifera Linn.* (गार्डोनिया गम्मी-फेरा)। Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)।

इसके वृक्ष अधिकतया दक्षिण भारत में पाये जाते हैं। इसका **वृक्ष**—छोटा तथा झाड़दार होता है। **पत्ते**—विनाल, ४·५–७ × २–२·५ से० मी० बड़े, दीर्घवृत्ताभ आयताकार, स्वरूप में कुछ अमरूद के पत्तों के समान तथा चिकने, चमकीले होते हैं। **फूल**—सुगंधहीन, प्रारंभ में श्वेत किन्तु बाद में पीतवर्ण के १ से ३ साथ साथ रहते हैं। **फल**—२·५–३·८ से० मी०, आयताकार या दीर्घ वृत्ताभ, चिकना, लंबाई में धारीदार एवं नोकदार होता है।

इन **पौधों** की कोमल शाखाओं के बीच तथा कलियों में से जाड़े के दिनों में हरियाली लिए हुए किञ्चित् पीले रंग का गोंद निकलता है। उसी को **'डीकामाली'** कहते हैं। **इसकी छाल से** गोंद नहीं निकलता। जंगली गोंड लोग ठीकरों में इकट्ठा कर सुखा करके बाजार में बेचते हैं। इस गोंद में छोटी छोटी लकड़ियां, फूस घास आदि मिली रहती है अत एव इसे गरम जल में घोल, छान एवं सुखा करके औषधि के काम में लेना चाहिये। शुद्ध डिकामाली में बिलार के मूत्र जैसी गन्ध आती है तथा वह कुछ आर्द्र एवं चमकीला रहता है और उसके चूर्ण बनाने में कठिनाई होती है।

गुण

नाड़ीहिङ्गु कटूष्णं च कफवातार्तिशान्तिकृत्। विष्ठाविबन्धदोषघ्नमानाहामयहारि च (रा० नि०)

नाड़ीहिंगु—कटु, गरम, कफ और वात की पीड़ा को शमन करने वाली तथा विष्ठा, विबन्ध और आनाह रोग को नष्ट करने वाली है।

नाडीहिङ्गुस्तु कटुकस्तीक्ष्णश्चोष्णश्च दीपकः।
कफवातमलस्तम्भमनोमोहामनाशनः॥ (निघण्टुरत्नाकरः)

नाड़ीहिंगु—कटु, तीक्ष्ण, गरम, अग्निप्रदीपक तथा कफ, वात, मलबन्ध, मन का मोह और आम का नाश करनेवाली है।

रासायनिक संगठन—इसमें दो प्रकार के राल के सदृश पदार्थ रहते हैं जिसमें से गार्डेनिन् (Gardenin) रवेदार सुनहले पीले रंग का तथा दूसरा डिकेनाली (Dikenali) कुछ मुलायम तथा हरे रंग का होता है।

गुण और प्रयोग—यह उद्वेष्टन निरोधि, वातानुलोमक, अग्निदीपक, विरेचक, कृमिघ्न, ज्वरहर, स्वेदजनन, श्लेष्मनिःसारक, त्वक् दोषहर एवं प्रतिदूषक है।

गुणों में बायबिडङ्ग और डिकामाली बहुत समानता रखती है। किन्तु शास्त्रों में विडङ्ग को कृमिघ्न लिखा है और डिकामाली के विषय में उसकी कृमिघ्नता के गुण का स्पष्टीकरण नहीं किया

है। आधुनिक शोध द्वारा सिद्ध हुआ है कि डिकामाली भी विशेष कृमिघ्न है। नाड़ीहिङ्गु के प्रयोग से कोष्ठान्तर्गत वर्त्तुलाकार कृमि नष्ट या निर्जीव हो जाते हैं। वायविडङ्ग—पकाशय के लम्बे चिपटे कृमियों का विनाशक है। डिकामाली—इन कृमियों का नाश नहीं कर सकती। इससे गोल (Round) या कुछ लम्बे नन्हें नन्हें कृमियों का नाश होता है। डिकेमाली का फाँट नियत कालिक ज्वर में देने से कम्पन कम होता है। आन्त्र की विकृतियां जैसे आध्मान, कुपचन एवं शूल आदि में इससे लाभ होता है। बच्चों को दन्तोद्भव के समय जो पाखाना एवं कय आदि विकार होते हैं उसमें इससे अच्छा लाभ होता है। आध्मान में एलुवा के साथ पेट पर इसका लेप करते हैं तथा डिकेमाली खिलाते हैं। इसके फल विरेचक तथा कृमिघ्न होते हैं। मोटापा तथा प्लीहावृद्धि में इसका गोंद व्यवहार किया जाता है। बाहरी प्रयोग से दूषित व्रण साफ किये जाते हैं। इससे कीड़े नहीं पड़ने पाते तथा पड़े हुए कीड़े निकल जाते हैं और मक्खियां नहीं बैठने पातीं। इससे दन्तशूल में लाभ होता है। नारू में इसे ५ र० की मात्रा में देते हैं। अतएव नाड़ीहिङ्गु शास्त्रीय 'विडङ्ग' कदापि नहीं हो सकती। **मात्रा**—चूर्ण ½–२ र०।

अथ तुम्बुरुफलस्य नामानि गुणाँश्चाह

तुम्बुरुः सौरभः सौरो वनजः सानुजोऽन्धकः ॥ ११३ ॥
तुम्बुरु प्रथितं तिक्तं कटूपाकेऽपि तत्कटु। रूक्षोष्णं दीपनं तीक्ष्णं रुच्यं लघु विदाहि च ॥११४॥
वातश्लेष्माक्षिकर्णौष्ठशिरोरुग्गुरुताकृमीन्। कुष्ठशूलारुचिश्वासप्लीहकृच्छ्राणि नाशयेत् ॥११५॥

'तुम्बुरु' फल के नाम तथा गुण—तुम्बुरु, सौरभ, सौर, वनज, सानुज और अन्धक ये नाम 'तुम्बुरु फल' के हैं। **तुम्बुरु फल**—तिक्त तथा कटुरस युक्त है और विपाक में भी कटुरस युक्त है। यह रूक्ष, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, तीक्ष्ण, रुचिजनक, पाक में लघु और विदाही होता है। यह वात-श्लेष्म, नेत्र, कर्ण, ओष्ठ तथा शिर के रोगों को एवं गुरुता (शरीर का भारीपन), कृमि, कुष्ठ, शूल, अरुचि, श्वास, प्लीहा और मूत्रकृच्छ्र इन सब रोगों को भी दूर करता है ॥ ११३–११५ ॥

३८ तुम्बुरु

हिं०—तुम्बुरु, तुम्बुल, तेजफल। **बं०**—तम्बुल, तुम्बुरु फल, नेपाली धने, नेपाली धनिया। **म०**—नेपाली धनियां। **मा०**—तुंबरू। **क०**—तुम्बुरु। **ते०**—तुम्दुरुलु। **पं०**—तुम्बर। **गु०**—तुम्बुरुफल। **लिपचा०**—तंग्र कंग। **ले०**—*Zanthoxylum alatum Roxb.* (झॅन्थोक्साइलम् ॲलॅटम्); *Zanthoxylum acanthopodium DC.* (झॅन्थोक्साइलम् ॲकॅन्थोपोडियम) दूसरी जाति। Fam. Rutaceae (रुटॅसी)।

यह हिमालय की गरम तराइयों में जम्मू से भूटान तक, खासिया पहाड़, टेहरी, गढ़वाल, नाग पहाड़, विजिगापट्टम और गंजाम के पहाड़ों पर पाया जाता है।

इसका वृक्ष—झाड़ीदार या क्वचित छोटे वृक्षवत रहता है। **काँटे**—सीधे, १–२ से. मी. लंबे एवं अंडाकार आधार के ऊपर रहते हैं। **पत्ते**—संयुक्त लंबे पत्र दण्ड वाले, एवं आधार की तरफ सपंख तथा गुलाबी एवं सीधे काँटों से युक्त होते हैं। **पत्रक**—५ से ११, भालाकार, न्यूनाधिक दन्तुर, ऊपर से चमकीले एवं नीचे से हलके रंग के होते हैं। छोटे छोटे पीले रङ्ग के **फूलों** के गुच्छे लगते हैं। **फल**—काली मरिच के समान झुमकों में रहते हैं, किन्तु उनके मुख फटे होते हैं। फलों में सुगन्धि आती है। इन फलों के ऊपर तेलिया राल की गाँठे

होती हैं तथा इनके अन्दर कागज के समान पड़दा रहता है। फल प्रायः खाली रहते हैं किन्तु कभी कभी उनके अन्दर गोल, काले चमकीले बीज रहते हैं। उत्तर हिन्दुस्तान में इसका व्यवहार किया जाता है। दक्षिण में इसके स्थान पर ले०-झॅ. रेट्सा (Z. rhetsa DC.), हिं०—चिरफल, तिरफल, के फल का व्यवहार किया जाता है जो तुंबुरु के फल से बड़े होते हैं। उन पर तेलिया राल की गाँठें तथा अन्दर कागज के समान पडदा नहीं रहता। उनका स्वाद चटपटा अकरकरहा के समान एवं गन्ध संतरे के छिलके के समान होती है।

रासायनिक सङ्गठन—इसकी छाल में एक कडुवा पदार्थ, उड़नशील तैल और राल रहती है। यह कडुवा पदार्थ दारुहरिद्रा में पाये जाने वाले बर्बेरीन (Berberine) के सदृश होता है। इसके फलों में एक उड़नशील तैल, राल, एक अम्ल पदार्थ और एक रवेदार पदार्थ झॅन्थोक्थाइलिन् (Xanthoxylin) पाया जाता है। यह तैल यूकॅलिप्टस् (Eucalyptus) तैल के सदृश गन्ध एवं गुणवाला होता है।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, उष्ण, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, ग्राही और उत्तेजक है। इसकी क्रिया गन्धाबिरोज़ा तथा यूकॅलिप्टस् तैल के समान होती है। इसके छाल की क्रिया दारुहरिद्रा के समान होती है।

(१) ज्वर, कुपचन, अतिसार, हैजा एवं मंदाग्नि आदि में इसके मूलत्वक् और फल का फांट उत्तेजक तथा बल्य औषध के रूप में दिया जाता है।

(२) दमें में इसका गुडाखू बना कर धूम्रपान उपयोगी है।

(३) गले की सूजन में इसके ताजे पत्तों को पीस कर चावल के आटे के साथ गरम करके बांधने से लाभ होता है।

(४) यह एक अच्छा प्रतिदूषक (Antiseptic) होने के कारण व्रणों के लिये इसके फलों का आन्तरिक तथा बाह्य प्रयोग किया जाता है। इसके मूलत्वक् क्काथ से व्रण प्रक्षालन से लाभ होता है।

(५) इसके फलों का व्यवहार **दन्तशूल** में किया जाता है। इसकी दातुन दाँतों के लिये अच्छी समझी जाती है एवं छाल तथा फल का दन्तमञ्जनों में प्रयोग किया जाता है।

(६) इसका तैल प्रतिदूषक, कीटाणुनाशक तथा दुर्गन्धिहर है।

मात्रा—फल—२–५ र., छाल—१–२ तो. फांट बना कर।

३९ तिरफल

सं०–तुंबरु। **म०**–चिरफल, तिसल। **ते०**– इरतचै। **ता०**–राचामम्। **क०**–जिसुमी मारा। **ले०**-*Zanthoxylum rhetsa* DC (झॅन्थोक्साइलम् रेट्सा)। Fam. Rutaceae (रुटॅसी)।

यह मध्यम ऊंचाई का कटीला वृक्ष दक्षिण में विशेषकर कोंकण में होता है। इसके **पत्ते**—सदलपर्ण एवं मोटी टहनियों के अग्र पर समूहबद्ध होकर रहते हैं। **पत्रक**—प्रायः १९–२५, तून के सदृश, आयताकार या प्रासवत्, अखण्ड या गोल दन्तुर धार वाले होते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीले, गुच्छों के रूप में। **फल**–गुच्छों के रूप में, कच्ची अवस्था में हरे तथा बाद में काले से हो जाते हैं। अन्य वर्णन ऊपर तुम्बुरु के साथ दिया गया है। इसके फल तथा जड़ की छाल का प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक सङ्गठन—तुम्बुरु के समान तैल, राल आदि।

गुण और प्रयोग-इसके गुण तुम्बुरु के समान हैं। इसके मूलत्वक् की क्रिया दारुहरिद्रा, मझेरियून, चोबेहयात या पीतचम्पक के छाल की तरह होती है। इसकी जड़ सुगन्धि, कड़वी, मूत्रल तथा पौष्टिक है।

(१) **इसके फल उत्तेजक, ग्राही, दीपन** एवं पाचन होते हैं और इनका व्यवहार, आध्मान, कुपचन, अजीर्ण एवं अतिसार आदि में किया जाता है। सड़ी हुई मछलियों के खाने से उत्पन्न अजीर्ण, वमन एवं अतिसार में इसका व्यवहार करते हैं। मछली खाने वालों के लिये यह पाचक है। तिरफल तथा अजवायन का अर्क हैजे में दिया जाता है। आमवात में मधु के साथ इसे खिलाते हैं।

(२) मूलत्वक्—शिथिलताजन्य कुपचन में प्रयोग में लाई जाती है। यह मूत्रल होती है। दन्तशूल में तथा लकवा से जिह्वा का कार्य ठीक न होता हो तो इसे चबाने को देते हैं। जीर्ण आमवात में भी इससे लाभ होता है। यह वृष्य, कड़वी और सुगन्धि होती है और फल की तरह भी इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—बीज निकाले फल का चूर्ण—१-२ र. मधु के साथ; मूलत्वक् १-२ तो. फांट बना कर नित्य एक बार।

अथ वंशलोचनस्य नामानि गुणांश्चाह

स्याद्वंशरोचना वांशी तुगाक्षीरी तुगाशुभा। त्वक्क्षीरी वंशजा शुभ्रा वंशक्षीरी च वैणवी॥
वंशजा बृंहणी वृष्या बल्या स्वाद्वी च शीतला। तृष्णाकासज्वरश्वासक्षयपित्तास्रकामलाः॥
हरेत्कुष्ठं व्रणं पाण्डुं कषाया वातकृच्छ्रजित्॥ ११७॥

वंशलोचन के नाम तथा गुण—वंशरोचना, वांशी, तुगाक्षीरी, तुगा, शुभा, त्वक्क्षीरी, वंशजा, शुभ्रा, वंशक्षीरी और वैणवी ये नाम वंशलोचन के हैं। **वंशलोचन**—बृंहण (धातुवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक), बलकारक, स्वादु, कषाय रसयुक्त और शीतल होता है और यह तृष्णा, कास, ज्वर, श्वास, क्षय, रक्तपित्त, कामला, कुष्ठ, व्रण, पाण्डु, वात तथा मूत्रकृच्छ्र को दूर करता है॥

४० वंशलोचन

हिं०-वंशलोचन, वंशलोचन। **ब०**-बांस कापूर। **म०**-वंसलोचन। **गु०**-वंशकपूर। बांसकपूर। **क०**-वंशलोचना, वंशरोचना, वंशरोचना। **ते०**-तवक्षीरी, तरक्षीरी, वंशलोचनमु। **ता०**-वंशलोचनम्। **फा०**-तवासीर, तवासीर। **अ०**-तवाशीर। **अं०**-Bamboo Manna (वाम्बूमन्ना)। **ले०**-*Bambusa arundinacia Willd* (बांबुजा अरूण्डिनेसिया)। Fam-Gramineae (ग्रेमिनी)।

बांस के वृक्ष भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में उत्पन्न होते हैं, विशेषकर बङ्गाल की तरफ इसकी खेती होती है।

मोटे और दृढ बांस के भीतर एवं बड़े मोटे पोली जाती के पहाड़ी बांसों के भीतर जिसे नजला बांस कहते हैं जब सफेद रस सूखकर कंकर के समान बन जाता है, तब इस सफेद कंकरी को वंशलोचन कहते हैं। यह केवल मादा जाति के ही बांसों में जमता है। बांसों को काट कर जब फाड़ते हैं तब किसी-किसी बांस के भीतर से यह निकलता है। कहते हैं कि स्वाती नक्षत्र का जल बांस के भीतर पड़ने से उसमें वंशलोचन उत्पन्न होता है। असली वंशलोचन नीलापन युक्त सफेद रङ्ग का होता है, लकड़ी पर घिसने पर रेशा नहीं उभरती तथा जल में डालने पर पारदर्शक हो जाता है लेकिन मिट्टी के तेल में डालने पर पारदर्शकता कम हो जाती है। स्वाद में यह फीका होता है। लेकिन आजकल बाजार में प्रायः नकली वंशलोचन ही बिकता है जो देखने में बहुत सुन्दर नीली आभा युक्त बड़े-बड़े कंकड़ों के रूप में होता है। पहले असली वंशलोचन जावा, सिङ्गापूर आदि से आता था। अब तो शायद किसी रासायनिक विधि से यह तैयार करके असली के नाम पर बिका करता है जिसका स्वाद कुछ तीक्ष्ण रहता है। वंशलोचन के अतिरिक्त बांस के कोमल प्रांकुर, पत्र, गांठ, बीज तथा मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—वंशलोचन में सिलिका (Silica) ९०% या सिलिसिक् एसिड के हाइड्रेट के रूप में सिलिकम् (Silicum as hydrate of silicic acid), मंडूर (Peroxide of iron), पोटेश (Potash), चूना, ॲल्यूमिनिया (Aluminia) तथा कुछ वानस्पतिक पदार्थ जैसे कोलिन (Colin), बिटेन (Betain). न्यूक्लिएस (Nuclease), यूरियस (Urease), प्रभूजिन एवं कार्बोज के पाचक किण्व तथा स्नेहविलेयक किण्व (Proteolytic, diastatic and emulsifying enzymes) तथा सायनोजेनेटिक् ग्लुकोसाइड (Cyanogenetic glucoside) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

बांस की राख में सिलिका २८, चूना ४, मॅग्नेशिया ६, पोटॅशियम् ३४, सोडियम् १२, क्लोरीन २, गंधक १० भाग और कुछ जल रहता है। कुछ लोग इसके क्षार को तथा असली वंशलोचन को गरम करके जल में डालते हैं और सूखने पर वंशलोचन के स्थान पर बेचते हैं।

गुण और प्रयोग—(१) वंशलोचन उत्तेजक, ज्वरहर, कफनिःसारक, बल्य, वृष्य, प्यास-शमन करने वाला, उद्वेष्टननिरोधि एवं ग्राही होता है। इससे श्वसनसंस्थान की श्लेष्मलकला को पुष्टि मिलती है तथा कफ की मात्रा कम होती है। इससे बने हुए सितोपलादि चूर्ण का व्यवहार जीर्णज्वर, श्वास, कास, क्षय, मन्दाग्नि, कमजोरी, कफ में खून जाना, दाह, पूयमेह, मूत्रदाह तथा वातविकार एवं सर्पदंश में किया जाता है। ग्राही औषधियों के साथ जीर्ण संग्रहणी तथा आन्तरिक रक्तस्रावों में इसका उपयोग करते हैं।

(२ इसकी कोमल गांठ तथा पत्रों का क्वाथ गर्भाशय संकोचक होता है। इसका उपयोग प्रसूता में आर्तवशुद्धि के लिए एवं अन्य आर्तव विकारों में किया जाता है।

(३) इसके कोमलपत्र का उपयोग कफ से खून जाना, कुष्ठ, ज्वर तथा बच्चों के सूत्रकृमि में किया जाता है।

(४) इसके प्रांकुर (Shoots) का रस निकाल कर कृमियुक्त घावों पर डाला जाता है तथा बाद में उसका पोल्टिस उन पर बांध दिया जाता है। जिन लोगों का पाचन ठीक नहीं होता उनको इसके कोमल प्रांकुरों से बने सिरके का उपयोग मांस मछली के साथ उपयोगी होता है। इससे भूख बढ़ती है तथा पाचन भी ठीक होता है।

(५) इसकी गाठों को पीसकर जोड़ों के दर्द पर उसका बन्धन उपयोगी है।

(६) इसके बीज को गरीब लोग चावल के रूप में खाते हैं।

(७) इसका मूल विस्फोटक व्याधियों (Eruptive affections) में बहुत उपयोगी है तथा दाद पर लाभदायक है।

(८) इसके पुष्परस का उपयोग कर्णबिन्दु के रूप में कर्णशूल एवं बाधिर्य आदि में किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ½-२ माशा।

अथ समुद्रफेनस्य नामानि गुणांश्चाह

समुद्रफेनः फेनश्च हिण्डीरोऽब्धिकफस्तथा ॥ ११८ ॥
समुद्रफेनश्चक्षुष्यो लेखनः शीतलश्च सः। कषायो विषपित्तघ्नः कर्णरुक्कफहृत्सरः ॥११९॥

समुद्रफेन के नाम तथा गुण—समुद्रफेन, फेन, हिण्डीर और अब्धिकफ ये सब नाम 'समुद्रफेन' के हैं। **समुद्रफेन**—नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, शीतल, कषाय रस युक्त, विष और पित्त का नाशक, कर्णरोग तथा कफ का भी नाशक और यह सारक भी होता है ॥ ११८-११९ ॥

४१ समुद्रफेन

हि०—समुद्रफेन, समुन्दरफेन, दर्या का कफ। **बं०**—समुद्रेर फेना, समुद्रफेला। **म०**—समुद्रफेण। **मा०**—समन्दरझाग। **पं०**—समुन्द्रझाग, समुद्रझाग। **गु०**—समुद्रफिण। **क०**—समुद्रनालिगे। **मल०, ता०**—कडल नीरे। **ते०**—सोरुपेनक, समुद्रपुनुरुगु। **फा०**—कफदरिया। **अ०**—जुबदुल्लबहेरे, जब्दुल बहेर। **अं०**—Cuttle Fish Bone (कटिल फिश बोन); Os Sepiae (ऑस् सेपी)। **ले०**—Sepia *officinalis* (सेपिया ऑफिसिनॅलिस्)। **जाति** (Family)-Cephalopoda (सिफॅलोपोडा)। **वर्ग** (Class)-Mollusca (मोल्यूस्का)।

समुद्रफेन यह समुद्र का झाग नहीं है वरन् यह एक समुद्री जीव (मछली) का अस्थिपञ्जर (या कवच) है जो कुछ समय बाद विशेष आकृति का हो जाता है और समुद्र के पानी पर तैरता रहता है। इसके टुकड़े १-३ इञ्च चौड़े और ५-१० इञ्च लम्बे होते हैं। ये लम्बे, चिपटे, आयताकार अथवा अण्डाकार, सफेदी लिये हुये, कठोर तथा भंगुर होते हैं। इसकी बाह्य सतह कई परतों से बनी दिखलाई देती है तथा सुचूर्ण्य होती है। भीतरी सतह कठोर, सुषिर एवं आसानी से टूटने वाली होती है। इसका स्वाद फीका, तीक्ष्ण तथा क्षारीय होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें कॅल्शियम कार्बोनेट (Calcium Carbonate) ८०-८५% तथा फास्फेट, सल्फेट और सिलिका (Silica) आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत कम होता है। यह खड़िया के समान अम्लत्व दूर करने वाला तथा ग्राही एवं स्थानिक उपशामक है।

(१) इसका सूक्ष्म चूर्ण कर्णस्राव तथा कर्णपीडा के लिए कानों में डालते हैं। मुख तथा दांतों के विकारों में यह दन्तमञ्जन की तरह उपयोग में आता है तथा झांई, मुहांसे, व्यंग तथा चर्म के अन्य विकारों में इसका सूक्ष्मचूर्ण या नींबू के रस के साथ इसका लेप लगाया जाता है। अम्हौरी में गुलाब जल के साथ शरीर पर इसे लगाते हैं।

(२) इसका नेत्र रोगों में विशिष्ट स्थान है। लेखन गुण के कारण नेत्रशुक्ल, जाला, धुंध आदि में सुरमा के समान या सुरमा में मिलाकर इसे काम में लाते हैं। वर्त्मदाह में इसे गुलाब जल और सैन्धव के साथ महीन पीसकर आंख में लगाते हैं।

(३) कर्णस्राव में इसे तैल में सिद्ध करके उसका उपयोग करते हैं।

(४) यद्यपि आयुर्वेद में इसका आंतरिक प्रयोग नहीं दिखाई देता तथापि यह चूने का अच्छा सेन्द्रिय योग है जिसका आन्तरिक उपयोग भी किया जा सकता है।

मात्रा—२ से ८ रत्ती।

अथाष्टवर्गस्य लक्षणगुणानाह

जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके ॥ १२० ॥
अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः ॥ १२१ ॥
अष्टवर्गो हिमः स्वादुर्बृंहणः शुक्रलो गुरुः। भग्नसन्धानकृत्कामबलासबलवर्द्धनः ॥
वातपित्तास्रतृड्दाहज्वरमेहक्षयप्रणुत् ॥ १२२ ॥

अष्टवर्ग के लक्षण तथा गुण—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि और वृद्धि इन सब आठ द्रव्यों को चरकादि मुनिगण 'अष्टवर्ग' नाम से व्यवहार करते हैं। **अष्टवर्ग**—शीतवीर्य, स्वादिष्ट, बृंहण (धातुवर्धक), शुक्रजनक, विपाक में गुरु, भग्नसन्धानकारक (टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाला), काम, कफ तथा बल को बढ़ाने वाला, वात, पित्त, रक्त, तृष्णा, दाह, ज्वर, प्रमेह और क्षय रोग को दूर करने वाला होता है ॥ १२०-१२२ ॥

तत्रादौ जीवकर्षभकयोरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ। रसोनकन्दवत्कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ ॥१२३॥
जीवकः कूर्चकाकार ऋषभो वृषशृङ्गवत्। जीवको मधुरः शृङ्गो ह्रस्वाङ्गः कूर्चशीर्षकः ॥१२४॥
ऋषभो वृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि। जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ ॥
मधुरौ पित्तदाहास्रकार्श्यवातक्षयापहौ ॥ १२५ ॥

अष्टवर्गान्तर्गत जीवक तथा ऋषभक के उत्पत्ति स्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—जीवक और ऋषभक ये दोनों औषधियां हिमालय पर्वत के शिखर के ऊपर उत्पन्न होती हैं। इन दोनों के कन्द ठीक लहसुन के कन्द के समान होते हैं और ये निःसार होते हैं तथा पत्ते सूक्ष्म होते हैं। इसमें जीवक का आकार कूंची के समान होता है और ऋषभक बैल के सींग की भांति होता है। जीवक, मधुर, शृङ्ग, ह्रस्वाङ्ग और कूर्चशीर्षक ये नाम जीवक के हैं। तथा ऋषभ, वृषभ, धीर, विषाणी और द्राक्ष ये नाम ऋषभक के हैं। ये दोनों बलकारक, शीतवीर्य, शुक्र तथा कफ के वर्धक, मधुर रसयुक्त, पित्त, दाह, रक्तदोष, कृशता, वात तथा क्षयरोग के दूर करने वाले होते हैं ॥ १२३-१२५ ॥

अथ मेदामहामेदयोरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

महामेदाऽभिधः कन्दो मोरङ्गादौ प्रजायते ॥ १२६ ॥
महामेदा वनीमेदा स्यादित्युक्तं मुनीश्वरैः ॥ १२७ ॥
शुक्लार्द्रकनिभः कन्दो लताजातः सुपाण्डुरः। महामेदाभिधो ज्ञेयो मेदालक्षणमुच्यते ॥
शुक्लकन्दो नखच्छेद्यो मेदोधातुमिव स्रवेत्। यः स मेदेति विज्ञेयो जिज्ञासातत्परैर्जनैः ॥
शल्यपर्णी[1] मणिच्छिद्रा मेदा मेदोभवाध्वरा। महामेदा वसुच्छिद्रा त्रिदन्ती देवतामणिः ॥
मेदायुग्मं गुरु स्वादु वृष्यं स्तन्यकफावहम्। बृंहणं शीतलं पित्तरक्तवातज्वरप्रणुत् ॥१३१॥

१. 'स्वल्पपर्णी'ति पाठा०।

मेदा और महामेदा के उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—उसमें महामेदा नामक कन्द मोरङ्ग (नेपाल का दक्षिणपूर्वभाग) आदि प्रदेशों में उत्पन्न होता है। महामेदा, बनीमेदा है ऐसा मुनीश्वरों ने कहा है। महामेदा लता से उत्पन्न होती है तथा इसका कन्द पाण्डुवर्ण का, सफेद अदरख के समान होता है। ये महामेदा के लक्षण हुये, अब मेदा के भी लक्षण कहते हैं—जिसके कन्द सफेद हों तथा जिसमें नख से काटने पर मेदधातु के समान एक प्रकार का रस निकलता हो उसे मेदा समझना चाहिये। शल्यपर्णी, मणिच्छिद्रा, मेदा, मेदोभवा और अध्वरा ये नाम मेदा के हैं। महामेदा, वसुच्छिद्रा, त्रिदन्ती और देवतामणि ये नाम महामेदा के हैं। **उक्त दोनों प्रकार का मेदा**—ये दोनों परिपाक में गुरु, स्वादिष्ट, वीर्यवर्धक, दुग्ध तथा कफ को बढ़ाने वाले, धातुवर्धक, शीतल, पित्त, रक्तसम्बन्धी दोष, वायु तथा ज्वर को दूर करने वाले होते हैं ॥ १२६–१३१ ॥

अथ काकोलीक्षीरकाकोल्योरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

जायते क्षीरकाकोली महामेदोद्भवस्थले ॥ १३२ ॥
यत्र स्यात्क्षीरकाकोली काकोली तत्र जायते ।
पीवरीसदृशः कन्दः सक्षीरः[1] प्रियगन्धवान् ॥ १३३ ॥
साप्रोक्ताक्षीरकाकोली काकोलीलिङ्गमुच्यते । यथास्यात्क्षीरकाकोली काकोल्यपि तथा भवेत् ॥
एषा किञ्चिद्भवेत्कृष्णा भेदोऽयमुभयोरपि । काकोली वायसोली च वीरा कायस्थिका तथा ॥
सा शुक्ला क्षीरकाकोली वयस्था क्षीरवल्लिका ॥
कथिता क्षीरिणी धीरा[2] क्षीरशुक्ला पयस्विनी ॥ १३६ ॥
काकोलीयुगलं शीतं शुक्लं मधुरं गुरु । बृंहणं वातदाहास्रपित्तशोषज्वरापहम् ॥ १३७ ॥

काकोली तथा क्षीरकाकोली के उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—महामेदा के उत्पन्न होने का जहां स्थान है, वहीं पर क्षीरकाकोली भी उत्पन्न होती है। और जहां पर क्षीरकाकोली उत्पन्न होती है, वहां पर काकोली भी होती है। क्षीरकाकोली का कन्द पीवरी (शतावर) के समान होता है और काटने पर उसमें से दूध निकलता है तथा यह प्रिय गन्ध से युक्त होता है। अब काकोली के लक्षण कहते हैं—जिस प्रकार की क्षीरकाकोली होती है उसी प्रकार की काकोली भी होती है। किन्तु दोनों में भेद यह है कि काकोली, क्षीरकाकोली की अपेक्षा कुछ कृष्णवर्ण की होती है। काकोली, वायसोली, वीरा और कायस्थिका ये नाम काकोली के हैं और शुक्ला, क्षीरकाकोली, वयस्था, क्षीरवल्लिका, क्षीरिणी, धीरा, क्षीरशुक्ला और पयस्विनी ये नाम क्षीरकाकोली के हैं। **उक्त दोनों प्रकार की काकोली**–शीतल, शुक्रवर्धक, मधुर, गुरु, बृंहण (धातुवर्धक), वात, दाह, रक्तपित्त (या रक्तदोष तथा पित्त), शोष और ज्वर की नाशक होती है ॥ १३२–१३७ ॥

अथ ऋद्धिवृद्ध्योरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

ऋद्धिर्वृद्धिश्च कन्दौ द्वौ भवतः कोशलेऽचले[3] । श्वेतलोमान्वितः कन्दो लताजातः सरन्ध्रकः ॥
स एव ऋद्धिर्वृद्धिश्च भेदमप्येतयोर्ब्रुवे । तूलग्रन्थिसमा ऋद्धिर्वामावर्त्तफला च सा ॥१३९॥
वृद्धिस्तु दक्षिणावर्त्तफला प्रोक्ता महर्षिभिः ।
ऋद्धिर्योग्यं[4] सिद्धिलक्ष्म्यौ वृद्धेरप्याह्वया इमे ॥ १४० ॥

१. 'क्षीरं स्रवति गन्धवानि'ति पाठा०। २. 'धीरे'ति पाठा०।
३. 'कोशयामले' इति पाठान्तरम्। ४. 'ऋद्धियुग्ममि'ति पाठा०।

ऋद्धिर्बल्या त्रिदोषघ्नी शुक्रला मधुरा गुरुः ।
प्राणैश्वर्यकरी मूर्च्छारक्तपित्तविनाशिनी ॥ १४१ ॥
वृद्धिर्गर्भप्रदा शीता बृंहणी मधुरा स्मृता ।
वृष्या पित्तास्रशमनी क्षतकासक्षयापहा ॥ १४२ ॥

ऋद्धि तथा वृद्धि के उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—ऋद्धि और वृद्धि ये दोनों कन्द कोशल पर्वत में उत्पन्न होते हैं। ऋद्धि का कन्द सफेद रोयें से युक्त, लता से उत्पन्न होने वाला तथा छिद्रों से युक्त होता है। और वृद्धि भी इसी प्रकार की होती है, किन्तु इन दोनों का जो परस्पर भेद है उसे अब कहता हूँ—ऋद्धि कपास की गांठ के समान आकार वाली तथा बायें तरफ से आवर्त्तशील फल वाली होती है। और वृद्धि—दहिने तरफ से आवर्त्तशील फलवाली होती है ऐसा महर्षि लोग कहते हैं। उक्त दोनों प्रकार की ऋद्धि (ऋद्धि-वृद्धि) के योग्य, सिद्धि और लक्ष्मी ये तीन नाम हैं। **ऋद्धि**–बलकारक, त्रिदोष को दूर करने वाली, शुक्रवर्धक, मधुर रस युक्त, पाक में गुरु और प्राणप्रद, ऐश्वर्यजनक, एवं मूर्च्छा और रक्त पित्त को नाश करने वाली होती है। **वृद्धि**–गर्भजनक, शीतल, बृंहण (धातुवर्धक), मधुर रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), रक्तपित्त को शमन करने वाली, क्षत (उरःक्षतादिक), कास तथा क्षय को दूर करने वाली होती है ॥ १३८–१४२ ॥

राज्ञामप्यष्टवर्गस्तु यतोऽयमतिदुर्लभः ।
तस्मादस्य प्रतिनिधिं गृह्णीयात्तद्गुणं भिषक् ॥ १४३ ॥

साधारण लोगों को कौन कहे अष्टवर्ग की उक्त औषधियां राजाओं को भी दुर्लभ हैं। अतः वैद्य को चाहिये कि वे इसके समान गुण वाली प्रतिनिधि औषधियों को काम में लावें ॥ १४३ ॥

***मुख्यसदृशः = प्रतिनिधिः ॥ १४३ ॥**

यहां पर 'प्रतिनिधि' पद का 'मुख्य के सदृश' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १४३ ॥

अथाष्टवर्गस्य प्रतिनिधिमाह

मेदाजीवककाकोलीऋद्धिद्वन्द्वेऽपि चासति ।
वरीविदार्यश्वगन्धावाराहीश्च क्रमात् क्षिपेत् ॥ १४४ ॥

अष्टवर्ग की प्रतिनिधि औषधियाँ—दोनों प्रकार की मेदा, दोनों प्रकार के जीवक, दोनों प्रकार की काकोली तथा दोनों प्रकार की ऋद्धि के स्थान में क्रम से शतावर, विदारीकन्द, असगन्ध और वाराहीकन्द इन औषधियों को डालना चाहिये ॥ १४४ ॥

***मेदामहामेदास्थाने शतावरीमूलम् । जीवकर्षभकस्थाने विदारीमूलम् । काकोलीक्षीरकाकोलीस्थाने अश्वगन्धामूलम् । ऋद्धिवृद्धिस्थाने वाराहीकन्दं गुणैस्तत्तुल्यं क्षिपेत् ॥ १४४ ॥**

यहां पर 'मेदा और महामेदा के स्थान में सतावर का मूल, जीवक तथा ऋषभक के स्थान में विदारीकन्द का मूल, काकोली तथा क्षीरकाकोली के स्थान में असगन्ध का मूल, एवं ऋद्धि तथा वृद्धि के स्थान में वाराही कन्द को गुणों में पूर्वोक्त औषधियों के समान समझकर डालें' ऐसा समझना चाहिये ॥ १४२ ॥

४२ अष्टवर्ग

नाम	उत्पत्तिस्थान	सामान्यरूप	परस्पर पार्थक्य	शा० प्रतिनिधि
१ जीवक	हिमालय पर्वत शिखर	कन्द-रसोन के समान पत्र-सूक्ष्म सारहीन	कूंची के समान	विदारीकन्द
२ ऋषभक	,, ,,	,,	बैल के सींग के समान	,,
३ मेदा	मोरङ्ग (नेपाल का दक्षिण-पूर्व भाग	कन्द-मेद के सदृश स्राव नख से छेद्य	शुक्लवर्ण	शतावरी मूल
४ महामेदा	,,	कन्द-शुक्ल आर्द्रक के समान, लताजात	पाण्डुरवर्ण	,,
५ काकोली	,,	कन्द-शतावरी सदृश सक्षीर सुगन्धयुक्त	अधिक कृष्णवर्ण	अश्वगंधा का मूल
६ क्षीरकाकोली	,,	,,	कम कृष्णवर्ण	,,
७ ऋद्धि	कोशलपर्वत	कन्द-श्वेतलोमयुक्त लताजात छिद्रयुक्त	कपास की गांठ के समान वामावर्तफल	वाराहीकन्द
८ वृद्धि	,,	,,	दक्षिणावर्तफल	,,

इस समय अष्टवर्ग की कोई भी औषधि सच्ची नहीं मिलती है। यों तो अष्टवर्ग के बेचनेवाले कितने फर्म हो गये हैं, इनमें 'अष्टवर्ग कार्यालय देहरादून' प्रसिद्ध है परन्तु अष्टवर्ग के देखने और शास्त्रों से मिलान करने से कोई भी असली नहीं सिद्ध होती। अष्टवर्ग के अभाव में मेदा-महामेदा की जगह शतावर, जीवक—ऋषभक की जगह विदारीकन्द, काकोली—क्षीरकाकोली की जगह असगन्ध और ऋद्धि—वृद्धि की जगह वाराहीकन्द डालने को कहा गया है। परन्तु आजकल के कतिपय विद्वान् वैद्य शतावर, विदारीकन्द, असगन्ध और वाराहीकन्द को अष्टवर्ग का प्रतिनिधि नहीं मानते। क्योंकि इनमें अष्टवर्ग का अत्यन्त न्यून गुण पाया जाता है। इसलिए अष्टवर्ग की जगह निम्नाङ्कित औषधियां देना उत्तम बतलाते हैं।

जीवक	अभाव में	बहमन सफेद या गुडूची
ऋषभक	,,	बहमन लाल या लम्बा सालब या वंशलोचन
मेदा	,,	सालमिश्री
महामेदा	,,	शाकाकुल मिश्री या प्रसारिणी
काकोली	,,	काली मूसली
क्षीरकाकोली	,,	श्वेत मूसली
ऋद्धि	,,	चिड़िया कन्द या बला या ढटङ्गण के बीज
वृद्धि	,,	सालब पंजा या महाबला या बीजबंद

अथ यष्टीमधुनामगुणानाह

यष्टीमधु तथा यष्टीमधुकं क्लीतकं तथा। अन्यस्क्लीतनकं तत्तु भवेत्तोये मधूलिका ॥ १४५ ॥
यष्टी हिमा गुरुः स्वाद्वी चक्षुष्या बलवर्णकृत्। सुस्निग्धा शुक्रला केश्या स्वर्या पित्तानिलास्रजित्।
व्रणशोथविषच्छर्दितृष्णाग्लानिक्षयापहा ॥ १४६ ॥

मुलहठी के नाम तथा गुण - यष्टीमधु, यष्टीमधुक और क्लीतनक ये सब मुलहठी के नाम हैं। और अन्य प्रकार की भी एक मुलहठी होती है जो कि जल में उत्पन्न होती है जिसका नाम 'मधूलिका' है। **मुलहठी**—शीतवीर्य, गुरु, मधुररसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, बलकारक तथा वर्ण को सुन्दर करने वाली, सुस्निग्ध, वीर्यजनक, केशों के लिये हितकर, स्वर को सुधारने वाली, पित्त, वात तथा रक्त के प्रकोप को शमन करने वाली, व्रण, शोथ, विष, वमन, प्यास, ग्लानि तथा क्षय रोग को दूर करने वाली होती है॥ १४५-१४६ ॥

४३ यष्टीमधु

हि०–मुलहठी, मुलेठी, मुलेठी, मीठी लकड़ी, जेठीमध। **बं०**–यष्टिमधु। **म०**–जेष्टिमध। **गु०**–जेठीमध। **क०**–जेष्टमधु। **तै०**–यष्टिमधुकम। **पं०**–मुलेठी। **मा०**–मलहठी। **ता०**–अतिमधुरं। **फा०**–आसरेहमहक, बिखेमहक। **अ०**–असलुसूस। **अं०**–Liquorice Root (लिकोरिस् रूट)। **ले०**–*Glycyrrhiza glabra, Linn.* (ग्लिसिहाइझा ग्लॅब्रा, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

इसका क्षुप अरब, फारस की खाड़ी, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान एवं साइबेरिया आदि स्थानों में उत्पन्न होता है। इसकी उपज पञ्जाब तथा चेनाब से लेकर पेशावर आदि हिमालय के निचले हिस्से में तथा अंडमान द्वीप एवं बर्मा में होती है। बलूचिस्तान तथा चित्राल में भी यह उत्पन्न होता है। काश्मीर में बरमूला घाटी में इसको उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त हुई है।

इसका क्षुप २-४ फूट ऊँचा होता है। **पत्रक**-छोटे, ४ से ७ जोड़े, आयताकार से चौड़ाई लिये हुवे भालाकार; अपरिमित सदण्डिक **पुष्प व्यूह; पुष्प**-बैंगनीवर्ण के, लगभग ½ इञ्च लम्बे; **फली**-छोटी, बारीक, ½-१ इञ्च लम्बी, चिपटी; **बीज**-बहुत या २-३ होते हैं। इसकी जड़ तथा भौमिक तने को सुखा कर छाल सहित अथवा छाल निकालकर बाजार में मुलेठी के नाम से बेचा जाता है। ये लम्बे टुकड़े, पीताभ बादामी रंग के झुर्रीदार होते हैं तथा छाल निकाले हुवे हलके पीले रंग के रेशेदार होते हैं। इनमें एक प्रकार की हल्की गन्ध तथा स्वाद मीठा होता है।

स्थान भेद से इसकी अन्य जातियां होती हैं जिनके स्वाद में अन्तर रहता है। यूनानी मत से ३ प्रकार की मुलेठी मानी गई है जिसमें से मिश्र की उत्तम, अरब की मध्यम तथा तुरुष्क वा फारस की अधम होती है जो उत्तरोत्तर कम मीठी होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सफेद, मीठा, रवेदार पदार्थ ग्लिसहाइझिन् (Glycyrrhizin) ५-१०% पाया जाता है जिसमें ग्लिसहाइझिक् एसिड (Glycyrrhizic acid) से बने चूना तथा पोटॅशियम् (Potassium) के लवण होते हैं। यह एसिड भी शुभ्र रवेदार होता है तथा इसका द्रवणांक २५° श० होता है। यह चीनी से ५० गुना अधिक मीठा होता है। गरम जल में ग्लिसहाइझिन् का बना घोल ठंडा होने पर गाढ़ा हो जाता है। इसके अतिरिक्त मुलेठी में ५-१०% शर्करा, ३०% स्टार्च, प्रमुजिन, स्नेह, राल एवं ॲसपेराजिन् (Asparagin) करीब २% होता है।

गुण और प्रयोग—मुलेठी मधुर, शीतल, स्नेहन, बल्य, वृष्य, रसायन, कफशामक, स्वर्य, नेत्र्य, मूत्रजनन, स्तन्यवर्धक, शोथहर एवं व्रणरोपक गुणों से युक्त होती है।

(१) इसमें स्नेहन तथा सौम्य कफ निःसारक गुण होने के कारण इसका मुख्य उपयोग स्वर-भंग, कास, श्वसनिका शोथ एवं गलशोथ आदि में किया जाता है। इसके लिये इसके टुकड़े को मुख में रख कर चूसने को दिया जाता है तथा तीसी के साथ इसके क्वाथ का उपयोग किया जाता है।

(२) मीठी होने के कारण क्वाथों को मधुर बनाने के लिये तथा अनेक औषधियां जैसे सनाय, एलुवा आदि को सुस्वादु बनाने के लिये तथा खांसी के लिये चूसने की गोलियों में इसका उपयोग करते हैं। इसके चूर्ण का उपयोग गोली बनाने में सहायक द्रव्य के रूप में व्यवहार में आता है।

(३) मूत्र मार्ग के प्रक्षोभ में यह बहुत उपयोगी है। इससे पेशाब की जलन दूर होती है।

(४) अम्लपित्त में इसके उपयोग से आमाशयिक अम्ल कम होकर शूल दूर होता है।

(५) चीन में इसका व्यवहार रसायन औषधि की दृष्टि से बहुत किया जाता रहा तथा अपने यहां भी इसे रसायन, बल्य तथा शुक्रल मानते हैं।

(६) इसका सत्त्व रुब्बेसूस, जो काले रंग का तथा मीठा होता है, का व्यवहार खांसी एवं गले की तकलीफ आदि में चूसने के लिए किया जाता है।

(७) सुश्रुत में 'सर्वोपघातशमनीय' योग में इसका अन्तर्भाव किया गया है। इस प्रकार सभी प्रकार के अभिघातों से उत्पन्न लक्षणों में इसका प्रयोग उत्तम माना गया है।

(८) इसका उपयोग क्षतक्षीण, रक्तवमन, हृद्रोग एवं अपस्मार आदि में भी किया जाता है। दूध अथवा घृत और मधु के साथ इसको देना चाहिये।

(९) घृत के साथ इसके कल्क का प्रयोग घावों पर लगाने के लिये उपयोगी है। भिलावे से यदि त्वक्शोथ हो गया हो तो मुलेठी और तिल को दूध में पीस कर लेप करने से लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण-१-४ माशा।

अथ काम्पिल्लस्य नामगुणानाह

काम्पिल्लः कर्कशश्चन्द्रो रक्ताङ्गो रोचनोऽपि च॥

काम्पिल्लः कफपित्तास्रकृमिगुल्मोदरव्रणान्। हन्ति रेची कटूष्णश्च मेहानाहविषाश्मनुत्॥

कबीला के नाम तथा गुण—काम्पिल्ल, कर्कश, चन्द्र, रक्ताङ्ग और रोचन ये नाम कबीला के हैं। **कबीला**-कफ, रक्तपित्त, कृमि, गुल्म, उदररोग एवं व्रण (घाव) को दूर करता है। तथा यह रेचक (दस्तावर), कटु रस युक्त और उष्णवीर्य है। एवं प्रमेह, आनाह, विष तथा पथरी को नष्ट करने वाला होता है॥ १४७॥

४४ काम्पिल्ल (कबीला)

हि०—कबीला, कमीला, काम्बीला। **बं०**—कमिला, कमलागुरी। **म०**—शेन्दि कपिला। **गु०**—कपीलो। **क०**—वसारे, चन्द्रहिट्टु। **पं०**—कमल। **ते०**—कुम्कुर। **ता०**—कपिला रङ्ग, कपिला पोडि। **मला०**—पोनागम। **फा०**—कम्बिलाय, कमीलह, कम्बेला। **अ०**—कम्बील, किम्बील, वार्स। **अं०**—Kamala (कमला)। **ले०**—*Mallotus philippinensis, Muell-Arg.* (मॅलोटस् फिलिपाइनेन्सिस, मुएल-आर्ग.)। Fam. Euphorbiaceae (यूफोर्बिएसी)।

यह प्रायः सब गरम प्रान्तों में हिमालय पहाड़ के नीचे से पूरब की ओर सिन्ध से दक्षिण, बंगाल, मद्रास, सिंगापुर, सिलोन एवं मलाया द्वीप समूह आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका सदा हरित **वृक्ष**-मध्यमाकार का २५-३० फीट तक ऊंचा होता है। **छाल**-चौथाई इंच मोटी, खाकी रङ्ग की फटी सी और भीतर से लाल दिखाई पड़ती है। **पत्ते**-गूलर के पत्तों के समान ३ से ९ इञ्च तक लम्बे, अंडाकार, नोकदार, विषमवर्ती और निम्न पृष्ठ रोमश रक्ताभ होते हैं। कार्तिक से पूस तक फूल फल आते हैं और उष्णकाल में फल पकते हैं। **फूल**-छोटे छोटे भूरापन युक्त लाल रङ्ग के आते हैं। **फल**-त्रिदल आकार में झरबेर के समान और पकने पर लाल रवेदार रज से ढका रहता है। इसी लाल रज को कबीला कहते हैं। **बीज**-चिकने, गोल और काले होते हैं।

'कबीला बायविडङ्ग की रज का नाम है' यह कहना भ्रमात्मक है। कबीला के बीजों को कहीं कहीं वायविडङ्ग की जगह व्यवहार में लाते हैं जो अनुचित है। वास्तव में वायविडङ्ग और कबीले के वृक्ष एक नहीं, दो भिन्न-भिन्न हैं।

इस वृक्ष के फलों के ऊपर के पराग (ग्रन्थि तथा रोम) को कबीला कहते हैं। फल पक जाने पर उनको कपड़े में डालकर अथवा हाथ से रगड़ कर इसे अलग करते हैं। इस लाल बदामी रंग की बुकनी में न तो स्वाद होता है न गन्ध। इसमें से जो रोम, ग्रन्थि युक्त होते हैं उनका डण्ठल एक कोशा का (प्रायः नहीं रहता) तथा ऊपर का भाग गोल ४०-१०० म्यू. व्यास का एवं २०-५० अण्डाकार या व्यस्तलट्वाकार कोषाओं से युक्त होता है। ये कोशाएं एक आधारीय कोशा के ऊपर चक्राकाररूप में एक राालीय निर्यास में डूबी हुई रहती हैं। बिना ग्रन्थि के रोम बहुत कम होते हैं जिनके अन्तिम भाग नुकीले तथा मुड़े हुये होते हैं। इनके अतिरिक्त इसमें फल के छिलके एवं बालू के कण आदि पदार्थ मिले रहते हैं।

परीक्षा—इसमें यदि निशास्ता वा कुसुम्भ की मिलावट हो तो अणुवीक्षण यन्त्र से पहचान सकते हैं। लाल मिट्टी, बालू वा मण्डूर की मिलावट हो तो इसे जल में डालने पर मिट्टी आदि नीचे बैठ जाती है। ऊपर जो बुकनी तैरती है उसे सुखाकर काम में लाना चाहिये। जल से भींगी हुई उंगली से शुद्ध कबीले को उठाकर सफेद कागज पर जोर से लकीर खींचने या रगड़ने से पीले रंग का निशान होता है। शुद्ध कबीले में राख ९% से अधिक नहीं होनी चाहिये तथा अम्ल में न घुलनेवाली राख ६% से अधिक नहीं होनी चाहिये। ईथर में घुलने वाले सत्व जो उड़नशील नहीं होते, उनकी शुष्क अवस्था में मात्रा ६६% से कम न होनी चाहिये। यह शीत जल में अघुलनशील, उष्णजल में अल्प घुलनशील एवं क्षार, मद्यसार और ईथर में घुलनशील होता है, जिससे लाल रंग का घोल बनता है।

रासायनिक संगठन—इसमें रोटलेरिन् (Rottlerin, $C_{31}H_{30}O_8$) नामक एक रवेदार पदार्थ से युक्त एक बदामी लाल रंग की राल होती है। यह ईथर में घुलनशील तथा जल में अघुलनशील होती है। इसके अतिरिक्त आइसो-रोटलेरिन् (Iso-rottlerin) नामक पदार्थ रहता है जो शायद रोटलेरिन् का अशुद्ध स्वरूप है। इनके अतिरिक्त इसमें पीले रवेदार पदार्थ, पीली और लाल राल एवं मोम आदि रहते हैं। अल्प मात्रा में उड़नशील तैल, स्टार्च, शर्करा, टॅनिन् एवं ऑक्सॅलिक तथा साइट्रिक एसिड भी पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कबीला कृमिघ्न, विरेचक, त्वक्दोषहर एवं व्रण रोपक है। स्फीत कृमि के लिये यह अच्छी औषधि है। अधिक मात्रा से हृल्लास तथा बेहोशी आती है। चेष्टावह नाडी तथा

पेशियों पर इसकी अवसादक क्रिया होती है तथा अन्नवह प्रणाली के ऊपर इसका प्रक्षोभक प्रभाव पड़ता है।

(१) कुछ लेखकों ने इसे सभी प्रकार के आंत्रस्थ कृमियों के लिये उपयोगी बतलाया है लेकिन इसका विशेष प्रभाव स्फीत कृमि (Tape worms) पर पड़ता है। मेलफर्न की अपेक्षा यह कम प्रभावशाली है लेकिन इससे वमन आदि नहीं होता और दुर्बल एवं बच्चों के लिये यह उसकी अपेक्षा अच्छी औषधि है। इसके लिये अतिरिक्त विरेचन की आवश्यकता नहीं होती न कोई पूर्व विरेचन की। २ से ८ माशा चूर्ण दूध, दही, मधु या सुगन्धित पेय के साथ खिला देते हैं। तीसरे या चौथे दस्त में कृमि निकल जाते हैं। यदि ४ घण्टे के बाद भी शौच न हो तो एरण्ड तैल देना चाहिये। इसका कृमिघ्न गुण संभवतः इसके अवसादक प्रभाव के कारण है।

(२) इसका बाह्य प्रयोग तैल में मिलाकर दाद, खुजली, चकत्ते, व्रण एवं अग्निदग्ध व्रण आदि में बहुत लाभदायी है। सिर के खालित्य में शतधौत घृत के साथ लगाने से लाभ होता है।

(३) इस वृक्ष के पत्ते एवं मूल आदि का चर्म रोगों में अनेक प्रकार से प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २-८ माशा। बच्चों को ५ र० मधु से, इससे अधिक एक साथ न दें, यदि गुण न हो तो दूसरे दिन पुनः दें।

अथारग्वधस्य (धानबहेरा, अमलतास) नामगुणानाह

आरग्वधो राजवृक्षः शम्पाकश्चतुरङ्गुलः। आरेवतो व्याधिघातः कृतमालः सुवर्णकः ॥१४८॥
कर्णिकारो दीर्घफलः स्वर्णाङ्गः स्वर्णभूषणः। आरग्वधो गुरुः स्वादुः शीतलः स्रंसनोत्तमः[1] ॥
ज्वरहृद्रोगपित्तास्रवातोदावर्तशूलनुत्। तत्फलं स्रंसनं रुच्यं कुष्ठपित्तकफापहम् ॥
ज्वरे तु सततं पथ्यं कोष्ठशुद्धिकरं परम् ॥ १५० ॥

अमलतास (धनबहेरा) के नाम तथा गुण—आरग्वध, राजवृक्ष, शम्पाक, चतुरङ्गुल, आरवेत, व्याधिघात, कृतमाल, सुवर्णक, कर्णिकार, दीर्घफल, स्वर्णाङ्ग और स्वर्णफल ये नाम अमलतास के हैं।

अमलतास—गुरु, मधुर, शीतल और उत्तम रेचक है। यह ज्वर, हृद्रोग, रक्तपित्त, वायु, उदावर्त्त और शूल को दूर करता है। **अमलतास का** फल—मृदु रेचक, रुचिकारक, कुष्ठ, पित्त तथा कफ को दूर करने वाला होता है। यह ज्वर में सदा हितकर होता है एवं कोष्ठ को अत्यन्त शुद्ध करने वाला होता है ॥ १४८-१६० ॥

४५ आरग्वध (अमलतास)

हि०-अमलतास, सोनहाली। **बं०**-सोन्दाली, सोनालु, बन्दर लाठी। **म०**-बाहवा। **क०**-कक्केमर। **ते०**-रेलचेट्टु। **गु०**-गरमालो। **पं०**-अमलतास, करङ्गल, कनियार। **ता०**-कोन्नेमर, शरकोन्ने, कोरैकाय। **फा०**-ख्यारेचम्बर। **अ०**-ख्यारे शम्बर, ख्यारशम्बर। **अं०**-Pudding Pipe Tree (पुडिंग पाइप ट्री) या Indian Laburnum (इण्डियन लॅबर्नम्), या Purging Cassia (पर्जिंग केशिया)। **ले०**-*Cassia fistula, Linn.* (केशिया फिस्चुला, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है।

१. 'मृदु'रिति पा०।

इसका वृक्ष—मध्यमाकार का होता है, किन्तु कहीं कहीं बड़े वृक्ष भी देखने में आते हैं। लकड़ी बहुत मजबूत होती है। १२ से १८ इञ्च तक की लम्बी लम्बी सींकों पर ४ से ८ जोड़े पत्ते लगते हैं जो २॥ से ३॥ इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार होते हैं। १०-२० इञ्च तक की लम्बी टहनियों पर सुनहले चमकीले पीले पीले रङ्ग के पांच पांच दल वाले फूलों के घनहरे लगते हैं, जो चैत के अन्त से ज्येष्ठ तक वृक्षों को सुशोभित करते हैं। जेठ में पतली पतली सलाई के समान हरी हरी फलियाँ निकल कर वर्षा के अन्त तक १-२ फीट लम्बी १ इञ्च तक मोटी हरी हरी फलियां लटकती दिखाई पड़ती हैं। फिर हेमन्त के अन्त से काला रूप धारण करके वसन्त में पक जाती हैं। फलियों के भीतर पुरानी चवन्नी बराबर गोल गोल पतले पतले काले रस से लिपटे हुए परत रहते हैं और परतों के बीच सिरस के बीज के समान बीज होते हैं।

रासायनिक संगठन—अमलतास के गूदे में गोंद, पेक्टिन (Pectin), रंजक पदार्थ, शर्करा, अल्प मात्रा में एक मधुगंधि उड़नशील तैल तथा हाइड्रोक्सिमेथिल्-अन्थ्राक्विनोन् (Hydroxy-methyl-anthraquinones) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—(१) अमलतास की गुद्दी आनुलोमिक, दाहशामक एवं वेदना स्थापक है। यह मृदु विरेचनों में सर्वश्रेष्ठ है। इसका प्रयोग ज्वरावस्था में तथा सुकुमार, बाल, गर्भिणी एवं कोमल प्रकृति की नारियों में किया जाता है। मृदु विरेचन के लिये इसके स्वतंत्र प्रयोग की अपेक्षा सनाय के साथ बनाया हुआ अवलेह (Confectio senna) अधिक अच्छा है जिससे मरोड़, हल्लास, शूल, आध्मान आदि नहीं होते जो स्वतन्त्र प्रयोग में अधिक मात्रा में लेने से होते हैं। इससे बनी गुलकन्द का भी व्यवहार किया जाता है। रक्त की उग्रता बढ़ने पर अथवा मल संचय होकर वातरक्त एवं आमवात आदि रोग उत्पन्न होने पर विरेचन के लिये इसका उपयोग करते हैं। जिन्हें कब्जियत की शिकायत हमेशा रहती है उन्हें अल्प मात्रा में इसे बराबर सेवन कराया जाता है। अधिक दिन प्रयोग से मूत्र का रंग गहरे बादामी रंग का हो जाता है। ज्वर में अथवा मधुमेह में विरेचन की आवश्यकता हो तो इसका उपयोग कर सकते हैं। कॉफी के सत्व में इसकी मिलावट की जाती है। इसका लेप आमवात, वातरक्त एवं व्रणशोथ आदि पर किया जाता है।

(२) इसके बीज वामक होते हैं तथा ५-७ बीजों का चूर्ण वमन के लिये दिया जाता है।

(३) इसकी छाल के क्वाथ से कवल करने से गले की गांठों की सूजन कम होती है।

(४) इसके पत्तों का रस अर्दित में पिलाया जाता है तथा जिस अंग का घात हुआ हो वहां इससे मला जाता है। दाद तथा भिलावें की सूजन पर इसके लगाने से लाभ होता है।

(५) इसकी मूल तीव्र विरेचक एवं ज्वरहर होती है।

मात्रा—गुद्दी ४-८ माशा।

अथ कटुकाया नामगुणानाह

कट्वी तु कटुका तिक्ता कृष्णभेदा कटम्भरा[1] ॥
अशोका मत्स्यशकला चक्राङ्गी शकुलादनी ॥
मत्स्यपित्ता काण्डरुहा रोहिणी कटुरोहिणी ॥ १५१ ॥

१. 'कटुम्बरे'ति पा०।

कट्वी तु कटुका पाके तिक्ता रूक्षा हिमा लघुः।
भेदिनी दीपनी हृद्या कफपित्तज्वरापहा। प्रमेहश्वासकासास्रदाहकुष्ठक्रिमिप्रणुत् ॥ १५२ ॥

कुटकी के नाम तथा गुण—कट्वी, कटुका, तिक्ता, कृष्णभेदा, कटम्भरा, अशोका, मत्स्यशकला, चक्राङ्गी, शकुलादनी, मत्स्यपित्ता, काण्डरुहा, रोहिणी और कटुरोहिणी ये सब कुटकी के नाम हैं। **कुटकी**—तिक्त रसयुक्त, परिपाक में कटु रसयुक्त, रूक्ष, शीतल, लघु, मलको भेदन करने वाली, अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकर, कफ, पित्तज्वर, प्रमेह, श्वास, कास, रक्त दोष, दाह, कुष्ठ तथा कृमि का नाश करने वाली होती है॥ १५१–१५२ ॥

४६ कुटकी

हि०–कुटकी, कटुकी, कटुका। **बं०**–कटकी। **म०**–केदारकडू, काली कुटकी। **गु०**–कालकडू कडू। **तै०**–कटुकुरोणी। **क०**–कटुक रोहणी, कटुकरोहिनी। **ता०**–कडुकु रोगणी। **फा०**–खर्बकेहिन्दी। **अ०**–सर्वके अस्वद, खानेखस्वैल। **अं०**–Picrorhiza (पिक्रोहाइझा)। **ले०**–*Picrorhiza kurroa Royle ex Benth.* (पिक्रोहाइझा कुर्रो)। Fam. Scrophulariaceae (स्क्रोफ्युलॅरियासी)।

यह हिमालय पहाड़ की ९०००–१५००० फीट ऊँची चोटियों पर काश्मीर से सिक्कम तक बहुत उत्पन्न होती है।

इसका **क्षुप** रोमश होता है। इसका **भौमिक तना** बहुवर्षायु, छोटी उँगली के समान मोटा एवं ६ से १०–१२ इञ्च तक लम्बा होता है। पत्ते २–४ इञ्च लम्बे, सुवाकार, जड़ की ओर संकुचित, आगे की ओर चौड़े, किञ्चित् चिकने और कटे हुए झालरदार किनारे वाले होते हैं। क्षुप के बीच से एक डण्डी निकलती है जिसके अन्त में फूलों के गुच्छे लगते हैं। फूल–नीले या सफेद रङ्ग के आते हैं। फली–चौथाई इञ्च की होती है।

कुटकी इस क्षुप के मूल (भौमिकतनें–Rhizome) को कहते हैं। यह १ से २ इञ्च लम्बे, कपिश लोहबान की तरह रंग वाले, खुरदरे एवं मुड़े हुए टुकड़े होते हैं। इन पर छोटी छोटी चक्राकार गाँठें तथा गिरे हुए पत्तों एवं मूल के निशान रहते हैं। यह एक तरफ मोटी तथा दूसरी तरफ पतली होती है तथा इसमें एक प्रकार की हलकी गन्ध होती है। इसका स्वाद अत्यन्त कडुवा होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें पिक्रोहाइझिन् (Picrorhizin) नामक एक कडुआ रवेदार मधुमेय (Glycoside) २६.६% पाया जाता है, जिसका उदांशन (Hydrolysis) होने पर पिक्रोहीझेटिन् (Picrorhizetin) एवं एक प्रकार की मधु शर्करा (Dextrose) प्राप्त होती है। यह मधुमेय जल, मद्यसार, एसिटोन (Acetone) और एथिल् ॲसिटेट (Ethyl acetate) में घुलनशील एवं क्लोरोफॉर्म (Chloroform), बेंझिन (Benzene) और ईथर (Ether) में अघुलनशील होता है। यह अत्यन्त जलग्राही (Hygroscopic) होता है। इसके अतिरिक्त इसमें मधुशर्करा, मोम एवं कॅथार्टिक् ॲसिड् (Cathartic acid) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह एक उत्तम **कटुआपौष्टिक**, दीपक, पाचक, **पित्तविरेचक** और **नियतकालिक ज्वरहर है**। इसकी क्रिया आंत्र एवं यकृत पर होती है। यह अल्प मात्रा में संस्रन तथा अधिक मात्रा में विरेचक होती है। जैन्शियन की तरह तिक्त पौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। इसका गुण इन्द्रायण के सदृश होता है।

इसका उपयोग नियतकालिकज्वर, शीतज्वर, कामला, पांडु, यकृत् विकार, श्वास, कुपचन, हृद्रोग, संग्रहणी, आन्त्र की शिथिलता तथा बच्चों के कृमि विकारों में किया जाता है।

(१) पुनरावर्तित ज्वरों में इससे अच्छा लाभ होता है लेकिन इसको अधिक मात्रा में (३–४ माशा) देना पड़ता है। अविशिष्ट स्वरूप के सभी पुराण मन्द ज्वरों में, विशेषकर विबन्धयुक्त ज्वर में, इससे अच्छा लाभ होता है। इससे ज्वर जनित दाह की शान्ति होती है।

(२) हृदय के ऊपर इसकी क्रिया डिजिटॅलिस् की तरह होती है। हृदय की अकार्य क्षमता जनित यकृत् वृद्धि एवं उदरशोथ में इसको अधिक मात्रा में क्वाथ के रूप में देने से पतले दस्त होकर लाभ होता है तथा हृदय को बल प्राप्त होता है।

(३) आरोग्यवर्धिनी गुटिका में इसकी आधी मात्रा रहती है।

मात्रा—चूर्ण ५–१० रत्ती। **जीर्णज्वर में**—३–४ माशा।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(क) कुटकी के ही नाम से जेन्शियाना कुर्रो (Gentiana kurroo, Royle; Fam. Gentianaceae) के मूल जिन्हें 'करू' कहा जाता है, बेचे जाते हैं। ये बाह्य स्वरूप में कुटकी के ही समान दिखलाई देते हैं, लेकिन दोनों की सूक्ष्म रचना में भेद होता है। इनके अनुप्रस्थ विच्छेद (Transverse section) में अन्तर स्पष्ट दिखलाई देता है। जें० कुर्रो में रसारोहण नलिका (Vessel) के कोष्ठावरणों की वृद्धि से उत्पन्न मोटाई, चक्राकार (Annular) या सीढ़ी के डण्डों की तरह मोटी रेखाकार (Scalariform) होती है, लेकिन कुटकी (P. kurroa) में यह मोटाई बिन्दुमय (Pitted) होती है। कुटकी (P. kurroa) में मूल के मध्य भाग में रहने वाले कोष्ठ जिन्हें पिथकोष्ठ (Pith cells) कहा जाता है, वे बिन्दुमय आवरण (Pitted walled) वाले होते हैं लेकिन ये कोष्ठ जे० कुर्रो में अनुपस्थित रहते हैं। गुण धर्म की दृष्टि से भारतीय जे० कुर्रो विदेशी जेन्शियाना का अच्छा प्रतिनिधि समझा जाता है।

(ख) जे० कुर्रो के अतिरिक्त इसमें एक तीक्ष्ण औषधि ले०–*Helleborus niger Linn.* (हेलीबोरस् नाइगर्) मिली हुई रहती है, जिसको पहचानना आवश्यक है। इसके टुकड़े १ से ३ इञ्च लंबे और ½ इञ्च से कम मोटे होते हैं। बाह्य पृष्ठ चिकना, टूटे हुवे मूल के निशानों से युक्त एवं हलके रंग का होता है। यह टुकड़े बहुत हलके तथा दो अंगुलियों के बीच नख से दबाने पर दब जाने वाले होते हैं।

४६ (क) करू

सं०–त्रायमाण ? **हि०, बं०**–करू, कुटकी। **पं०**–कमल फूल, नीलकंठ। **बंम्ब०**–पाषाणभेद, जितीयाण। **अं०**–Indian Gentian (इण्डियन् जेन्शियन्)। **ले०**–*Gentiana kurroo Royle* (जेन्शियाना कुर्रो)। Fam. Gentianaceae (जेन्शियानॅसी)।

इसका **क्षुप** काश्मीर तथा हिमालय के उत्तरी पश्चिमी शिखरों पर ५०००–११००० फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है। **पत्र**–मूलीय; कोषमय आधार वाले, ३–५ इञ्च लम्बे, रेखाकर (Linear; **पुष्प**–नीले सफेद दागों से युक्त; **मूल**–हलका, पीला, चौपहल; **फली**–लम्बी। चिकित्सा में इसके भौमिक तने तथा मूल का व्यवहार किया जाता है। कुटकी तथा विदेशी 'जेन्शियन्' के स्थान पर इसका प्रयोग किया जाता है। इसकी अन्य जातियों का भी इसी प्रकार व्यवहार किया जाता है। इसके टुकड़े १ इञ्च लम्बे एवं इन पर चक्राकार धारियां होती हैं तथा ये ऐंठे हुए से प्रतीत होते हैं। अन्य पार्थक्य ऊपर लिखा गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कडुवा पदार्थ तथा एक पारदर्शक राल के समान पीले रंग का बिना स्वाद का पदार्थ २०% पाया जाता है जो क्षारीय घोल में नहीं घुलता। इसमें जे न्शिय

पिक्रिन (Gentiopicrin) नहीं होता जिसे विदेशी जेन्शियन् (G lutea) का प्रभावकारी द्रव्य समझा जाता है। शायद यह इसके ताजे मूल से प्राप्त हो सकता है।

गुण और प्रयोग—यह कडुआ तथा बल्य है। इससे आमाशयिक रसों की अभिवृद्धि होकर भूख बढ़ती है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर यह विरेचन कराती है। इसका स्वाद एवं गन्ध अच्छी होने के कारण अनेक बल्य एवं पाचक औषधियों के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। इसमें टॅनिन न होने के कारण यह ग्राही भी नहीं होता है। ज्वर में इससे लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण ५-१५ र०।

४६ (ख) खुरासानी कुटकी

हि०-खुरासानी कुटकी। **गु०**-कडू। **म०**-कडू। **अ०**-खेरतिक। **इरान**-खेरबेकसीआ। **अं०**-Black hellebore (ब्लॅक् हेलीबोर), Christmas rose (क्रिस्टमस् रोज़)। **ले०**-*Helleborus niger Linn.* (हेलीबोरस नाइगर)। Fam. Ranunculaceae) (रेनन्क्युलेसी)।

इस बनस्पति के मूल नेपाल, हिमालय और अरब से आते हैं। कुटकी में इसकी मिलावट रहती है। विशेष वर्णन कुटकी के साथ दिया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें हेल्लेबोरिन् (Helleborin) तथा हेल्लेबोरेइन् (Helleborein) नामक पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह हृद्य, ज्वरहर, वेदनाहर, विरेचक, आर्तवबृद्धिकर एवं कृमिघ्न है। अधिक मात्रा में यह विषैली औषधि है। इससे हृदयातिपात होकर मृत्यु हो सकती है। अधिक मात्रा से प्रथम वमन और विरेचन प्रारम्भ होता है, फिर नाडी की गति कम होते होते मृत्यु हो सकती है।

(१) हृदय की अकार्यक्षमता के कारण उत्पन्न जलोदर में पुनर्नवा, अपामार्ग, चिरायता एवं सोंठ के साथ इसका क्वाथ बहुत लाभकर होता है। हृदय पर इसकी क्रिया डिजिटॅलिस् के समान होती है। इससे हृदय को बल मिलता है एवं नाडी की गति मंद होकर नाडी बलवान् होती है और जलोदर दूर होता है।

(२) वेदनायुक्त ज्वर जैसे फुफ्फुस पाक, तीव्र सन्धि शोथ एवं प्रसूतिज्वर आदि में इसके प्रयोग से लाभ होता है। इन रोगों में इसकी क्रिया वत्सनाभ के समान होती है।

(३) इसके क्वाथ से व्रण प्रक्षालन करने से व्रणपीडा दूर होती है। यह स्थानिक वेदनाहर भी है।

मात्रा—चूर्ण ४-८ र०।

अथ किरातकस्य (चिरायता) नामगुणानाह

किराततिक्तः कैरातः कटुतिक्तः किरातकः ॥ १५३ ॥
काण्डतिक्तोऽनार्यतिक्तो भूनिम्बो रामसेनकः ॥
किरातकोऽन्यो नैपालः सोऽर्द्धतिक्तो ज्वरान्तकः ॥ १५४ ॥
किरातः सारको रूक्षः शीतलस्तिक्तको लघुः।
सन्निपातज्वरश्वासकफपित्तास्रदाहनुत्। कासशोथतृषाकुष्ठज्वरव्रणकृमिप्रणुत् ॥ १५५ ॥

चिरायता के नाम तथा गुण—किराततिक्त, कैरात, कटुतिक्त, किरातक, काण्डतिक्त, अनार्यतिक्त भूनिम्ब और रामसेनक ये सब चिरायता के नाम हैं। नेपाल देश में एक प्रकार की चिरायता उत्पन्न होती है जो कि इसकी अपेक्षा आधा तिक्तरसयुक्त होती है। अत एव उसे 'अर्धतिक्त' कहते हैं। वह ज्वरनाशक होती है। **चिरायता**—सारक (दस्तावर), रूक्ष, शीतल, तिक्तरसयुक्त एवं लघु होती है एवं सन्निपातज्वर, श्वास, कफ, पित्त, रक्तदोष, दाह, कास, शोथ, प्यास, कुष्ठ, ज्वर, व्रण और कृमि इन सबों को दूर करती है ॥ १५३-१५५ ॥

४७ किरात (चिरायता)

हि०-चिरायता, चिरेता, चिरैता, चिराइता। **बं०**-चिराता, चिरेता। **म०**-काडेचिराईत, चिराइता। **गु०**-करियातुं। **क०**-नेलबेवु। **ते०**-नीलवेमु। **ता०**-निलवेम्बु। **फा०**-नोनिहाद, मोनिहादन्दी। **अ०**-कसबुज्जरीरा, कस्बुझ्झारिरा, कसबुल् रायरह। **अं०**-Chireta। चिरेटा)। **ले०**-*Swertia Chirata* (Buch-*Ham*)। (स्वर्शिया चिराटा) Fam. Gentianaceae (जेन्शियानॅसी)।

चिरायता हिमालय पहाड़ के गरम प्रान्तों में काश्मीर से भूटान तक और खासिया के पहाड़ पर उत्पन्न होता है।

प्रायः पृथ्वी के सब देशों में १८० प्रकार का चिरायता पाया जाता है, इनमें हमारे देश में ३७ प्रकार का होने का अनुभव किया गया है। जिस चिरायते को हम लोग व्यवहार में लाते हैं और जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, वह हिमालय पहाड़ के लगभग ४ हजार से १० हजार फीट ऊँची चोटियों पर तथा खासिया के पहाड़ पर ४ हजार से ५ हजार फीट की ऊँची चोटियों पर उत्पन्न होता है।

इसका वर्षायु **क्षुप**—दो फीट से ५ फीट तक ऊँचा होता है। **कांड**—नारंगी कालासा या जामुनी, मूल की तरफ गोल, मोटा, ऊपर बहुशाखा युक्त तथा चौपहल; **पत्र**—चौड़े भालाकार, ४×१·५ इंच, चिकने, नोकदार, ३ से ७ शिराओं से युक्त, विपरीत; **दलपत्र**—हरित पीत, परंतु बैंगनी रंग की छाया भी हो सकती है। प्रत्येक विच्छेद पर दो दो हरिताभ और रोमश ग्रन्थियाँ होती हैं। फूलने पर इसमें **डोंडी** लगती है जिनमें बहुत, बारीक बीज निकलते हैं। पुष्पित होने पर सम्पूर्ण क्षुप को उखाड़ कर सुखाकर बेचते हैं जिसका औषधि में व्यवहार होता है। यह अत्यन्त कडवा होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें चिरातिन् (Chiratin, C_{52} H_{96} O_{30}) और ओफेलिक् एसिड (Ophelic acid, C_{26} H_{40} O_{20}) नामक दो कडुवे द्रव्य १·४२-१·५२% रहते हैं। इनमें पहला हलके पीले रंग का पदार्थ है एवं दूसरा भी हलके पीले बादामी रंग का, आर्द्र, चासनी की तरह पदार्थ होता है जो जल तथा मद्यसार में घुल जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें यवक्षार, चूना, राल एवं ओलिक् (Oleic), पामिटिक् (Palmitic) और स्टियरिक् अम्ल (Stearic acids) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—चिरायता दीपन, पाचन, तिक्तपौष्टिक, ज्वरहर, दाहप्रशमन, पित्तविरेचक एवं कृमिघ्न है। जेन्शियन की तरह ही यह लाभदायक है। इसके प्रयोग से भूख बढ़ती है, पाखाना साफ होता है तथा पुराने ज्वर में लाभ होता है। इसका उपयोग स्वतन्त्र की अपेक्षा अन्य औषधियों के साथ अधिक किया जाता है।

इसका प्रयोग ज्वर, विषमज्वर, दाह, अग्निमान्ध, शैथिल्यप्रधान कुपचन, आध्मान, अम्लपित्त, यकृत् विकार, कामला, पांडु, श्वास, शोथ, गण्डमाला तथा कृमिरोग एवं व्रण में किया जाता है।

(१) पुराने ज्वर में जब अग्निमांध तथा शरीर में दाह रहता है तब इसके फांट या चूर्ण से लाभ होता है। सुदर्शन चूर्ण, जिसमें इसकी आधी मात्रा रहती है, बहुत व्यवहार में आता है।

(२) रोग संनिवृत्तावस्था में पाचन सुधारने के लिए तथा अग्निवृद्धि के लिए बल्य औषधि के रूप में इसके फाण्ट का व्यवहार लौंग दालचीनी आदि सुगन्धि औषधियों के साथ किया जाता है।

(३) हिचकी, गर्भिणीवमन एवं मद्यपान करने वालों में यदि वमन हो तो इसके चूर्ण वा क्वाथ का प्रयोग मधु या शर्करा मिलाकर करते हैं।

(४) वातरक्त में बल्य औषधि की तरह इसका प्रयोग किया जाता है।

(५) उष्ण कटिबन्धज यकृत् विकारों में धनियां तथा चिरायते का क्वाथ मधु के साथ देने से लाभ होता है।

(६) भूनिम्बादि चूर्ण जिसमें चिरायता, कुटकी, त्रिकटु, मुस्तक, इन्द्रयव, कुरैया की छाल एवं चित्रक आदि पदार्थ रहते हैं, उसका व्यवहार कुपचन, संग्रहणी, ज्वर तथा कृमिरोग में किया जाता है।

(७) सुदर्शन चूर्ण तथा टङ्कण क्षार का दो तीन बार बाह्य प्रयोग करने से 'अजगल्लिका' (Impetigo contagiosa) नामक फुन्सियों में पारद मलहर की अपेक्षा अधिक लाभ होता है।

(८) जीर्णज्वर में पांडु तथा कृशता होने पर किराताादि तैल से अभ्यङ्ग कराया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ४–१५ रत्ती।

प्रतिनिधि—ये सभी जेन्शियानेसी (Gentianaceae) वर्ग के हैं।

(१) S. purpurascens Wall. (स्व० परप्यूरासेन्स्)—यह पश्चिमोत्तर हिमालय के गरम प्रान्तों में काश्मीर से कुमाऊँ तक प्राप्त होता है। **कांड** छोटे; शाखाएँ फैली हुई; पत्र आयताकार या भालाकार, १½ × ·७ इञ्च; **दलपत्र** हलके सुर्खी लिये बैगनी रंग के और उनके आधार पर एक कालाचक्र, विच्छेद बाहर को ओर मुड़े हुये और एक एक ग्रन्थि से युक्त होते हैं।

(२) S. decussata Nimmo ex Grah. (स्व० डिकसेटा)—**म०**–सिलाजित, **महाबलेश्वर**—कडु, **द०**–कवि।

इसका छोटा क्षुप दक्षिण के पश्चिमी भागों में होता है। कांड चौपहल; पुष्प श्वेत। इसके टुकड़े २ इञ्च लम्बे एवं हंस के पंख के इतने मोटे होते हैं। ये महाबलेश्वर में बिकते हैं। स्वाद अत्यन्त कडुआ। **गुण** करू (जं. कुर्रो) की तरह।

(३) S. chinensis Franchet (स्व० चाइनेन्सिस्)—**जापानी** चिरायता का क्षुप छोटा एवं ४–१४ इञ्च ऊँचा होता है। **कांड** बहुत बारीक। यह स्वाद में चिरायते की अपेक्षा **अधिक कडुआ** होता है।

(४) S. paniculata Wall. (स्व० पॅनिक्युलॅटा) **बं०**–कड़वी।

(५) S. perennis Linn. (स्व० पेरेन्निस्)।

(६) S. corymbosa Wight (स्व० कोरिम्बोसा)।

(७) S. affinis Clarke (स्व० अफिनिस्)।

(८) Exacum bicolor Roxb. (एक्झॉकम् बाइकलर)—**हि०** बड़ा चिरायता।

इसका क्षुप दक्षिण में कोंकण में बरसात के दिनों में उत्पन्न होता है। **पुष्प** श्वेत और सुन्दर। दलपत्रों के अन्तिम हिस्से जरा नीले से रहते हैं। **गुण**—पौष्टिक, अग्निवर्धक एवं करू की तरह।

(९) E. tetragonum Roxb. (ए. टेट्रागोनम्)—**हि०**–तितखन, **म०**– ऊदकिराईत।

इसका वर्षायु **क्षुप** उत्तर हिन्दुस्तान के पहाड़ी प्रदेश एवं हिमालय पर उत्पन्न होता है। यह एक हाथ ऊँचा. **कांड** चौपहल; **पत्र**–विपरीत, विनाल, शल्याकृति लेकिन कुछ चौड़े, एक अङ्गुल लम्बे और ५ शिरायुक्त; **पुष्प** नीले। गुण–दीपन एवं कडुवापौष्टिक। इसका प्रयोग जीर्णज्वर तथा कुपचन में किया जाता है।

(१०) Erythraea roxburghii G. Don (एरिथ्रिआ रॉक्सबर्गाय)। **ब०**–गिर्मि। **म०**–लुन्तक।

इसका छोटा सा क्षुप कोंकण में बरसात के बाद उत्पन्न होता है। **पुष्प** सुन्दर, गुलाबी एवं सितारों के समान। **स्वाद** कडुवा। **गुण**—इसको कडूनाई भी कहते हैं तथा पौष्टिक कडुवी औषधि की तरह बङ्गाल में व्यवहार में आती है। कुपचन तथा ज्वर में इसका प्रयोग किया जाता है।

(११) Enicostemma littorale Blume (एनिकोस्टेमा लिटोरेल)—**हि०**, **म०**–छोटा चिरायता, **गु०**–मामिज्वा; **तै०**–नेलगल्लि।

इसका छोटा क्षुप सभी जगह किन्तु समुद्र के किनारे तथा तर जमीन में अधिक होता है। यह बंगाल में नहीं होता। गुजरात तथा उत्तरी कोंकण में बहुत होता है। इसका **क्षुप** एक बित्ता ऊँचा एवं बहुत शाखायुक्त होता है। **कांड** सीधा, चौपहल एवं मूल से ऊपर तक पत्र युक्त। **पत्र** विपरीत, विनाल, शल्याकृति, सनाय वा इमली की तरह एवं ३ शिरायुक्त। **पुष्प** श्वेत, छोटे, विनाल, प्रत्येक कोण में ३, ३। **फल** गोल फली। **स्वाद** अत्यन्त कडुवा। इसके पञ्चांग का व्यवहार गुजरात तथा मद्रास में अधिक किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक, आनुलोमिक एवं तिक्त पौष्टिक है। इसको रत्ती दो रत्ती मात्रा में कुपचन में देते हैं।

व्यामिश्रण—इनमें से प्रथम दो जेन्शियानेसी (Gentianaceae) वर्ग के हैं।

(१) S. angustifolia Buch.-Ham. (स्व० अँगस्टिफोलिया)—इसका **कांड** चौपहल एवं पंखयुक्त होता है। यह स्वाद में चिरायते की अपेक्षा कम कडु होता है एवं इसमें पिथ कोष (Pith cells) बहुत ही अल्प रहते हैं।

(२) S. alata Royle ex D. Don (स्व० अॅलाट)—यह बिलकुल कडुवा नहीं होता। इसमें पिथ (Pith) पूर्ण संवर्धित रहता है। चिरायता इससे अधिक गहरे रंग का, स्वाद में अत्यन्त कडुवा और इसका पिथ (Pith) संतत (Continuous) रहता है।

(३) Rubia cordifolia Linn. (रूबिया कॉर्डिफोलिया) (Fam.—Rubiaceae–रूबिएसी) – इसकी पहचान इसके बैगनी (Purple) रंग से हो जाती है।

(४) Andrographis paniculata Nees (Fam. Acanthaceae–ॲकेथेन्सी) (अंड्रोग्राफिस् पॅनिक्युलॅटा) – हि० कालमेघ।

इसके कांड हरे, अनेक सीधी, पतली विपरीत शाखाएँ एवं पत्र भालाकार और हरे होते हैं जिससे इसका भेद किया जा सकता है। देशी चिरायता के नाम से यह बजार में बिकता है।

अथेन्द्रयवस्य नामगुणानाह

उक्तं कुटजबीजं तु यवमिन्द्रयवं तथा। कलिङ्गं चापि कालिङ्गं तथा भद्रयवा अपि ॥१५६॥

इन्द्रयव के नाम तथा गुण—कुटज (कुडा या कुरैया) के बीज को इन्द्रयव कहते हैं उसके नाम—कुटजबीज, यव, इन्द्रयव, कलिङ्ग, लिङ्गका और भद्रयव ये सब हैं ॥ १५६ ॥

***इति क्लीबेऽमरोप्याह ॥ १५६ ॥**

'अमरसिंहने 'अमरकोश' में इन्द्रयव को नपुंसकलिङ्ग कहा है ॥ १५६ ॥

क्वचिदिन्द्रस्य नामैव भवेत्तदभिधायकम्। फलानीन्द्रयवास्तस्य तथा भद्रयवा अपि ॥१५७॥

कहीं पर इन्द्र के जो नाम हैं वे ही इन्द्रजव के भी समझे जाते हैं और कुरैया के फल का इन्द्रयव तथा भद्रयव नाम हैं ॥ १५७ ॥

***इति धन्वन्तरिः प्राह ॥ १५७ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि यह वचन 'धन्वन्तरि' भगवान् का है, इससे इन्द्रयव का पुंल्लिङ्ग में भी प्रयोग होता है ॥ १५७ ॥

इन्द्रयवं त्रिदोषघ्नं संग्राहि कटु शीतलम् ॥ १५८ ॥
ज्वरातीसाररक्तार्शोवमिवीसर्पकुष्ठनुत्। दीपनं गुदकीलास्रवातास्रश्लेष्मशूलजित् ॥ १५९ ॥

इन्द्रजव त्रिदोषनाशक, संग्राही, कटु रस युक्त और शीतल है। यह ज्वर, अतीसार, खूनी बवासीर, वमन, वीसर्प एवं कुष्ठ को दूर करने वाला, अग्निदीपक एवं गुदकील, रक्तदोष, वातरक्त, कफ तथा शूल को दूर करता है ॥ १५८-१५९ ॥

४८ इन्द्रयव

हि०—इन्द्रजव, कड़वा इन्द्रजव। **गु०**—इन्दर जव, इन्द्र जव। **म०**—कुड्याचे बी। **ले०**—*Holarrhena antidysenterica Wall.* (होलेरीना एन्टिडिसेन्टेरिका)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

कुड़ा वृक्ष की फलियों के बीज को 'इन्द्रजव' कहते हैं। यह देखने में जई के आकार का होता है। इन्द्रजव कड़वा और इन्द्रजव मीठा इन भेदों से यह दो प्रकार का होता है। मीठा या कम कड़वा इन्द्रजव, कुटज भेद, राइटिया टिन्क्टोरिया (Wrightia tinctoria R. Br.) के बीज को कहते हैं जो कम गुण वाला होता है। इनका शेष परिचय कुटज वृक्ष के प्रकरण में दिया जायगा।

गुण और प्रयोग—यह कडुवा, दीपन, संग्राही, ज्वरहर, कृमिघ्न, वातानुलोमक, वृष्य, बल्य एवं रक्तसंग्राहक है।

इसका प्रयोग रक्तातिसार, ज्वरातिसार, शीतज्वर, रक्तार्श, संग्रहणी, प्रवाहिका, पथरी तथा श्वास एवं पुराने फुफ्फुस विकारों में किया जाता है। इसको भूनकर फांट, क्वाथ या चूर्ण के रूप में दिया जाता है।

(१) बच्चों के रक्तातिसार में कड़वा इन्द्रजव एवं नागरमोथा के क्वाथ में मधु मिलाकर दिया जाता है।

(२) रक्तार्श में सोंठ के साथ इसके क्वाथ को देने से लाभ होता है। इसको दूध के साथ क्वाथ करके देने से इसमें बहुत लाभ होता है।

(३) कुपचन, उदरशूल एवं अग्निमान्द्य आदि के लिये इसके चूर्ण को अल्प मात्रा में नित्य लेने से लाभ होता है। वमन में इसको भूनकर या फांट या क्वाथ बनाकर देना चाहिये।

(४) पुराने फुफ्फुस के विकार तथा दमा में इसका व्यवहार किया जाता है।

(५) पार्यायिकज्वर तथा शीतज्वर में इसको गुडुच के साथ क्वाथ बनाकर देना चाहिये। नित्य इन्द्रजव का चूर्ण खाते रहने से शीतज्वर नहीं आता।

(६) पूयदन्त (Pyorrhoea) में मसूढ़ों पर इसके चूर्ण को मलने से रक्तस्राव कम होता है तथा पूय एवं दुर्गन्धि दूर होती है।

मात्रा—चूर्ण १-४ माशा भूनकर या ३/४-१ तो० क्वाथ बनाकर।

मीठा इन्द्रयव बलवर्धक है तथा धातुपौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

अथ मदनस्य (मैनफल) नामगुणानाह

मदनश्छर्दनः पिण्डो नटः[1] पिण्डीतकस्तथा। करहाटो मरुबकः शल्यको विषपुष्पकः ॥१६०॥
मदनो मधुरस्तिक्तो वीर्योष्णो लेखनो लघुः। वान्तिकृद्विद्रधिहरः प्रतिश्यायव्रणान्तकः ॥
रूक्षः कुष्ठकफानाहशोथगुल्मव्रणापहः ॥ १६१ ॥

मैनफल के नाम तथा गुण—मदन, छर्दन, पिण्ड, नट, पिण्डीतक, करहाट, मरुवक, शल्यक तथा विषपुष्पक ये सब मैनफल के नाम हैं। **मैनफल**—मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, उष्णवीर्य, लेखन, लघु, वमनकारक, विद्रधिरोग को दूर करने वाला, प्रतिश्याय (जुकाम) और व्रणका नाशक, रूक्ष एवं कुष्ठ, कफ, आनाह, शोथ, गुल्म तथा क्षत को दूर करने वाला होता है ॥ १६०-१६१ ॥

४९ मदन (मैनफल)

हि०—मैनफल, मयनफल। **बं०**—मैनफल, मयना कांटार गाछ। **म०**—गेल, गेलफल। **गु०**—मींढोल, मींढल। **क०**—मंगरिकै। **ते०**—बसन्त कड़िमि चेट्टु, मण्डचेट्टु, मंगचेट्टु। **ता०**—मरकलम्, पुंगारै,। **ने०**—मैदल। **फा०**—जुझ्-उल्-कुच्। **अ०**—जौजुल् कौसल। **अं०**—Emetic Nut (एमेटिक नट्), Bushy Gardenia (बुशी गार्डेनिया)। **ले०**—*Randia dumetorum Lam.* (रेंडिया डयुमेटोरम्)। Fam. *Rubiaceae* (रुबियेसी)।

यह हिमालय के साधारण प्रदेश में जम्मू से पूरब की ओर सिक्कम तथा दक्षिण की ओर चट्टगांव, खासिया पहाड़, सिलहट आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष—१-१॥ इञ्च लम्बे लम्बे मजबूत पत्र कोणीय कांटों से भरा हुआ छोटे कद का होता है। **छाल**—भूरे रङ्ग की, लकड़ी—सफेद या भूरे रङ्ग की होती है। **पत्ते**—१-२ इञ्च लम्बे ऊपर से लट्वाकार और नीचे की ओर क्रमशः पतले होकर पंखयुक्त पत्रनाल में परिवर्तित होते हैं और प्रायः दलबद्ध होकर रहते हैं। **फूल**—पांच पंखड़ी वाले किञ्चित् हरिताभ, सफेद और सुगन्धयुक्त होते हैं। **फल**—जङ्गली अन्जीर, सुपारी या अखरोट के आकार के होते हैं और पकने पर पीले पड़ जाते हैं। **बीज**—चीहीदाने के समान होते हैं। इन्हीं फलों को मैनफल कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फल में सॅपोनिन् (Saponin) तथा व्हॅलेरियानिक् एसिड (Valerianic acid), मोम, राल एवं रञ्जक पदार्थ आदि पाये जाते हैं।

१. 'राठः' इति पाठा०।

गुण और प्रयोग—मैनफल बहुत अच्छा वमन द्रव्य माना गया है। प्राचीन शास्त्रकारों ने इसके बीजों को एक विशेष प्रकार से संग्रह कर व्यवहार करने को लिखा है। नये ग्रन्थकार इसके बीज वा फल की छाल को वामक नहीं मानते लेकिन इसके गूदे (Pulp) को वामक मानते हैं। डा० देसाई प्राचीन मत से सहमत हैं। कुछ भी हो सम्पूर्ण फल वामक अवश्य है। कुछ विद्वान् इसको इपीकाक् का अच्छा प्रतिनिधि बतलाते हैं। इसका उपयोग गर्भपात कराने के लिये किया जाता है तथा यह मछलियों के लिये विषैला है।

(१) एक फल कूट कर २३ तो० जल में १ घंटा भिगोकर रखना चाहिये। फिर पत्थर के खरल में घोंटकर, कपड़े से छान कर, उसमें थोड़ा मधु तथा पीपर मिलाकर खाली पेट पिलाने से १ घण्टे बाद १–२ साफ वमन हो जाता है और कभी कभी बाद में विरेचन भी होता है। इस वामक प्रयोग को हृष्ट-पुष्ट मनुष्य में व्यवहार में लाना चाहिये।

(२) इसके २–३ फलों के गूदे को कूट कर ३ पाव जल में १०–१५ मिनट मसल कर छानकर प्रयोग किया जाय तो प्रायः १० मिनट में हृल्लास और वमन शुरू हो जाता है। इसको देने के बाद उष्ण जल पिलाने से और भी वमन होता है। या केवल १ फल का गूदा भी पर्याप्त हो सकता है।

(३) इसके गूदे को सुखाकर रख सकते हैं तथा १ से ४ माशे तक वामक औषधि के रूप में या ३–५ र० कफनिःसारक एवं स्वेदल औषधि के रूप में व्यवहार में ला सकते हैं।

(४) मुलेठी मन्दार एवं मैनफल का चूर्ण २–७ र० देने से श्वास तथा खाँसी में लाभ होता है एवं अधिक मात्रा में (१०–३० र०) अजीर्ण, शूल, शिरःशूल और अण्डकोष शोथ में वमन कराने के लिये देते हैं।

(५) अन्य सुगन्धि औषधियों के साथ रक्तातिसार, पार्यायिक ज्वर एवं शिरःशूल में इसके गूदे को देते हैं। अतिसार में १ से २ माशा गूदा दिया जाता है। यह इपीकाक् का अच्छा प्रतिनिधि है।

(६) इसके गूदे का टिंक्चर १५–६० बूंद कुकास एवं पागलपन में तथा उद्वेष्टन निरोधि एवं शामक औषधि के रूप में व्यवहार में लाया जाता है।

(७) इसका फलत्वक् एवं बीज विरेचक एवं कृमिघ्न हैं एवं बच्चों में पित्तमयता तथा कृमि दूर करने के लिये व्यवहार में आता है।

(८) इसके वृक्ष की छाल का बाह्य लेप शोथहर एवं वेदनाहर है एवं आमवात, फोड़े तथा चोट एवं हड्डियों की पीड़ा पर लगाया जाता है। अतिसार, संग्रहणी, ज्वर तथा आमवात में इस वृक्ष की छाल का आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। कांजी के साथ इसके फल को पीस कर नाभि के चारों तरफ लगाने से उदरशूल दूर होता है। मुखदूषिका (acne) एवं फोड़े आदि में इसके फल के लेप से लाभ होता है।

(९) बच्चों में दन्तोद्भेद के समय ज्वर आदि होने पर इसके गूदे के चूर्ण को तालु तथा मसूढ़ों पर रगड़ते हैं।

(१०) वन्ध्यत्व दूर करने के लिये ६ माशा इसके बीज के चूर्ण को दूध, शक्कर वा केशर के साथ खिलाना चाहिये तथा ८, १० रत्ती चूर्ण की गुड़ के साथ बत्ती बनाकर योनि में धारण करानी चाहिये। इस प्रयोग से गर्भाशय शोथ आदि विकार दूर होकर कष्टार्तव एवं अनियमितार्तव आदि में भी लाभ होता है।

(११) सर्पविष में यह औषधि लाभदायक है। इसके मूल को बैल के मूत्र में पीसकर अंजन कराया जाता है तथा शुष्क मज्जा का आन्तरिक प्रयोग (५–१५ र०) करते हैं।

मात्रा—वामक–१ फल का हिम। गूदे का चूर्ण १–४ माशा। अन्य गुणों के लिये २–४ रत्ती।

अथ रास्नाया नामगुणानाह

रास्ना युक्तरसा रस्या सुवहा रसना रसा। एलापर्णी च सुरसा सुगन्धा श्रेयसी तथा ॥१६२॥
रास्नाऽऽमपाचिनी तिक्ता गुरूष्णा कफवातजित् ॥ १६३ ॥
शोथश्वाससमीरास्रवातशूलोदरापहा । कासज्वरविषाशीतिवातिकामयसिध्महृत् ॥ १६४ ॥

रास्ना के नाम तथा गुण—रास्ना, युक्तरसा, रस्या सुवहा, रसना, रसा, एलापर्णी, सुरसा, सुगन्धा तथा श्रेयसी ये सब रास्ना के नाम हैं। **रास्ना**—आम को पचाने वाली, तिक्तरस युक्त, गुरु, उष्णवीर्य और कफ वात नाशक है तथा शोथ, श्वास, वातरक्त, वातशूल, उदर रोग, कास, ज्वर, विष, अस्सी (८०) प्रकार के वात रोग तथा सिध्म इन सब को दूर करती है ॥१६३–१६४॥

५० रास्ना

आज कल वैद्य समाज में रास्ना एक भ्रमात्मक औषधि मानी जा रही है। वात विकारों के लिये आयुर्वेद में इसका प्रयोग रास्नादि, महारास्नादि क्वाथ के रूप में बहुत किया जाता है। भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न औषधि रास्ना नाम से ली जाती है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके परिचय में निम्न श्लोक प्राप्त होते हैं।

रास्ना तु त्रिविधा प्रोक्ता मूलं पत्रं तृणं तथा।
ज्ञेयौ मूलदलौ श्रेष्ठौ तृणरास्ना तु मध्यमा ॥ (रा. नि.)
अथ रास्ना सूक्ष्मपत्रा पाषाणादौ प्रजायते।
गिरौ च लघु-रास्ना स्यात् ततो हीनगुणा स्मृता ॥

सुगन्धमूला, एलापर्णी ॥ (शिवदत्तः)

नीचे रास्ना नाम से ली जाने वाली विभिन्न वनस्पतियों का वर्णन अलग १ किया गया है।

(१) Pluchea lanceolata Oliver & Hiern (प्लूचिया लॅन्सिओलॅटा)। Fam-Compositae (काम्पोझिटी)। **हिं०**–रायसन, रोशना, वायसुरई। **पं०**–रासन। **सिन्ध०**–कौरसन। **रा० पु०**–छोटा कलिया। **अलीगढ़**–वनसेरई, वनसोरई, वायसुरई। **आगरा**–छोटी कलिया। **कानपुर**–सुरही, सोरहि। **बिहार**–रोशना, रचना, रोचना।

यह अपर बंगाल, बिहार, अवध, कानपुर और पश्चिम की ओर पंजाब तथा सिन्ध तक पाई जाती है। पत्तों का आकार रास्ना अर्थात् जिह्वा के सदृश होने से इस का नाम रास्ना रखा गया है। इसी के आधार पर उत्तर प्रदेश, पश्चिमोत्तर प्रदेश आदि जगहों के अधिकांश वैद्य वायसुरई को ही 'रास्ना' मानते हैं। बिहार के ग्रामीण इसको 'रचना' और 'रोचना' के नाम से पुकारते हैं। मालूम होता है कि—रचना शब्द रसना का अपभ्रंश है। बिहार के अधिकांश वैद्य भी इसको उपयोग में लाते हैं। श्रीमान् ठा० बलवन्तसिंहजी इसी को उपयोग में लाने की सलाह देते हैं।

इसका क्षुप १-२ फीट ऊँचा, अनेक शाखा प्रशाखा करके झाड़दार तथा उन पर असंख्य बारीक भूरे रङ्ग के रोयें होते हैं। **पत्ते**-१-२ इञ्च लम्बे सनाय के पत्तों के आकार वाले किन्तु उससे बड़े होते हैं तथा सूखने पर पीलापन लिये भूरे रङ्ग के हो जाते हैं। पर्णवृन्त छोटा एवं ऐंठा हुआ होता है। पतली पतली शाखाओं के अन्त में नन्हे नन्हे बैंगनी रङ्ग के फूलों की घुण्डियां लगती हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र सनाय की तरह भेदन हैं तथा सनाय के स्थान पर प्रयोग में आते हैं।

(२) Inula racemosa Hook. f. (इनुला रेसिमोसा)। Fam. Compositae (कॉम्पोज़िटी)। **फा०-रासन**, कुष्ठ-इ-शामी। **अ०**-जंजबीलशमी। **ईरान०**-पिल् गुष् घार्ष। **कश्मीर**-पोष्कर।

डा० देसाई अन्य शास्त्रज्ञों के साथ सहमत होते हुए रास्ना के स्थान पर इसी क्षुप के मूल को व्यवहार करने की सलाह देते हैं क्योंकि इसके गुण रास्ना से मिलते जुलते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इनूला को **पुष्करमूल** मानते हैं।

स्थान भेद से इसके क्षुप की ३, ४ जातियां पाई जाती हैं। यह काश्मीर तथा उत्तर-पश्चिम हिमालय में होती हैं। भारत में जहां जहां सुगन्ध कूठ होता है वहां वहां यह उत्पन्न होने से तथा उसके समान दिखलाई देने से कूठ में इसकी मिलावट की जाती है।

रासन का क्षुप ५ फीट तक ऊंचा एवं दृढ होता है। **पत्र**-चर्मवत्, ऊपर से खुरदरे एवं नीचे से घनरोमश तथा दन्तुर होते हैं। आधारीय पत्र ८-१८ इञ्च × ५-८ इञ्च बड़े, दीर्घ वृत्ताकार-भालाकार एवं लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। काण्डपत्र अंडाकार-आयताकार, अर्धकाण्डासक्त एवं प्रायः आधार पर गहराईतक खंडित होते हैं। **पुष्प**-पीत वर्ण के १·५-२ इञ्च व्यास के गुच्छों में आते हैं। **फल**-छोटे, महीन एवं अग्र पर रक्ताभ रोमयुक्त होते हैं। इसकी ताजी जड़ में ओरिस् एवं कर्पूर जैसी तीव्र गंध होती है जो रखने पर कम हो जाती है।

रासायनिक संगठन—रासन में अल्प मात्रा में उड़नशील तैल और इनुलिन् (Inulin) होता है। तैल में एलेन्टोलॅक्टोन (Alantolactone, C_{15} H_{20} O_2) नामक एक कृमिनाशक, कफनिःसारक एवं मूत्रल द्रव्य होता है।

गुण और प्रयोग—यह पाचन, वातहर, कफहर, श्वासहर एवं गर्भाशय संकोचक है। इसका क्वाथ आध्मान, उदरशूल, कुपचन, अनार्तव, कष्टार्तव, फुफ्फुस विकार जैसे दमा, जीर्ण श्वसनिका शोथ, क्षय, फुफ्फुसावरण शोथ एवं आमवात तथा अन्य वातिक रोगों में दिया जाता है। इससे ज्वर तथा सूजन कम होती है तथा वेदना दूर होती है।

कण्डू आदि त्वचा के रोगों में इसके क्वाथ को शरीर पर लगाया जाता है। मूल को गोमूत्र में रगड़ कर खुजली, दाद एवं पामा आदि पर लगाया जाता है। राजयक्ष्मा के जन्तुओं से उत्पन्न त्वचा के व्रणों में इससे लाभ होता है। जन्तुओं के विष को दूर करने के लिये इसका उपयोग करते हैं तथा इससे वेदना कम होती है।

प्रतिनिधि—कूठ।

(३) Vanda roxburghii R. Br. (वॅण्डा रॉक्सबर्गाइ)। Fam. Orchidaceae (ओरचिडॅसी)। **बांदा, बंगीय रास्ना**। **बं०**-रास्ना। **संताल**-दरेबंकि। **क०**-मरबाले। **तै०**-कनपचेट्टू, वदनिके, नेरदानचेट्टू।

यह बंगाल, बिहार, गुजरात तथा कोंकण से ट्रावनकोर तक प्राप्त होते हैं। इसके **पौधे** प्रायः आम और मधूक वृक्षों की डालियों पर उगे हुए पाये जाते हैं। **काण्ड** १-२ फीट लम्बा तथा उसकी ग्रन्थियों से अनेक मोटे और मांसल वातलम्बी (Epiphytic = एपिफाइटिक्) मूल निकले रहते हैं। **पत्तियां**-६-८ इञ्च लंबी, मध्य पर्शुक पर गहरी और दो कतारों में निकली हुई रहती हैं। **सदण्डिक पुष्पमंजरियां** पत्तियों से लम्बी होती हैं। **पुष्प** व्यास में १½-२ इञ्च और पंखड़ियां प्रायः मिश्रित वर्ण की होती हैं। वे अधिकतर पीताभ और कभी कभी नीलाभ होती हैं और उनके कुछ भागों में बदामी, बैंगनी तथा सफेद रंग भी होते हैं। **फल**—३-३½ इञ्च लम्बा और सन्धियों पर रीढदार होता है। इसके **मूल** का उपयोग किया जाता है।

बंगाल के अधिकांश कविराज इसी को उपयोग में लाते हैं। वे प्रायः वाटिकाओं में आम के वृक्षों की मोटी टहनियों के ऊपर की खरदरी छाल को पृथक् कर उस पर उक्त रासन को शोरियां युक्त बिठा रस्सी से बांध कुछ मिट्टी का अंश दे पानी से कुछ रोज सींचा करते हैं।

गुण और प्रयोग—आमवातादि में इससे कुछ लाभ होता है। ज्वर में सर्वाङ्ग पर इसके पत्तों का लेप किया जाता है। कर्णस्राव में इसके पत्तों का रस कान में डालते हैं। अनेक वात-विकारों तथा आमवातादि में बाह्य प्रयोग के लिये इससे बने तैल का उपयोग किया जाता है। यह फिरङ्ग की द्वितीयावस्था तथा वृश्चिक दंश पर लाभदायक है।

(४) Saccolabium papillosum Lindl. (सॅक्कोलेबिअम् पॅपिल्लोसम्)। Fam Orchidaceae (ऑरचिडॅसी)। **क०**-मरबाले। **म०**-कानभेर।

इसके बांदे भी आम्रवृक्ष के ऊपर होने वाले बांदों की तरह दिखलाई देते हैं।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक है तथा इसका आमवातादि में प्रयोग होता है। केले के पत्तों में इसके पत्ते लपेटकर पुटपाक करके उसके रस को मधु के साथ कर्णपिटिका के लिये कान में डालते हैं जिससे कर्णपीडा दूर होती है।

(५) Tylophora asthmatica W. & A. (टाइलोफोरा एस्थमेटिका)। Fam. Asclepiadaceae एस्क्लेपिएडॅसी)।

हि०-अंतमूल, जंगली पिकवन। **बं०**-अन्तोमूल। **म०**-पितकारी, खडकी रास्ना। **ता०**-नायपाले। **ते०**-वेरिपल। **मल०**-वळ्ळीपाल। **क०**-किरुमंजि। **उडि०**-मेंडी। **सं०**-मूलिनी, मूलरास्ना, पित्तवल्ली, आन्त्रपाचक।

इसकी **लता** उत्तरी बंगाल, आसाम, कछार, उडीसा, कोंकण, दक्षिणी भारत, कनारा, मद्रास प्रान्त एवं पूर्व पाकिस्तान, बर्मा, मलाक्का द्वीप तथा लंका आदि स्थानों पर पायी जाती है। यह रेतीली भूमि पर अधिक होती है। बंबई के बजार में रास्ना के नाम से इसके मूल भी बिकते हैं।

इसकी बहुवर्षायु लता होती है। **पत्र**-२ से ५ इञ्च लम्बे, १ से ३ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या अंडाकार, तीक्ष्णाग्र या लम्बाग्र, आधार पर तांबूलाकार, अखण्ड, सनाल, ऊपरी पृष्ठ चिकना, अधोपृष्ठ रोमश भूरे रंग का, ताजी अवस्था में स्वाद एवं गंध हृल्लासकर एवं सूखने पर गन्धहीन एवं रुचिहीन। **पुष्प**-बहुत, छोटे, हलके पीले रंग के, अन्दर से बैंगनी एवं गुच्छों में। **फल**-(Follicle) —२ से ४ इञ्च लंबा अग्र की तरफ नुकीला होता जाता है। **मूल**-बहुत लम्बे, मांसल, अनेक, बारीक, हलके पीले या मटमैले तन्तुयुक्त, अन्दर से हलके पीले रंग के, आसानी से टूटने वाले, गन्धहीन, स्वाद प्रारंभ में मीठा लेकिन बाद में कडु। इसकी लता ईश्वरमूल की तरह दिखलाई देती है लेकिन उसके पत्र के दोनों पृष्ठ हरे और चिकने तथा पुष्प बड़े होते हैं। इसके **मूल तथा पत्र** का व्यवहार किया जाता है जिनमें **पत्र अधिक गुणकारी** है।

रासायनिक संगठन—इसमें टाइलोफोराइन् (Tylophorine, $C_{24}H_{27}O_4N$), टाइलोफोरिनाइन् (Tylophorinine, $C_{23}H_{27}O_4N, 0.5\ H_2O$), ये दो रवेदार क्षाराभ, एक उडनशील तैल ०.२६%, एक रंगहीन रवेदार अन्य पदार्थ ०·१८%, खनिज (Mineral matter) १५% तथा एक वामक द्रव्य आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके मूल तथा पत्र अच्छे वामक, कफनिःसारक, स्वेदल, रक्तशोधक, आनुलोमिक एवं आमपाचक हैं। यह एपीकॅक् के अच्छे प्रतिनिधि हैं। अल्प मात्रा में इससे **खांसी** दमा, बच्चों की कुक्कुर खांसी, **अतिसार एवं संग्रहणी** आदि में बहुत लाभ होता है। **अधिक मात्रा** में यह वामक तथा अधिक बार प्रयोग से वमन के साथ विरेचन भी होता है।

(१) यह १ मा० की मात्रा में चूर्ण के रूप में अतिसार, रक्तातिसार एवं संग्रहणी आदि में देने से बहुत लाभ होता है। इसके साथ सोंठ, गोंद या अल्प मात्रा में अफीम मिलाई जा सकती है।

(२) कफ विकारों में इसके चूर्ण को घोडबच एवं मुलेठी आदि के साथ देने से लाभ होता है।

(३) प्रसूति के बाद स्रावशुद्धि के लिए इसका उपयोग करते हैं।

(४) अजीर्ण आदि में वमन कराने के लिये ४ इञ्च लंबी ताजी जड़ की छाल जल में घिस कर देने से वमन होता है या १–२ माशा पत्र चूर्ण जल के साथ दिया जाता है।

(५) इसको रसायन तथा रक्तशोधक मानते हैं एवं आमवात, फिरंगज आमवाताभ विकृति, सन्धिवात, शरीरपीडा एवं सर्पदंश आदि में इसका उपयोग करते हैं।

(६) वातरक्त में इसके मूल का बाह्यलेप किया जाता है।

मात्रा—½–१ र०; वामक १–२ मा०।

इन उपर्युक्त वनस्पतियों के अतिरिक्त मद्रास की तरफ **कुलिञ्जन** का व्यवहार **रास्ना** के नाम से कुछ लोग करते हैं तथा **धवलबरुआ और सर्पाक्षी**–ले० ओफिओराइझा मुन्गोस् (Ophiorrhiza mungos Linn.) एवं अन्य अनेक औषधियां भी रास्ना नाम से ली जाती हैं। इनमें से प्रथम ३ औषधियां अधिक प्रचलित है।

नोटः—सर्पाक्षी का वर्णन गुडूच्यादि वर्ग तथा धवलबरुआ का वर्णन नाकुली में किया गया है।

अथ (रास्नाभेदः) नाकुली नामगुणानाह

नाकुली सुरसा नागसुगन्धा गन्धनाकुली। नकुलेष्टा भुजङ्गाक्षी सर्पाङ्गी विषनाशिनी॥
नाकुली तुवरा तिक्ता कटुकोष्णा विनाशयेत्। भोगिलूतावृश्चिकाखुविषज्वरकृमिव्रणान्॥

नाकुलीकन्द के नाम तथा गुण—नाकुली, सुरसा, नागसुगन्धा, गन्धनाकुली, नकुलेष्टा, भुजङ्गाक्षी, सर्पाङ्गी तथा विषनाशिनी ये सब नाम 'नाकुलीकन्द' के हैं। **नाकुलीकन्द**—कषाय, तिक्त एवं कटुरसयुक्त तथा उष्णवीर्य होता है। और सर्प, मकड़ी, बिच्छू तथा मूसा इन सबों के विषको दूर करने वाला एवं ज्वर, कृमि तथा व्रण को भी नष्ट करने वाला होता है॥ १६५–१६६॥

५१ नाकुली (धवलबरुआ, सर्पगन्धा)

हि०–नकुलकन्द, नाकुलीकन्द, नाई, हरकाई चन्द्रा, रास्नाभेद, छोटाचांद। **उडीसा, बिहार**–धनेरना, धनबरुआ, धवलबरुआ, सनोचाडो। **बं०**–नाकुली, गन्धरास्ना, चन्द्र। **म०**–अडकई, चन्द्र। **ब०**–नोलबेल, अमेलपोदी। **क०**–सूत्रनाभि। **ते०**–पातालअगंधि। **मा०**–हरकय। **मलया०**–चुवन्ना अविलपोरी। **फा०**–छोटाचान्दा। **ले०**–*Rauwolfia serpentina Benth. ex Kurz*-(रॉवोल्फिया सर्पेन्टाइना)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

वैद्य समाज में **नकुलकन्द** भी एक सन्दिग्ध वनौषधि है।

कुछ लोगों ने नाकुली को ले०–एरिस्टोलोकिआ इण्डिका (Aristolochia indica Linn.), ईश्वरमूल लिखा है तथा श्री ठा० बलवन्त सिंह जी भी उनसे सहमत होते हुए सर्पगन्धा नाम भी उसी के (नाकुली) लिये तथा धवलबरुआ के लिए राजनिघण्टु का जम्बू नाम उचित समझते हैं जिसको श्री भगीरथ स्वामी ने माना है। प्राचीन ग्रंथों में केवल सुश्रुत के अमानुषोपसर्गाध्याय में मानसरोगहर अपराजितगण में सर्पगन्धा नाम का उल्लेख मिलता है। यहां पर पहले वर्णन 'रावोल्फिया' का दिया जा रहा है जिसके बाद ईश्वरमूल का स्वतंत्र वर्णन दिया जावेगा।

धवलबरुआ के क्षुप हिमालय के निचले प्रदेशों में सरहिन्द से लेकर पूर्व में आसाम तक विशेष कर देहरादून, सिवालिक पहाड़ी भाग तथा रोहिलखण्ड, उत्तरी अवध और गोरखपुर के हिमालय के निचले भाग में ४००० फीट की ऊँचाई तक एवं कोंकण, उत्तरी कनारा, दक्षिणी महाराष्ट्र प्रान्त, मद्रास के पूर्वी तथा पश्चिमी घाट में ३००० फीट तक और बिहार के अनेक भाग में जैसे पटना, भागलपुर तथा उत्तरी एवं मध्य बंगाल, बर्मा, श्याम और जावा आदि स्थानों में पाये जाते हैं।

इसका **क्षुप** छोटा, आकर्षक, १ से २ फीट ऊँचा क्वचित् ३ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्र**–हरे, चमकीले, ३–७ इंच लम्बे, १॥–२॥ इंच चौड़े, भालाकार या व्यस्तभालाकार, तीक्ष्णाग्र या लम्बाग्र, आधार की ओर पतले होकर ½ इञ्च पत्रनाल से युक्त एवं टहनी के प्रत्येक गांठ पर ३–४ के चक्रों में (Whorled)। **पुष्प**–श्वेत या साधारण गुलाबी गुच्छों में, २–४ इञ्च लम्बे पुष्प दण्डों पर। **फल**–छोटे, मांसल एक या दो दो जुड़े हुये पकने पर बैंगनी काले। **मूल**–सर्प की तरह टेढ़ा मेढ़ा, करीब १६ इञ्च तक लम्बा, ॥। इ० मोटा, खुरदरा, कुछ कुछ झुर्रियों से युक्त, शाखाओं से युक्त और उस पर लम्बाई में धारियां रहती हैं। इसे तोड़ने पर **भग्न** छोटा एवं अनियमित। मूल की छाल धूसरित पीत (Greyish yellow) तथा अन्दर का काष्ठ श्वेताभ। स्वाद में अत्यन्त कडवा तथा गन्धहीन। इसके मूल को तोड़कर कटे भाग पर २ भाग शोरे का तेजाब (Nitric acid) और १ भाग जल मिले घोल के २ बूंद डालने से मेड्युलरी रेज् (Medullary rays) विशेष कर अन्तःचर्म (Cortex) के पास वाले भाग रंगीन हो जाते हैं। इस क्षुप के ३, ४ साल पुराने पौधे के मूल को शरद्काल में संग्रह कर छाल सहित सुखाकर व्यवहार में लाया जाता है।

रासायनिक संगठन—बिहार मे उत्पन्न मूल में सम्पूर्ण क्षाराभ की मात्रा ०·८–१·३% रहती है जिसमें अजमॅलाइन् (Ajmaline, $C_{20}H_{26}O_2N_2, 3\ H_2O$), अजमॅलीनाइन् (Ajmalinine, $C_{20}H_{26}O_3N_2, 1.5\ H_2O$), अजमॅलीसाइन् (Ajmalicine) तथा पीत वर्ण के **क्षाराभ** सर्पेन्टाइन् (Serpentine, $C_{20}H_{20}O3N_2, 1.5\ H_2O$), सर्पेन्टिनाइन् (Serpentinine, $C_{20}H_{20}O_2N_5, 1.5\ H_2O$) तथा बिना रवेदार (Amorphous) क्षार (Bases) रहते हैं। देहरादून से प्राप्त जड़ में सम्पूर्ण क्षाराभ की मात्रा १–१·३% तक रहती है लेकिन उसमें पीत वर्ण के क्षाराभ नहीं रहते तथा इसमें अजमॅलाइन् और अजमॅलीनाइन् के समसंगठन (Isomeric) वाले दो क्षार द्रव्य रहते हैं। इनके अतिरिक्त उभयविध प्रतिक्रिया (Amphoteric character) वाले कुछ दूसरे भी क्षाराभ होते हैं। इन क्षाराभों के अतिरिक्त इसके मूल में एक तैलीय राल (Oleoresin) और सरपोस्टेरॉल (Serposterol, $C_{30}H_{48}O_2$) रहता है।

इसमें के अजमॅलाइन, सर्पेन्टाइन् और सर्पेन्टिनाइन् क्षाराभ केन्द्रीय वातनाड़ी संस्थान को उत्तेजित करते हैं जिसमें से सर्पेन्टाइन् अधिक प्रभावशाली तथा विषैला है। इन ३ क्षाराभों से रहित सम्पूर्ण क्षाराभ तथा मद्यसारीय सत्व (Alcoholic extract) में शामक (Sedative) एवं निद्राकर (Hypnotic) गुण हैं। कुछ क्षाराभ निश्चित रूप से हृदय, रक्तवाहिनी एवं रक्तवाहिनी नियन्त्रक केन्द्र (Vaso-motor centre) के लिये अवसादक (Depressant) हैं।

इसका निद्राकर (Hypnotic) प्रभाव क्षाराभ की अपेक्षा प्रधानतया इसके रालीय भाग में है। इसके शामक गुणों के कारण पागलपन एवं अन्य मानसिक व्याधियों में इसके मूल का बहुत व्यवहार हो रहा है तथा इसके मद्यसारीय सत्व का उपयोग रक्तचाप (Blood pressure) को कम करने के लिये किया जा रहा है।

इधर कुछ दिनों से इस औषधि के संबंध मे विदेशों में विशेष अनुसन्धान किया जा रहा है और इसके कार्यकारी सत्व को रीसर्पाइन् (Reserpine) नाम दिया गया है जो मूल की अपेक्षा १ हजार गुना अधिक कार्यकारी कहा जाता है। यह नाड़ीकन्दों में अवरोध (Ganglionic blockade) उत्पन्न नहीं करता वरन् ऐसा मालूम होता है कि रक्तचाप को कम करने का इसका प्रभाव कुछ अंश में स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान के केन्द्रीय निरोध (Central inhibition of sympathetic nervous system) के कारण है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, शामक, निद्राकर, ज्वरहर, गर्भाशय उत्तेजक एवं विषहर है। इसका उपयोग बालातिसार और हैजे में ईश्वर मूल के साथ, उदरशूल में जंगली एरण्डमूल के साथ, रक्तातिसार में कुटज के साथ तथा जीर्णज्वर में मिरिच, घोडवच, डिकेमाली, चिरायता एवं बिडलवण के साथ किया जाता रहा है। प्रसव के समय आवि (Uterine contraction) वृद्धि के लिये एवं सर्पविष एवं अन्यान्य विषों को दूर करने के लिये भी इसको उपयोग में लाते हैं। सर्पविष में इसके १ से २ तो० मूल को जल में घिसकर पिलाते हैं तथा इसका लेप भी किया जाता है। नेत्र शुक्र में इसके पत्तों का रस आँख में डालते हैं।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त यह औषधि युक्तप्रान्त तथा बिहार के प्रान्तों में **पागल की दवा** के नाम से बहुत दिनोंसे प्रसिद्ध है तथा इस कार्य के लिये बहुत दिनों से सफलतापूर्वक व्यवहार में लाई जा रही है। इधर विदेशी शास्त्रज्ञों ने इसके गुणों से आकृष्ट होकर इसका प्रयोग करना शुरू किया है तथा आज यह **रक्तचाप** (Hyperpiesis), **वातिक उन्माद, अनिद्रा एवं अन्यान्य मानसिक विकारों के लिये बहुत उत्कृष्ट औषधि सिद्ध हुई है।**

इस औषधि के प्रारम्भ करने के पश्चात् ३ से ७ दिनों में इसका असर प्रारम्भ होता है तथा ३-६ सप्ताह में इसका पूर्ण प्रभाव स्पष्ट होता है तथा इसको बन्द करने के पश्चात् १ से ३ सप्ताह में इसका असर निकल जाता है। इसके उपयोग से मानसिक प्रक्षोभ दूर होकर शान्ति मिलती है एवं शिरःशूल, भ्रम आदि दूर होते हैं। रक्त चाप (Blood pressure) की अधिकता के लिये यह सबसे कम विषैली तथा उत्कृष्ट औषधि है। इसमें एक विशेष लाभ यह है कि इससे एकाएक आसन परिवर्तनजन्य रक्तभाराल्पता (Postural hypotension) तथा बहुत अधिक रक्तभाराल्पता नहीं होती। अधिक मात्रा में लेने से अतिसार या अनिष्ट स्वप्न (Nightmares) होते हैं लेकिन कोई तीव्र दुष्परिणाम नहीं होते। इसके अवांछनीय गुण जैसे रक्तचाप की कमी एवं मन्दहृदयता आदि चिकित्सा काल में बराबर बने रहते हैं। इसके उपयोग के समय नाक में रक्ताधिक्य (Nasal congestion), शरीर भार वृद्धि, बृहदांत्र की गति वृद्धि तथा कुछ लोगों में मैथुन शक्ति (Libido) का ह्रास होता है। इसके उपयोग से निद्रा की अपेक्षा

तन्द्रा आती है तथा घबड़ाहट, चिड़चिड़ापन, तनाव, हृदय की धड़कन, एवं थकावट आदि दूर होकर रोगी को बहुत आराम मिलता है।

रक्तभार की अधिकता में प्रथम इसी औषधि को प्रारम्भ करना चाहिये। इसके चूर्ण की मात्रा १ रत्ती से लेकर १ माशे तक दी जा सकती है। यदि ६ सप्ताह में लाभ न हो तो अन्य औषधियां उसके साथ मिलाई जा सकती हैं। अंग्रेजी दवा की दुकानों में इसकी गोलियां तथा इसके सत्व की गोलियां बिकती हैं जिनका उपयोग सुगमता की दृष्टि से किया जा सकता है। रीसर्पाइन नामक इसके सत्व का उपयोग तमकश्वास, सव्रणस्थूलान्त्रशोथ (Ulcerative colitis), पैत्तिकशूल, वृक्कशूल एवं मानसिक अवसाद (Mental depression) आदि अवस्थाओं में नहीं करना चाहिये।

व्यामिश्रण—इसमें रा॰ कॅनेसेन्स (R. canescens Linn.) तथा रा॰ डेन्सिफ्लोरा (R. densiflora Benth.) के मूल की मिलावट होती है।

मात्रा—चूर्ण १ से २ माशा।

५२ नाकुली ? (ईश्वरमूल)

सं॰–नाकुली, ईश्वरी, अर्कमूल। **हि॰**–ईशरमूल, रुद्रजटा। **म॰**–सापसण। **ब॰**–ईशरमूल। **गु॰**–नोलवेल। **ता॰**–इचचुरामूली। **ते॰**–ईश्वरवेरु। **उड़ि॰**–गोपोकरोनि। **अ॰, फा॰**–जरवन्दे हिन्दी। **उर्दू॰**–शपेसन्द। **अं॰**–Indian birthwort (इन्डियन बर्थवर्ट)। Aristolochia indica Linn. (एरिस्टोलोकिआ इन्डिका)। Fam. Aristolochiaceae (एरिस्टोलोकिएसी)।

इसकी लता भारतवर्ष के सभी भागों में विशेष कर दक्षिण कोंकण में होती है। इस लता के **काण्ड** लम्बे, ·२-·४ इञ्च मोटे, गोल, चिकने तथा लम्बाई में धारियों से युक्त एवं कर्पूरवत् गंधयुक्त होते हैं। **पत्र**–हरे, डण्ठल की तरफ चौड़े तथा अग्र पर नुकीले विभिन्न आकार के एवं ५ शिराओं से युक्त। **पुष्प**–सदण्डिक हरित। **बीज**–अण्डाकार, चपटे एवं पंखयुक्त। **मूल**–गांठदार, शाखाओं से युक्त, मोटा भाग ·४-·६ इञ्च, हलके बादामी रंग के तथा मूलत्वक् मोटी, कहीं २ अलग भई हुई। काष्ठ–श्वेत। भग्न–तन्तुमय। स्वाद–कुछ कडुआ। इसके पञ्चांग का व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन–इसमें ॲरिस्टोलोचीन (Aristolochine) नामक तीन विभिन्न क्षार (Bases) पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इसमें ३ भूयात्य अम्ल (Nitrogenous acids) जिन्हें ॲरिस्टिनिक् (Aristinic), ॲरिस्टिडिनिक् (Aristidinic) और ॲरिस्टोलिक् (Aristolic) अम्ल कहते हैं तथा एक उड़नशील तैल जिसमें शायद बोर्निओल (Borneol) रहता है एवं राल, टॅनिन् एवं स्टार्च आदि पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह बल्य, उत्तेजक, गर्भाशयसंकोचक, ज्वरहर, शूलहर तथा विषहर है। अल्प मात्रा में यह आमाशय के लिये उत्तेजक है लेकिन अधिक मात्रा में स्थानिक प्रक्षोभ उत्पन्न होकर हृल्लास, मरोड, शूल तथा कभी २ वमन एवं कुंथन भी होता है। ॲरिस्टोलोचीन् (Aristolochine) की क्रिया ॲलोइन (Aloin) के समान होती है लेकिन उससे यह विषैला है। यह उच्च श्रेणी के जानवरों में पाचन संस्थान तथा वृक्क में प्रक्षोभ उत्पन्न करता है तथा संन्यास एवं श्वसनाघात से मृत्यु होती है।

(१) इसके चूर्णका उपयोग ज्वर, आमवात, संधिशोथ एवं जलोदर आदि में बहुत लाभदायक है।

(२) प्रसव के समय आविवृद्धि के लिये पिपरामूल के साथ देते हैं तथा अनार्तव, कष्टार्तव एवं प्रसव पश्चात् भी इसका उपयोग किया जाता है। गर्भपात करने के लिये भी इसका लोग उपयोग करते हैं।

(३) मिरिच के साथ इसका प्रयोग पाचन के विकार जैसे कुपचन, अतिसार एवं शूल आदि में बहुत लाभदायक है। बच्चों में दन्तोद्भव के समय इसका अधिक व्यवहार किया जाता है।

(४) सर्पविष तथा अन्य विषों के लिये भी इसका बहुत व्यवहार किया जाता है। सर्पविष में इसके पत्तों का रस अथवा चूर्ण को काली मिर्च के साथ खिलाते हैं तथा बाह्य लेप भी करते हैं।

(५) मधु के साथ श्वित्र पर इसका स्वरस लगाया जाता है।

(६) बच्चों के विबन्ध में इसके पत्तों का लेप उदर पर किया जाता है।

व्यामिश्रण—इसकी कई जातियां इस औषधि में मिली रहती हैं जिसमें से ॲ० ब्रॅक्टियाटा (A. bracteata Retz.), ॲ० टॅगॅला (A. tagala Cham.) आदि मुख्य हैं जिनके पत्र की आकृति में अन्तर रहता है।

मात्रा—पंचाङ्ग चूर्ण ५-१५ र०; टिंक्चर ½-१ तो०।

अथ माचिका

(पश्चिमदेशे 'मोइआ' इति लोके प्रसिद्धो वृक्षविशेषः) तस्या नामानि गुणांश्चाह—

माचिकाप्रस्थिकाऽम्बष्ठा तथा चाम्बालिकाऽम्बिका। मयूरविदला केशीसहस्रा बालमूलिका॥
माचिकाऽम्ला रसे पाके कषाया शीतला लघुः। पक्वातीसारपित्तास्रकफकण्ठामयापहा॥

मोइया (पश्चिम देश में प्रसिद्ध वृक्ष विशेष) के नाम तथा गुण—माचिका, प्रस्थिका, अम्बष्ठा, अम्बालिका, अंबिका, मयूरविदला, केशी, सहस्रा और बालमूलिका ये सब मोइया के नाम है। **मोइया**—अम्लरसयुक्त, परिपाक में कषाय रसयुक्त, शीतल तथा लघु होती है और पक्वातीसार, रक्तपित्त, कफ तथा कण्ठसम्बन्धी रोगों को दूर करती है॥ १६७-१६८॥

५३ माचिका (मोइया)

माचिका के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। कुछ लोगों ने इसको (ले०) सोलॅनम् नाइग्रम् (Solanum nigrum) लिखा है लेकिन यह तो काकमाची (छोटी मकोय) का नाम है। अन्य लोगों ने इसको (ले०) हिबिसकस् कॅन्नाबिनस् (Hibiscus cannabinus) लिखा है जो पटुआ (पटसन) का नाम है तथा इसके गुण भी शास्त्रीय माचिका के गुणों से मिलते नहीं। छोटी माई तथा बड़ी माई जिन्हें क्रमशः (ले०) टॅमॅरिक्स् आर्टिक्युलेटा तथा टॅ. गॅलिका (Tamarix articulata & T. gallica) कहते हैं उनके गुण माचिका के शास्त्रीय गुणों से मिलते होने के कारण इन्हीं का व्यवहार माचिका नाम से करना चाहिये। माई के अर्थ में माचिका का वर्णन नीचे दिया जा रहा है तथा प्रसङ्गवश पटुआ का वर्णन भी आगे दिया जायगा। कुछ लोगों ने बड़ी माई को हाऊबेर माना है जो गलत है। हाऊबेर का वर्णन पहले ५० पृष्ठ पर आ चुका है।

(क) Tamarix articulata Vahl (टॅमॅरिक्स् आर्टिक्युलेटा)। Fam. Tamaricaceae (टॅमॅरिकॅसी)।

सं०—झावुक। **हिं०**—लाल झाऊ, झाव, (क्रमिगृह—**छोटी माई**)। **बं०, गु०**—झाऊ। **पं०**—परवन, फरस, फरवा। **सिं०**—लई, असरेले। **इरा०**—मझ्‌मूर् अझ्‌वा। **यू०**—सुम्रत अल् अस्ल।

इसकी झाड़ी उत्तर भारत में नदी के किनारों पर उत्पन्न होती है। सिंध तथा पञ्जाब में यह अधिकता से पाई जाती है तथा इसकी उपज भी की जाती है।

इस झाड़ी के कृमि गृहों (Galls—गॉलस्) को छोटी माई, मगिया मैन, छोटी मैन आदि कहा जाता है। यद्यपि इन्हें लोग फल कहते हैं तथापि ये फल न हो कर एक प्रकार के कृमियों द्वारा निर्मित गृह होते हैं। ये गोल, ग्रन्थि युक्त, चने के बराबर तथा पीताभ धूसरित रङ्ग के होते हैं। ये त्रिकोणाकृति के नहीं होते। औषधि में ये कृमिगृह, इसकी छाल तथा पञ्चांग के क्षार का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक सङ्गठन—छोटी माई में माजूफल में होने वाला गॅलिक् (Gallic) तथा टॅनिक् (Tannic) अम्ल बहुत होता है। रेतीली तथा समुद्र के किनारे होने वाली झाड़ी के पंचांग की राख में खारा नमक (Sodium sulphate सोडियम् सल्फेट) बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—छोटी माई माजूफल के समान ही गुण वाली है। यह ग्राही, स्तम्भन तथा रक्त स्रावावरोधक है। इसकी छाल तिक्त, ग्राही तथा बल्य होती है। छोटी माई का प्रयोग माजूफल के स्थान पर किया जाता है।

(१) यह उत्तम संग्राही होने के कारण पित्तज अतिसार, रक्तातिसार तथा रक्तार्श में उपयोगी है।

(२) इसमें रक्तस्तम्भक गुण बहुत प्रबल होता है। अतः इसका उपयोग रक्तष्ठीवन, नासारक्त स्राव तथा प्रदर आदि रक्त स्रावी व्याधियों में मुख द्वारा एवं स्थानीय प्रयोग के रूप में किया जाता है।

(३) गुल्म, प्लीहा, श्वेत प्रदर, शीघ्रपतन एवं शुक्रतारल्य आदि में भी इससे लाभ होता है।

(४) इसकी छाल, कबीला एवं तैल का प्रयोग वाजीकरण के लिये किया जाता है।

(५) इसका प्रलेप सिर के अपरस (Eczema—एक्झिमा) में किया जाता है।

(६) गलशुण्डी वृद्धि तथा दन्तशूल में इसके चूर्ण का मञ्जन तथा काढ़े का कुल्ला कराया जाता है।

मात्रा—छो. माई चूर्ण २-४ मा०; छाल ½-१ तो० क्वाथ बना कर।

(ख) Tamarix gallica Linn. (टॅमॅरिक्स् गॅलिका)।

Fam. Tamaricaceae (टॅमॅरिकॅसी)।

सं०—झावुक। **हि०**—झाऊ, झाव, पड़वास, (कृमिगृह—**बड़ी माई**)। **बं०**—बोनझाऊ, झाउ, (कृमिगृह—बड़ी माई)। **म०**—झाऊ, (कृमिगृह—मगिया माई, बड़ी मुई)। **पं०**—झाऊ, पिलची, (कृमिगृह—बड़ी माही)। **ता०**—सिरूसवुक्कु। **ते०**—एरूसारू। **उर्दू**—जहेव। **इरा०**—गझनाझू। **यू०**—सुम्रात उल् तुर्फाह्। **अं०**—Tamarix (टॅमॅरिक्स), Tamarisk (टॅमॅरिस्क)।

इसकी झाड़ी भारत के सभी भागों में विशेष कर पञ्जाब तथा उत्तर प्रदेश में होती है। बंगाल में यह नदियों के किनारों एवं आर्द्र भूमि में उत्पन्न होती है। यह सिन्ध, बलूचिस्तान, इरान एवं अफगानिस्तान में भी बहुत होती है।

इसकी झाड़ी छोटी माई की झाड़ी को अपेक्षा बड़ी होती है तथा कभी २ इसके छोटे वृक्ष भी देखने में आते हैं। **शाखाएं**—पतली तथा आपस में मिली हुई। **पत्र**—सूक्ष्म, विनाकोषयुक्त, चिकने,

बल्क सदृश एवं तीक्ष्णाग्र। पुष्प–द्विलिङ्गी, बहुत छोटे, १/१० इञ्च के घेरे में, श्वेत वा गुलाबी, शाखाओं के अन्त में गुच्छों के रूपमें। फली १/१० इञ्च लम्बी। **कृमिगृह** (Galls– = गॉलस्) गोल, जायफल इतने बड़े, तीन कोणयुक्त, गांठदार, पीले, हरिताभ मटमैले तथा पुराने होने पर धूसरित तथा स्वाद में कषाय एवं कड़वे।

इसके विदेशी वृक्षों से एक प्रकार की शर्करा प्राप्त होती है जिसे **गझंजबीन** कहते हैं। यह शर्करा यहां की जलवायु में पतली हो जाती है तथा बजार में मधु के समान गाढा पीत पदार्थ इस नाम से मिलता है। बजारू शर्करा में अन्य वृक्षों से प्राप्त शर्कराएं भी मिली रहती हैं। भारतीय वृक्षों से यह शर्करा प्राप्त नहीं होती।

रासायनिक संघटन—इसमें ४०% तक टॅनिक् ॲसिड होता है। गझंजबीन में विभिन्न शर्कराएं होती हैं।

गुण और प्रयोग—इसके कृमिगृह (गॉल) माजूफल तथा छो. माई के समान ग्राही, स्तम्भन तथा रक्तस्तम्भक होते हैं। गझंजबीन मृदु विरेचक तथा कफघ्न है। इससे पाखाना पतला होता है लेकिन इससे आंत्र को कोई नुकसान नहीं होता। इसके पञ्चाङ्ग की राख मूत्रल एवं स्रंसन होती है तथा पञ्चाङ्ग का क्वाथ ग्राही, शिथिलता दूर करने वाला एवं बल्य होता है।

(१) गझंजबीन मीठा तथा सौम्य होने के कारण बच्चों को दस्त साफ होने के लिये व्यवहार में लाया जाता है। इसके लिये इसको दूध के साथ दे सकते हैं। अनेक विरेचक एवं कफघ्न मिश्रणों में यह प्रयुक्त होता है।

(२) कृमिगृह (गॉल) का प्रयोग माजूफल के स्थानपर किया जाता है। ग्राही होने के कारण यह अतिसार, आमातिसार, संग्रहणी, अत्यार्तव, रक्तष्ठीवन एवं प्रदर में लाभदायक है। इसके लिये चतुर्गुण जल में इसका फांट बनाकर २ से ४ तोले की मात्रा में पिलाते हैं।

(३) इसके फांट का उपयोग दुष्ट व्रण तथा बद (Bubo) के प्रक्षालन के लिये तथा मुखपाक, गले की तकलीफ एवं दन्त तथा मसूढ़ों की दुर्बलता में कुल्ला करने के लिये किया जाता है।

(४) इसके पत्तों का लेप शोथघ्न है तथा प्लीहा एवं यकृत् वृद्धि पर इसका लेप किया जाता है। मसूरिका, दूषित व्रण एवं अर्श में इसका धूआं दिया जाता है।

(५) काले रंग का इसके पञ्चाङ्ग का घन क्वाथ झाव नाम से काठियावाड़ में बिकता है तथा गलशुण्डी वृद्धि, गले की शिथिलता तथा शुष्क कास में इसको चटाते हैं।

(६) इसके कृमिगृह (गॉल) का चूर्ण ४ से ८ माशा, अफीम २ माशा, एवं हॅसलीन २ तो० इनका मलहम बनाकर व्रण युक्त अर्श एवं गुद विदार (Anal fissure=ॲनलफिशर्) पर लगाते हैं। यह मलहम विदेशी गॉल से बने इसी प्रकार के डाक्टरी मलहम के समान ही लाभदायक होता है।

(७) झाऊ की लकड़ी के पात्र में जल पीने से प्लीहा वृद्धि शीघ्र कम हो जाती है।

मात्रा—कृमि गृह (गॉल) चूर्ण २–४ माशा; गझंजबीन १–३ माशा।

(ग) Hibiscus cannabinus Linn. (हिबिस्कस् कॅन्नाबिनस्)।
Fam. Malvaceae (माल्वॅसी)।

सं०–मानिका (?) अंबष्ठा। **हि०**–मोइया, अम्बारी, पटसन, पटुवा, सन, कुद्रुम। **बं०**–मेस्ता-पाट। **क०**–पुंडोन। **म०**–अम्बाडी। **गु०**–भिंडी, अम्बोई। **ता०**–पुलुङ्गु। **ते०**–गोंगुकुरू। **सन्ता०**–बरेकुद्रुम। **उडि०**–कनुरिया। **सिन्ध**–सज्जाडो। **अं०**–Indian hemp (इण्डियन हेम्प); Jute (जूट); Deccan hemp (डेक्कन हेम्प); Bimlipatam Jute (बिमलीपटम् जूट), Ambari hemp (अम्बारी हेम्प)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है परन्तु पश्चिमीघाट के पूर्व में यह आपही आप जङ्गली उत्पन्न होता है।

इसका **क्षुप**–२ से ५–६ हाथ तक ऊँचा होता है और इस पर सूक्ष्म कांटेदार रोवें होते हैं। जड़ की ओर के पत्ते गोलाकार किञ्चित् कटे किनारे वाले होते हैं किन्तु ज्यों ज्यों पौधे बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों पत्ते का आकार बदलता जाता है। ऊपर के **पत्ते** ५–७ भागों में विभक्त हो जाते हैं और प्रत्येक भाग दन्तुर होता है। **फूल**–पीले रंग के आते हैं। पुष्पदल के मध्य का हिस्सा बैंगनी रंग का होता है। **डोडी (फल)**–गोलाकार नुकीली होती हैं। **बीज**–भूरे रंग के होते हैं। इसका सर्वाङ्ग खट्टा होता है। तन्तु (Fibre के लिए इसकी काफी खेती की जाती है, विशेषकर दक्षिण में।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक प्रकार का खाने योग्य तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र तथा पुष्प विरेचक, रुचिकारक तथा हृद्य हैं। पित्तमयता में इनका शाक बनाकर खाया जाता है। इसके पुष्पों का १ तो० स्वरस मरिच एवं मिश्री के साथ पित्त प्रकोप में दिया जाता है, जिससे शौच साफ हो जाता है।

इसके बीजों के तेल को पीडा एवं मोच आदि पर मलते हैं तथा पुष्टि एवं बाजीकरण के लिए इस तैल का सेवन करते हैं। तीसी और तिल में तेल निकालते समय इसके बीज की मिलावट की जाती है।

अथ तेजवती।

(तेजवल्कल[1] 'तेजबल' इति च लोके) तस्या नामानि गुणाँश्चाह—

> **तेजस्विनी तेजवती तेजोह्वा तेजनी तथा ॥ १६९ ॥**
> **तेजस्विनी कफश्वासकासास्यामयवातहृत्।**
> **पाचन्युष्णाकटुस्तिक्तारुचिवह्निप्रदीपिनी ॥ १७० ॥**

तेजवती (तेजवल्कल या तेजबल नाम से भी लोक में प्रसिद्ध द्रव्य) के नाम तथा गुण - तेजस्विनी, तेजवती, तेजोह्वा तथा तेजनी ये सब तेजबल के नाम हैं। **तेजबल**–कफ श्वास, कास, मुखसम्बन्धीरोग तथा वायु को नष्ट करनेवाला होता है। तथा यह पाचक, उष्णवीर्य, कटु तथा तिक्तरसयुक्त, रुचिकारक एवम् अग्निदीपक होता है ॥ १६९–१७० ॥

५४ तेजवती (तेजबल)

हि०–तेजबल। **म०–बं०–गु०**–तेजबल। **अं०**–Toothache Tree (टूथएक ट्री)। **ले०**–Zanthoxylum alatum Roxb. (झॅन्थोक्साइलम् एलॅटम्)। Fam. Rutaceae (रूटेसी)।

जिस वनौषधि का परिचय 'तुम्बुरु' के नाम से दिया जा चुका है उसी वृक्ष की छाल को तेजबल और कालीमिरच के आकार वाले तथा फटे मुखवाले फल को 'तुम्बुरु' कहते हैं। कुछ लोगों ने उसी वंश की अन्य जाति को तेजबल लिखा है जिसके फलों को भी दन्तशूल में चबाने के लिए देते हैं।

---

[1] 'तेजबल' स्थाने 'तेजपात' इति पाठान्तरम्।

अथ ज्योतिष्मती (मालकांगनी) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

ज्योतिष्मती स्यात्कटभी ज्योतिष्का कङ्गुनीति च।
पारावतपदी [1]पिण्या लता प्रोक्ता ककुन्दनी ॥ ७१ ॥
ज्योतिष्मती कटुस्तिक्ता सरा कफसमीरजित्।
अत्युष्णा वामनी तीक्ष्णा वह्निबुद्धिस्मृतिप्रदा ॥

मालकांगनी के नाम तथा गुण—ज्योतिष्मती, कटभी, ज्योतिष्का, कङ्गुनी, पारावतपदी, पिण्या, लता और ककुन्दनी ये सब नाम मालकांगनी के हैं। **मालकांगनी**–कटु तथा तिक्तरस युक्त, सारक (दस्तावर), कफ वातनाशक, अत्यन्त उष्णवीर्य, वमन करानेवाली और तीक्ष्ण एवं जठराग्नि, बुद्धि तथा स्मरणशक्ति को बढ़ाने वाली होती है॥ १७१–१७२॥

५५ ज्योतिष्मती (मालकांगनी)

हि०–मालकांगनी, मालकौनी, मालटांगुन। **बं०**–लताफटकी, बनउच्छे। **म०**–मालकांगोणी, करडकंगोनी, पिंगवी, पेंगी। **क०**–करिगन्ने। **तै०**–बावंजी। **गु०, मा०**–मालकांगणां। **ता०**–वलुलुवै। **फा०**–काल। **अ०**–हब्बे किल्‌किल्। **अं०**–Staff tree (स्टाफ् ट्री)। **लै०**–*Celastrus paniculatus Willd.* (सिलॅस्ट्रस् पॅनिक्युलेटस्)। Fam. Celastraceae (सिलेस्ट्रेसी)।

यह हिमालय पहाड़ के उष्ण तथा साधारण जगहों में पञ्जाब, झेलम के आसपास तक समस्त भारतवर्ष की पहाड़ी भूमि में, पूर्वी बंगाल, बिहार, दक्षिण भारत, ब्रह्मा और सिलोन आदि प्रदेशों में होती है।

इसकी सुविस्तृत काष्ठमय लता होती है जिसकी नवीन शाखाओं पर बहुत श्वेत बिन्दु पड़े रहते हैं। **पत्ते**–विषमवर्त्ती लगते हैं और आकार में कई प्रकार के होते हैं तथा गोलाई लिये किञ्चित् लम्बे, ऊपर से लट्वाकार, चिकने, चर्मवत् और नुकीले तथा गोल दांतों से युक्त धार वाले होते हैं। प्रायः इनकी लम्बाई २ से ४ इञ्च तक और चौड़ाई १॥ से ३ इञ्च तक होती है। **फूल**–आध इञ्च के घेरे में पीलापन लिये हरे रंग के होते हैं। इन पर आध आध इञ्च के डोडे (डंडी) लगते हैं जो गोलाई लिये किञ्चित् चिपटे, चमकीले, कच्ची अवस्था में हरे और पक होने पर पीले रंग के होते हैं और उनके आगे का हिस्सा फटे रहने से बीज दिखलाई पड़ते हैं। आषाढ़ एवं श्रावण के महीने में जब इसमें पक फलों के गुच्छे लगते हैं तब यह लता बहुत सुन्दर प्रतीत होती है। प्रत्येक फल में ३ खण्ड होते हैं। उनमें ३ से ६ तक लगभग तिहाई इञ्च के काले बीज होते हैं और वे एक प्रकार के लाल आवरण से ढके रहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक गाढ़ा, रक्ताभ, कड़वा और गन्धयुक्त तैल ३०%, एक कड़वी राल, राख ५% और टॅनिन् आदि द्रव्य रहते हैं। इसके बीजों को जलाकर पाताल यन्त्र द्वारा भी एक तैल निकाल सकते हैं।

गुण और प्रयोग—मालकांगनी के बीज उष्ण, स्वेदजनन, उत्तेजक, बुद्धि एवं स्मृतिवर्धक, वातहर, वातनाडी बल्य एवं त्वक्दोषहर हैं।

(१) इसके बीजों के साथ लोहबान, लवंग, जायफल और जावित्री मिलाकर पाताल यन्त्र द्वारा एक तैल निकाला जाता है जिसे **कृष्णतैल** (Black oil) या ओलियम् नाइग्रम् (Oleum Nigrum) कहते हैं। यह तैल विजगापट्टम्, मसुलिपट्टम् और पश्चोर आदि स्थानों में बिकता है।

१. 'पण्ये'ति पाठान्तरम्।

यह तैल अत्यन्त उत्तेजक, मूत्रनिःसारक तथा स्वेदल होता है। नवीन **बेरी बेरी** (Beri Beri) नामक रोग में १० से १५ बूंद इस तैल को देने से बहुत लाभ होता है। या इसके बीजों को क्रमशः बढ़ाते हुये एक दिन में ५० बीजों तक सोंठ के साथ देते हैं। पहले इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है और बाद में जलशोथ कम होकर फिर संवेदनाशक्ति वापस आती है। जलोदर में भी इस तैल से लाभ होता है। मलेरिया ज्वर जैसी पीडा जब आमवात में होती है तब तथा अङ्गघात आदि में इसको रक्तोत्क्लेशक (Rubefacient) के रूप में लगाते हैं। बुद्धि बढ़ाने के लिये आठगुने मक्खन में इसे मिलाकर सर में लगाया जाता है।

(२) इसके बीजों को दबाकर भी तैल निकाला जाता है। २ से १० बूंद की मात्रा में आमाशय के रोगों में एवं बुद्धि तथा स्मृतिवृद्धि के लिये इसको खिलाते हैं। सुश्रुत में इस तैल को जलोदर के लिये हींग तथा जवाखार के साथ दूध में पीने को लिखा है। रसरत्नसमुच्चय में इसके तैल को स्मृति एवं बुद्धि वृद्धि के लिये बहुत उपयोगी माना है।

(३) इसके बीजों का क्वाथ अन्य सुगन्धित औषधों के साथ आमवात, वातरक्त, अंगघातादि वातरोग एवं कुष्ठ में लाभदायक है।

(४) इसके बीजों को व्रण के ऊपर पीसकर लगाने से न भरने वाले व्रण जल्दी भरते हैं।

मात्रा—कृष्णतैल–मूत्र वृद्धिकर १०–३० बूंद। स्वेदजनक ५–१५ बूंद।
शानतन्तु उत्तेजक १०–१५ बूंद।
दबाकर निकाला तैल २–१० बूंद।

अथ कुष्ठम् (कूठ) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुष्ठं रोगाह्वयं वाप्यं[1] पारिभव्यं तथोत्पलम् ॥
कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्रलं तिक्तकं लघु। हन्ति वातास्रवीसर्पकासकुष्ठमरुत्कफान् ॥१७३॥

कूठ के नाम तथा गुण—कुष्ठ, रोगाह्वय (रोगवाची शब्द), वाप्य, पारिभाव्य तथा उत्पल ये सब कूठ के नाम हैं। कूठ–उष्णवीर्य, कटु, स्वादु तथा तिक्त रसयुक्त, शुक्रजनक और लघु होता है। और यह वातरक्त, विसर्प, कास, कुष्ठ, वायु तथा कफ को दूर करता है॥ १७३॥

५६ कुष्ठ (कूठ)

हि०–कूठ, कूट, कुष्ट। **बं०**–पाचक, कुर। **म०**–कोष्ठ, उपलेट। **गु०**–उपलेट, कठ। **क०**–कोष्ट। **तै०**–चेंगुलकोष्टम्। **प०**–कुट्ठ, कुट, कोठ। **फा०**–कुष्ठ-ई-तल्ख। **अ०**–कुस्तबेहेरी। **काश्मी०**–पोस्तखै, कूठ। **भोटिया०**–कुष्ट। **ता०**–कोष्टम्, गोष्टम्। **अं०**–Costus root (कोस्टस् रूट)। **लै०**–*Saussurea lappa, C. B Clarke* (सॉस्सुरिया लप्पा)। Fam. Compositae (कॉंपोझिटी)।

इसके क्षुप काश्मीर तथा उसके आसपास के आर्द्र ढालों पर ८०००–१३००० फीट की ऊंचाई पर तथा चेनाब और झेलम नदियों के आसपास के प्रदेशों में १००००–१३००० फीट की ऊंचाई पर पाये जाते हैं।

१. व्याप्यमाप्यं वेति पाठान्तरे।

इसका बहुवर्षायु **क्षुप**–बहुत दृढ़ होता है। **काण्ड** स्वावलम्बी, ४–७ फीट ऊँचा, मद्दा, जड़ की ओर छोटी उङ्गली प्रमाण मोटा होता है।

पत्ते–कौशेय सदृश, विषम दन्तुर, खण्डित, आधरीय बहुत लम्बे, २–४ फीट, त्रिकोणाकार, लम्बे खण्डयुक्त सपंख डण्ठलवाले तथा ऊपर के छोटे। **फूल**–दृढ़ १ से १। इञ्च गोल, विनाल, गुच्छेदार, गहरे नील बैगनी रंग के या काले। **फल**–०·३१ इञ्च तक लम्बे, दबे हुये, मुड़े हुये चर्मलफल (Achene)। **मूल**–हलके भुरचई लाल या काले बादामी, हलके, दृढ, सीधे, १ से ३ इञ्च लम्बे, १ से १¾ इञ्च मोटे, छोटे छोटे उभारों से युक्त; मोटे टुकड़े अन्दर से पोले; इसके ठीक कटे हुये पृष्ठ में ३ भाग स्पष्ट दिखाई देते हैं जिसमें से बाहरी भाग अंगूठी की तरह गोल, बीच का काष्ठमय भाग कुछ हलके रंग का तथा महीन किरणों के समान धारियों से युक्त एवं अन्दर में मध्यभाग; **भग्न**–छोटा तथा शृङ्गवत (Horny); **गंध**–मधुर; **स्वाद**–कुछ कडवा। इन्हीं मूलों का व्यवहार औषध में किया जाता है। चक्रपाणि ने अच्छे कूठ की पहचान यह दी है कि उसे तोड़ने पर नीचे उसके कण अलग होकर नहीं गिरते तथा वह मृगशृङ्ग के समान होता है।

कुछ लोग मीठा और कडवा कूठ करके दो भेद करते हैं और मीठा कूठ, पुष्करमूल को कहते हैं। शास्त्रीय गुणों में पुष्करमूल कटु, तिक्त कहा गया है लेकिन कूठ कटु और स्वादु लिखा गया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि मीठा कूठ, पुष्करमूल नहीं है। कुछ लोगों ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि परिपक्व कूठ की मूल कडवी तथा अपक्व कूठ की मूल कुछ मीठी होती है। फारसी लेखक तिक्त कुष्ठ को कुस्त-ई-तल्ख और मीठे कूठ को कुस्त-ई-सिरीन् लिखते हैं और मीठे कूठ को पुष्कर मूल का अंग्रेजी नाम ओरिसरूट बतलाते हैं।

कूठ काश्मीर से चीन को बहुत जाता है जिसे वहां लोग धूप की तरह व्यवहार में लाते हैं। ऊनी वस्त्रों की कृमियों से रक्षा करने के लिये कूठ के टुकड़ों को उनमें रखते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में एक उड़नशील तैल १·५–२·५%, एक सॉसुराइन (Saussurine) नामक क्षाराभ ·०५%, राल ६%, इन्युलिन (Inulin) १८%, तैल, पोटॅशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate), शर्करा तथा टॅनिन आदि द्रव्य रहते हैं। एक अन्य कुष्टिन (Kushtin, $C_{20}H_{26}O_3$) नामक तरल पदार्थ भी इससे प्राप्त होता है। इसके उड़नशील तैल में कोस्टस् लॅक्टोन (Costus lactone, $C_{15}H_{20}O_2$) ११, कोस्टुसिक् एसिड (Costusic acid, $C_{15}H_{22}O_2$) १४, डीहाइड्रोकोस्टस् लॅक्टोन (Dihydrocostus lactone) १५, ॲप्लोटॉक्सिन (Aplotoxin) २०, ॲल्फा-कोस्टेन (a-costene) ६, बीटा-कोस्टेन (B-Costene) ६, फेलॅन्ड्रेन (Phelandrene) ०·४, कॅम्फेन (Camphene) ०·४, तथा टरपेन ॲल्कोहोल (Terpene alcohol) ०·२% पाया जाता है। इसके पत्तों में भी क्षाराभ आदि पाये जाते हैं लेकिन उडनशील तैल नहीं रहता। कुछ लोगों के मत से इसमें व्हॅलेरिक् अम्ल (Valeric acid) के लवण तथा इसकी राख से मैंगनीज (Manganese) भी पाया जाता है।

सॉस्सुराइन नामक क्षाराभ की क्रिया सुषुम्नाशीर्ष (Medulla) स्थित प्राणदा (Vagus) नाडी केन्द्र पर तथा श्वसनिका (Bronchioles) एवं पचनसंस्थान (Gastro-intestinal tract) की अनैच्छिक (Involuntary) मांशपेशी तन्तुओं पर अवसादक (Depressant) होती है जिससे श्वसनिकाओं का विस्फार (Relaxation) होता है। इससे रक्तचाप की कुछ वृद्धि होती है जो लगातार बनी रहती है तथा हृदय, विशेष कर उसके निलय (Ventricles) के संकोच तथा विस्फार की शक्ति बढ़ती है। श्वसनिका विस्फार की क्रिया ॲड्रेनलीन (Adrenaline) के जितनी तीव्र नहीं होती न यह उतनी जल्दी कार्य ही करता है लेकिन इसका प्रभाव अधिक समय तक बना रहता है।

इसमें का उड़नशील तैल (Volatile oil) जीवाणुओं के लिये, विशेष कर स्तबक तथा माला गोलाणु (Staphylo and Streptococcus) के लिए प्रतिदूषक (Antiseptic) तथा उपसर्ग नाशक (Disinfectant) है। यह वातानुलोमक, हृदयोत्तेजक, कफनिःसारक एवं मूत्रल है तथा अनैच्छिक मांसपेशी तन्तुओं को यह शिथिल करता है जिससे श्वसनिकाओं का विस्फार होता है। केन्द्रीय वातनाडी संस्थान पर इसका प्रभाव अन्य उडनशील तैलों की तरह ही होता है। इसका उत्सर्ग वृक्क तथा फुफ्फुसों द्वारा होता है जिससे यह मूत्रल तथा कफनिःसारक है।

इसका प्रवाही सत्व अधिक मात्रा में (१०–२० सी० सी०) यदि सेवन किया जाय तो उदर में कुछ प्रक्षोभ तथा बेचैनी होती है तथा तन्द्रा उत्पन्न होती है।

कूठ का धूम्रपान केन्द्रीय वातनाडी संस्थान (Central Nervous System) में अवसाद उत्पन्न करता है और शायद यही कारण है कि अफीम के स्थान पर इसका धूम्रपान किया जाता है।

गुण और प्रयोग—कूठ उष्ण, दीपन, पाचन, सुगन्धि, उत्तेजक कफनिःसारक, उद्वेष्टननिरोधी, कुछ मूत्रल, वाजीकर, रसायन, आर्तवजनन, व्रणशोधक एवं रोपक, त्वक्दोषहर, प्रतिदूषक (Antiseptic) तथा उपसर्गनाशक (Disinfectant) है।

इसका उपयोग फुफ्फुस विकार जैसे तमकश्वास, कास एवं कुपचन, विसूचिका, जीर्ण चर्मरोग, उन्माद, अपस्मारादि वातरोग, आमवात, वातकफज्वर, नष्टार्तव, कष्टार्तव, हृदयोदर, जलोदर तथा शिरःशूल आदि में किया जाता है।

(१) **तमकश्वास** (Asthma) के लिए यह औषध बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई है। इसके लिए इसका मद्यसारीय प्रवाही सत्व ½–२ ड्राम की मात्रा में या इसका चूर्ण दिन में ३, ४ बार दिया जाता है। रात को सोते समय तथा जब भी श्वास के आवेग की सम्भावना हो तो इसकी एक मात्रा देने से आवेग नहीं आता न इससे ॲड्रिनॅलीन (Adrenaline) के इञ्जेक्शन वा दमे की सिगरेट आदि की तरह निद्रानाश आदि दुष्परिणाम ही होते हैं क्योंकि यह उद्वेष्टन निरोधि होने के साथ-साथ केन्द्रीय वातनाडी संस्थान पर इसका अवसादक प्रभाव भी होता है। इस औषध को १०, १५ दिन लगातार देकर फिर कुछ दिन रोककर देखना चाहिये कि फिर दौरा तो नहीं होता। यदि फिर दौरा हो तो फिर इसे देना चाहिये। इसका न तो कोई संचायि (Cumulative) दुष्परिणाम होता है न सहनशीलता (Tolerance) ही उत्पन्न होती है जिससे प्रत्येक बार मात्रा में वृद्धि करनी पड़े। इस औषध के प्रयोग के समय तमकश्वास के कारणों की अवश्य खोज करनी चाहिये तथा उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि जब तक कारण दूर नहीं होंगे तब तक स्थायी लाभ नहीं हो सकेगा। यह प्राणदा नाडी की उत्तेजना से होने वाले आवेगों (व्हॅगोटोनिक् टाइप = Vagotonic type) को रोकने में विशेष समर्थ है। इसके क्षाराभ तथा तैल दोनों संयुक्त मिलकर कार्य करते हैं। तैल श्वसनिकाओं के उद्वेष्टन को दूर करने के साथ-साथ श्लेष्मा को भी बाहर निकालता है तथा उससे श्लेष्मलकला की सूजन दूर होती है। इसके प्रवाही सत्व को पोटॅशियम् आयोडाइड् के मिश्रण के साथ भी दे सकते हैं। इसका अल्प मात्रा में धूम्रपान भी लाभदायक है।

(२) पाचन के विकार जैसे अजीर्ण, कुपचन, शूल, आध्मान, अतिसार एवं विसूचिका आदि में इससे युक्त अग्निमुख चूर्ण (चक्र.) १०–२० र० की मात्रा में सुरा आदि के साथ लाभदायक है। विसूचिका में बड़ी इलायची के साथ इसका फांट दिया जाता है। हृद्दौर्बल्यजन्य जलोदर में भी इससे पाचन सुधरता है तथा मूत्रवृद्धि होकर लाभ होता है।

(३) आमवात में इसके चूर्ण को एरण्ड तैल के साथ खिलाते हैं तथा इसका बाह्यलेप भी करते हैं।

(४) रसायन के लिये इसके चूर्ण को घृत तथा मधु के साथ नित्य सुबह चाटना चाहिये जिससे किसी भी प्रकार के रोग नहीं होने पाते तथा आयु की वृद्धि एवं शरीर की कांति बढ़ती है। **अथर्ववेद** में भी इसके रसायन गुणों के साथ इसे शिरोरोग, तृतीयक ज्वर, कुष्ठ एवं कृमि रोगों के लिये उपयोगी माना है लेकिन आधुनिक विद्वान् मलेरिया, आंत्रिक कृमि, महत्कुष्ठ एवं आमवातादि में अनुपयोगी बतलाते हैं।

(५) बार-बार आनेवाली हिक्का में यह औषध लाभदायक है। इसमें कूठ तथा राल का धूम्रपान कराया जाता है।

(६) चर्मरोगों में यह बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। व्रणों पर इसके मलहम का उपयोग किया जाता है। अरूंषिका (सर के क्लेदयुक्त फोड़े फुन्सी) में इसका चूर्ण खपरैल में भूनकर तेल के साथ लगाया जाता है जिससे खुजली, जलन, पीडा एवं सर के व्रण आदि अच्छे होते हैं। मुख कान्ति वृद्धि के लिये इसे नींबू के रस में ७ दिन भिगोकर मधु के साथ मुख पर लगाना चाहिये।

(७) एरण्डमूल के साथ इसको कांजी में पीसकर उसके लेप से शिरःशूल दूर होता है।

(८) यह गुलाबजल में पीसकर हाथ पैरों की सूजन, उदरवृद्धि, शिरःशूल तथा मोच आदि पर लगाया जाता है।

(९) चीन में इसका उपयोग बालों को काला करने के लिए मसाले के रूप में एवं धूपन के लिये किया जाता है तथा दन्तशूल में कस्तूरी के साथ उसे लगाते हैं। बालों को धोने के काम में भी इसका उपयोग होता है।

मात्रा—चूर्ण २–१५ र०; तरलसत्व ½–२ ड्राम।

प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण—कभी कभी सॉस्सुरिया हाइपोल्यूका (Saussurea hypoleuca) के मूल इसके प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार में आते हैं। इसमें कभी-कभी लॅबियेटी (Labiateae) वर्ग की सॅलविया लॅनेटा (Salvia lanata) या लिगुलॅरिया (Ligularia) के मूल, निर्विश (Kyllingia triceps), रास्ना भेद (Inula racemosa), कुछ हीन जाति के अॅकोनाइट (Aconite) के मूल एवं सेनेसिओ जॅक्वेमॉन्टियानस् (Senecio jacquemontianus) जिसे काश्मीर में पोष्कर कहते हैं आदि का व्यामिश्रण किया जाता है जिनको सूक्ष्मदर्शन यन्त्र एवं अन्य आकारादि द्वारा अलग पहचान सकते हैं। दक्षिण की तरफ कहीं-कहीं संभवतः केमुक (Costus speciosus-कोस्टस् स्पेसिओसस्) इसके स्थान पर लिया जाता रहा।

अथ कुष्ठभेदः–पुष्करमूलम् , तस्य नामानि गुणाँश्चाह

उक्तं पुष्करमूलं तु पौष्करं पुष्करञ्च तत्। पद्मपत्रञ्च काश्मीरं कुष्ठभेदमिमं जगुः ॥१७४॥
पौष्करं कटुकं तिक्तमुक्तं वातकफज्वरान्। हन्ति शोथारुचिश्वासान्विशेषात्पार्श्वशूलनुत्॥

कूठ के भेद पोहकर मूल के नाम तथा गुण—पुष्करमूल, पौष्कर, पुष्कर, पद्मपत्र, काश्मीर और कुष्ठभेद ये सब पोहकर मूल के नाम हैं। **पोहकरमूल**–कटु तथा तिक्त रसयुक्त होता है और वात कफ ज्वर, शोथ, अरुचि तथा श्वास को दूर करता है। और यह विशेषतः पार्श्वशूल को नष्ट करने वाला होता है॥ १७४–१७५॥

५७ पुष्करमूल

हि॰–पोहकरमूल, पुष्करमूल। **बं॰**–पुष्करमूल, कुष्ठविशेष। **म॰**–पुष्करमूल, वालवेखण्ड। **गु॰**–पोहकरमूल। **पं॰**–पोहकरमूल, इरसा। **काश्मी॰**–पातालपद्मिनी। **अ॰**–सोसन इरसा। **फा॰**–बेख–इ–बनफ्शा। **अं॰**–Orris root (ओरिस रूट)। **ले॰**–*Iris germanica, Linn.* (आइरिस् जर्मॅनिका, लिन)। Fam. Iridaceae (आइरिडॅसी)।

पुष्करमूल के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। कुछ लोगों ने यह लिखा है कि पुष्करमूल के अभाव में कूठ लेना चाहिये। प्राचीन समय में इसका अभाव होगा ऐसा प्रतीत नहीं होता। आधुनिक विद्वानों में डा॰ देसाई ने पुष्करमूल को (ले॰) आइरिस् जर्मॅनिका (Iris germanica) माना है लेकिन उसी को वह बालवच (हैमवती, श्वेतवचा) भी मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान् पुष्करमूल को (ले॰) इनूला रेसिमोसा (Inula racemosa) मानते हैं जिसको डा॰ देसाई ने 'रास्ना' माना है तथा बालवच (हैमवती, श्वेतवचा) को (ले॰) आइरिस व्हॅरसिकोलर (Iris versicolor) मानते हैं।

सभी विद्वान् पुष्करमूल का अंग्रेजी नाम ओरिस रूट (Orris Root) लिखते हैं। ओरिस रूट, (ले॰) आइरिस् फ्लोरॅंटिना (Iris florentina Linn) का मूल है। बम्बई के बजार में (अं॰) ओरिस् रूट नाम से अधिकतर (ले॰) आइरिस् जर्मॅनिका के मूल बिकते हैं, जो उसी जाति का है। गुणों की दृष्टि से (ले॰) आइरिस् जर्मॅनिका के गुण कूठ से मिलते जुलते होने से इसका ग्रहण उचित जान पड़ता है। कुछ लोग कमल की जड़ को पुष्करमूल के नाम से लेते हैं जो बिलकुल गलत मालूम होता है। कूठ के स्थान पर लिये जाने वाले द्रव्यों को भी इसके स्थान पर कुछ लोग लेते हैं जो उचित नहीं है।

(ले॰) इनूला रेसिमोसा का वर्णन 'रास्ना' के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहां पर निम्न वर्णन (ले॰) आइरिस् जर्मॅनिका का किया जा रहा है।

यह इरान तथा काश्मीर में उत्पन्न होता है तथा काश्मीर में इसकी उपज भी की जाती है। इसका छोटा पौधा होता है। **पत्ते**–अनेक, चौड़े तथा तलवार के आकार के होते हैं। **पुष्प**–लम्बे दंड पर आते हैं। **मूल**–कठोर, पीताभश्वेत, ५ से १० से॰ मी॰ लम्बे तथा २–३ से॰ मी॰ चौड़े टुकड़ों में, चिपटे, वार्षिक वृद्धि के कारण उत्पन्न सान्तर संकोच युक्त, सुगन्ध युक्त एवं स्वाद में तिक्त रहते हैं। ३ साल पुराने पौधे की जड़ निकाल कर छील कर हलकी धूप में ५–६ दिन सुखाते हैं फिर ३ वर्ष तक बंद करके रखते हैं तब इसमें गन्ध आती है। ताजी अवस्था में यह गन्धहीन एवं स्वाद में कुछ कटु रहता है। मूल का उपयोग चिकित्सा के अतिरिक्त पाउडर में तथा सुगन्ध द्रव्य के रूप में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, आइरिडीन (Iridin) ग्लुकोसाइड, स्टार्च, शर्करा, राल, टैनिन तथा कॅल्शियम ऑक्झेलेट आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण कूठ के समान हैं तथा यह उष्ण, आनुलोमिक, मूत्रजनन, उत्तेजक, शोथघ्न एवं व्रणरोपक है। अधिक मात्रा में यह विरेचक तथा वामक है।

इसका उपयोग श्वास, कास, पार्श्वशूल, कुपचन, अरुचि तथा पित्ताशय की बीमारियों में किया जाता है। हकीम लोग इसको विरेचक एवं मूत्रल मानते हैं तथा यकृत् के विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। दंतशूल तथा दांत हिलते हों तब एवं मुख दुर्गन्धि में इसके चूर्ण से मञ्जन किया

जाता है तथा इसके टुकड़े को मुख में रखकर चूसते भी हैं। केशतैलों को सुगन्धित करने के लिये इसका व्यवहार किया जाता है। छोटे व्रणों तथा फोड़े फुन्सियों पर इसका लेप लाभदायक है।

मात्रा—२ से १५ र०।

अथ कटुपर्णी (चोक) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

कटुपर्णी हैमवती हेमक्षीरी हिमावती। हेमाह्वा पीतदुग्धा च तन्मूलं चोकमुच्यते ॥१७६॥
हेमाह्वा रेचनी तिक्ता भेदिन्युत्क्लेशकारिणी। कृमिकण्डूविषानाहकफपित्तास्रकुष्ठनुत् ॥१७७॥

सत्यानाशी (चोक) के नाम तथा गुण—कटुपर्णी, हैमवती, हेमक्षीरी, हिमावती, हेमाह्वा और पीतदुग्धा ये सब सत्यानाशी के नाम है और इसी के जड़ भाग को चोक कहते हैं।

सत्यानाशी—रेचक, तिक्तरसयुक्त, भेदक (मल को भेदन करने वाली) और उत्क्लेश कारक होती है एवम् कृमि, खुजली, विष, आनाह, कफ, पित्त, रक्त विकार और कुष्ठ को दूर करने वाली होती है ॥ १७६-१७७ ॥

५८ कटुपर्णी (चोक)

हि०—सत्यानाशी, पीला धतूरा, फरंगी धतूरा, ऊजर कांटा, सियाल कांटा, भड़भांड़, चोक। **बं०**—सोनाखिरणी, शियाल कांटा, बड़ो सियाल कांटा। **म०**—कांटे धोत्रा। **गु०**—दारूडी। **क०**—अरसिन उन्मत्त। **ता०**—ब्रह्मदण्डु, कुडियोट्टि, कुरुक्कुम चेडि। **ते०**—ब्रह्मदण्डी चेट्टु। **पं०**—कण्डियारी, स्यालकांटा, भटमिल, सत्यनशा, भेरबण्ड, भटकटेया। **सन्ता०**—गोकुहल जानम। **पश्चिमो०**—भरभुरवा, कडवड़ कण्टेला। **मला०**—पोन्नुम्मत्तम्। **उडि०**—कांटाकुशम। **अं०**—Mexican poppy (मेक्सिकन पॉप्पी), Prickly poppy (प्रिक्ली पॉप्पी), Yellow thistle (यलो थिसल्)। **ले०**—*Argemone mexicana Linn.* (आर्जिमोन् मेक्सिकाना)।

Fam. Papaveraceae (पॅपॅहेरॅसी)।

यह सब प्रान्तों के खेत, मैदान, झाड़ी, खण्डहर, सड़क के किनारे आदि गन्दी जमीन में उत्पन्न होती है। शिमले में ५००० फीट ऊँची भूमि पर भी पाई जाती है।

सत्यानाशी **क्षुप** जाति की वनस्पति २ से ४ फीट तक ऊँची, अनेक शाखाओं से युक्त सघन होती है। इसके क्षुप, पत्ते, फल इत्यादि पर **तीक्ष्ण कांटे** होते हैं। डण्डी और पत्तों को तोड़ने से **पीला दूध** निकलता है। **पत्ते** ३ से ७ इञ्च तक लम्बे, कटे हुए, तीक्ष्ण कँटीले नोक वाले, सफेद धब्बों से युक्त तथा रेशेवाले होते हैं। **फूल**—कटोरी नुमा चमकीले पीले रंग के आते हैं और वे खुले मुख होते हैं। **फल**—लम्बे तथा गोल होते हैं और उनसे राई के समान काले रंग के बीज निकलते हैं। वैशाख, ज्येष्ठ की गरमी से इसका क्षुप सूख कर नष्ट हो जाता है। फल के सूखने पर बीज भूमि पर गिर जाते हैं और वे ही शरद ऋतु में अङ्कुरित हो पौधे के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसकी जड़ का नाम **'चोक'** है।

कुछ विद्वान् इस पौधे को विदेशी मानते हैं तथा इसे प्राचीन 'स्वर्णक्षीरी' नहीं मानते। इस वनस्पति के ताजे मूल, क्षीर, बीज तथा तैलादि का औषध में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पहले ऐसा समझा जाता रहा कि इस वनस्पति के पत्तों तथा फलियों में मॉर्फीन (Morphine) या आर्जेमोनाइन् (Argemonine) क्षाराभ पाये जाते हैं लेकिन

बाद के प्रयोगों से ज्ञात हुआ कि इसमें इस प्रकार के कोई क्षाराभ नहीं रहते लेकिन बर्बेरीन (Berberine) तथा प्रोटोपाइन (Protopine) नामक अन्य क्षाराभ होते हैं। इसके बीजों में एक गहरे बदामी रंग का, स्वादहीन तैल २२% पाया जाता है जो पहले पतला रहता है लेकिन बाद में रखने पर गाढ़ा होता जाता है। इसके अतिरिक्त इन बीजों में कार्बोहाइड्रेट्स (Carbohydrates) एवं अॅल्ब्यूमिन (Albumin) ४९%, आर्द्रता ९% तथा राख ६% पाई जाती है। इस राख में क्षारीय फॉस्फेट (Phosphate) तथा सल्फेट (Sulphate) पाये जाते हैं। इस वनस्पति में पीले रंग का दूध बहुत होता है जिसमें अल्प मात्रा में बर्बेरीन (Berberine) होता है। पोटॅशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate) लवण भी इसमें होता है।

गुण और प्रयोग—यह विरेचक, रसायन, कुष्ठघ्न एवं कृमिघ्न है तथा इसका प्रयोग फिरंग, उपदंश, सोजाक, कुष्ठ, चर्मरोग तथा नेत्र विकारों में किया जाता है।

(१) इसके बीजों का तेल मृदुरेचक, रसायन, कुष्ठघ्न एवं त्वचा के रोगों में लाभदायक है। यह ३० बूंद की मात्रा में शर्करा के साथ दिया जाता है। इसके नये बीज वामक होने के कारण इन बीजों को एक साल रख कर फिर तेल निकालते हैं तथा ताजे निकाले तेल का ही उपयोग अच्छा होता है। इसमें एरण्ड तैल के समान न तो कोई दुर्गन्ध या खराब स्वाद होता है न इससे मरोड़ आदि होती है तथा यह अल्प मात्रा में प्रभावशाली होता है। आमातिसार, संग्रहणी, विसूचिका उदरशूल, विबन्ध युक्त उदरशूल एवं सर्वांगशोथ आदि में इसका उपयोग किया जाता है। फिरङ्ग तथा उपदंश में इसके बीजों का प्रयोग विरेचन के लिये किया जाता है। कुष्ठ, दाद, विसर्प, श्वित्र एवं अन्यान्य पीडा एवं दाहयुक्त चर्मविकारों में इसका तैल लगाया जाता है जिससे शान्ति मिलती है।

(२) इसके बीज वामक तथा उत्क्लेशकारक होने के कारण इनका उपयोग गले के विकार, फुफ्फुस विकार, कास, कुकास एवं तमकश्वास आदि में लाभदायक होता है। इसमें कोई उद्वेष्टन निरोधि गुण नहीं है जो तमकश्वास में लाभदायक होता हो। ये रेचक तथा वेदनास्थापक भी होते हैं। दांतों में गड्ढे होकर पीड़ा होती हो तो इनके धूम्रपान से लाभ होता है।

(३) इस पौधे में जो पीले रंग का दूध होता है वह रसायन, कुष्ठघ्न, मूत्रजनन, व्रणशोधक तथा रोपक, शोथप्रतिकारक, ज्वरहर एवं नेत्र के लिये हितकारक होता है। फिरंग, उपदंश एवं सोजाक आदि में 'किडमार' (Aristolochia bracteata Retz) के रस के साथ इसको पिलाते हैं। मलेरिया आदि जीर्ण विषमज्वरों में नींबू के रस में इसे घोंट कर पिलाते हैं। सोजाक में इसको घी के साथ देने से भी लाभ होता है। जलोदर एवं कामला आदि में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

नेत्राभिष्यन्द में पलकों पर इसको लगाते हैं तथा नेत्रशुक्र, अधिमांस एवं दृष्टिमांद्य आदि में घी के साथ १ बूंद इसे आंखों में डालते हैं। इससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती। सर्वदा के प्रयोग के लिये इसको सुखाकर रख सकते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर घी या दूध में घिसकर उपयोग में ला सकते हैं।

पुराने व्रण, फिरंगादि से उत्पन्न व्रण एवं खुजली (Scabies) आदि में इसको लगाने से लाभ होता है।

(४) इसका मूल रसायन, कृमिघ्न तथा कुष्ठघ्न है। फिरंग, उपदंश, सोजाक, अश्मरी तथा अन्य चर्मरोगों में इसका क्वाथ दिया जाता है एवं इसका लेप भी करते हैं। स्फीत कृमि (Tape-worm) के लिये इसके चूर्ण को ४ माशा की मात्रा में खिलाते हैं। बिच्छू काटने पर इसकी ताजी जड़ को घिस कर लगाते हैं।

(५) कुष्ठ (Leprosy) में इसके स्वरस को १ तोले की मात्रा में ४० दिन तक रोज सबेरे दूध के साथ पिलाने से लाभ होता है। यह रसायन एवं बलवर्धक है तथा फिरंगादि में भी यह लाभदायक होता है।

(६) सरसों में इसके बीजों की मिलावट करके तेल निकालते हैं। ऐसा मिलावटी तेल बहुत हानिकार होता है तथा इससे बेरीबेरी (Beri beri) एवं एपिडेमिक् ड्राप्सी (Epidemic dropsy) नामक रोग होते हैं जिसमें पैरों में सूजन, हृदय की दुर्बलता, पचनसंस्थान के विकार एवं वात नाडी शोथ आदि होते हैं।

परीक्षा—सरसों के तेल में इसकी मिलावट है या नहीं इसकी निम्न परीक्षाएँ की जाती हैं।

(क) सरसों के तेल के बराबर शोरे का तेजाब (Nitric acid-नाइट्रिक् एसिड) मिलाकर हिलाने से मिलावट न होने पर धूसर लाल (Brownish red) या नारंग (Orange) रंग उत्पन्न नहीं होता।

(ख) ३ मि. लि. सरसों का तेल, १ मि. लि. ग्लेशियल् ॲसेटिक् ॲसिड Glacial acetic acid) तथा क्यूप्रिक् ॲसिटेट (Cupric acetate) के जलीय ३% घोल का ३ मि. लि. धीरे २ हिलावें। फिर जलयुक्त पात्र में इसके पात्र को रख कर १५ मिनट गरम करके फिर अच्छी तरह हिला कर रख दें। मिलावट न होने पर अवक्षेप नहीं होता तथा इसके जलीय भाग में नीले रंग से हरे रंग में कोई परिवर्तन नहीं होता।

मात्रा—बीज तैल १० बूँद; बीज ½ तो०; पीतवर्ण का दुग्ध १–२ माशा; मूल २–४ माशा।

अथ कर्कटश्रृङ्गी (काकड़ासिंगी) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

श्रृङ्गी कर्कटश्रृङ्गी च स्यात्कुलीरविषाणिका। अजश्रृङ्गी च चक्रा च कर्कटाख्या च कीर्तिता॥
श्रृङ्गी कषाया तिक्तोष्णा कफवातक्षयज्वरान्। श्वासोर्ध्ववाततृट्कासहिक्काऽरुचिवमीन्हरेत्॥

काकरासिङ्गी के नाम तथा गुण —श्रृङ्गी, कर्कटश्रृङ्गी, कुलीरविषाणिका, अजश्रृङ्गी, चक्रा और कर्कटाख्या ये सब काकड़ासिङ्गी के नाम हैं। काकरासिङ्गी-कषाय तथा तिक्तरस युक्त एवं उष्णवीर्य होती है। और यह कफ, वात, क्षय, ज्वर, श्वास, ऊर्ध्ववात, प्यास, कास, हिचकी, अरुचि तथा वमन को दूर करने वाली होती है॥ १७८–१७९॥

५९ कर्कटश्रृङ्गी (ककड़ासिंगी)

हि०—ककड़ासिंगी, काकड़ासिंगी, काकरासिंगी (धी', ककड़ाव। **बं०**—कांकराश्रृङ्गी। **म०**—काकड़शिंगी। **क०**—कर्कटिश्रृङ्गी, दुष्टपुचत्तु। **ने०**—काकर सिंगी। **ता०**—कात्कट शिंगी। **मा०**—काकड़ाशिंगी। **पं०**—ककर, सुमाक। **गु०**—काकड़ा सींगी। **काश्मी०**—कक्कर। **ले०**—*Pistacia integerrima, Stew. ex Brandis* (पिस्टॅसिया इंटिजिरिमा)। Fam. Anacardiaceae (ॲनॅकार्डिएसी)।

इसके वृक्ष उत्तर पश्चिमी हिमालय के बाहरी कतारों पर १५००–८००० फीट की ऊँचाई तक तथा पंजाब, सीमाप्रान्त आदि स्थानों पर पाये जाते हैं।

इसके वृक्ष मध्यमाकार के होते हैं। **छाल**-सफेद रंग की। **पत्र**-युग्म अथवा अयुग्मपक्षाकार तथा ६–९ इञ्च लम्बे। **पत्रक**-४–६ जोड़े, किञ्चित सनाल, मालाकार, लम्बे नोक तथा सरल धार

१. 'वक्ते'ति पाठान्तर प्रामादिकम्।

वाले और चिकने। कोपलें (नवीन पत्र) लाल रंग की। **पुष्प**-स्त्रीपुष्प और पुंपुष्प अलग २ वृक्षों पर तथा सवृन्त काण्डज पुष्पसमूहों में एवं बाह्य कोषों (पंखुडियों) से हीन। **अष्ठिफल** (Drupe) शुष्क, चिकने, झुर्रीदार, गोल, बहुत छोटे, एवं पकने पर धूसर वर्ण के हो जाते हैं।

इस वृक्ष की पत्तियों, पर्णवृन्तों तथा टहनियों पर एक प्रकार की लम्बी २ श्रृंगवत् रचना लगी रहती है जिन्हें कृमिगृह (Galls-गॉलस) कहते हैं। ये एक प्रकार के कीड़ों, जिन्हें एफिस (Aphis) कहा जाता है द्वारा निर्मित होते हैं। इन कृमिगृहों को ही काकरासिंगी कहते हैं। ये विभिन्न नाप के ३–९ इञ्च लम्बे, पोले, एवं कड़े होते हैं। इनका बाह्य पृष्ठ हलका हरिताभ बादामी रंग का, पतला तथा झालरदार (Fimbriated) दिखलाई देता है। इसको तोड़ने पर अन्दर का पृष्ठ रक्ताभ दिखलाई देता है जो महीन रजः कणों से ढका रहता है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखने से यह सिद्ध हुआ है कि ये कण उन कीड़ों के मृतदेह तथा उनके मल हैं। काकरासिंगी का चूर्ण स्वाद में अत्यन्त कसैला तथा कुछ कड़वा होता है तथा इसमें तारपीन के तेल की तरह गन्ध आती है।

तिंतिडीक जाति (Rhus) के वृक्षों में भी कृमिगृह बनते हैं परन्तु वे काकरासिंगी से भिन्न हैं। कुछ लोगों ने भ्रम से कर्कट वृक्ष का नाम हस् सक्सिडेनिया (Rhus succedanea Linn.) दे दिया है जो उचित नहीं है।

प्राचीन ग्रन्थों में इसके कीड़ों से उत्पन्न होने के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता लेकिन कास आदि के लिये इसका बहुत प्रयोग किया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक हलके हरिताभ पीतवर्ण का एवं तारपीन के तेल की तरह गन्धवाला उड़नशील तैल १·३%, रवेदार हाइड्रोकार्बन (Hydrocarbon) ३·४%, टॅनिन ६०%, गम मॅस्टिक (Gum mastic) ५%, एक रालीय पदार्थ तथा दो अन्य रवेदार अम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह बल्य, कफनिःसारक, उष्ण एवं ग्राही है। इसमें के उड़नशील तैल के कारण इससे तमकश्वास कास, श्वासनलिका शोथ एवं राजयक्ष्मा आदि में अच्छा लाभ होता है। इससे श्लैष्मिककला को बल मिलकर कफ बाहर निकलने लगता है एवं नया कफ बनने नहीं पाता। इसमें टॅनिन बहुत होने के कारण इसका अतिसारादि में भी अन्य औषध के साथ उपयोग किया जाता है। आमाशय के प्रकोप से उत्पन्न वमन, हिक्का, जीर्ण अतिसार, आमातिसार तथा उपजिह्विका की वृद्धि से उत्पन्न खांसी आदि में इसको देने से अच्छा लाभ होता है। बच्चों के लिये यह विशेष लाभदायक है। वयस्कों के लिये इसकी साधारण मात्रा १० र० की है।

(१) इसके चूर्ण को घृत में भूनकर उसमें मिश्री मिलाकर संग्रहणी (Dysentery) में देने से बहुत लाभ होता है।

(२) बच्चों में दन्तोद्भव के समय जब खांसी, ज्वर, अतिसार एवं पाचन के विकार आदि होते हैं, तब काकरासिंगी, अतीस एवं छोटी पीपल समान मात्रा में लेकर उसके चूर्ण को ½–२ र० की मात्रा में मधु के साथ चटाने से बहुत लाभ होता है। इस चूर्ण में नागरमोथा भी कुछ लोग मिलाते हैं। बच्चों के श्वास में मूली के फल एवं इसके चूर्ण को मधु तथा घृत के साथ चटाने से लाभ होता है।

(३) शुष्क कास तथा अन्य श्वसन संस्थान के विकारों में काकरासिंगी, भारङ्गीमूल, सोंठ, छोटी पीपल, कचूर तथा मुनक्का इन का चूर्ण १५ र० की मात्रा में मधु के साथ देना चाहिये।

(४) कफज छर्दि में नागरमोथा एवं इसका चूर्ण मधु के साथ चटाने से लाभ होता है।

(५) इसका बाह्य लेप सोरियॅसिस् (Psoriasis) नामक जीर्ण चर्मरोग में किया जाता है तथा मसूड़ों आदि से खून जाता हो तो इसके क्वाथ से गण्डूष कराया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ½-२ मा०।

अथ कट्फलस्य (कायफल) नामानि गुणांश्चाह

कट्फलः सोमवल्कश्च कैटर्य्यः कुम्भिकाऽपि च। श्रीपर्णिका कुमुदिका भद्रा भद्रवतीति च॥ कट्फलस्तुवरस्तिक्तः कटुर्वातकफज्वरान्। हन्ति श्वासप्रमेहार्शः कासकण्ठामयारुचीः॥१८१॥

कायफल के नाम तथा गुण—कटफल, सोमवल्क, कैटर्य, कुम्भिका, श्रीपर्णिका, कुमुदिका, भद्रा और भद्रवती ये सब कायफल के नाम हैं। कायफल—कषाय, तिक्त तथा कटु रसयुक्त होता है तथा वात, कफ, ज्वर, श्वास, प्रमेह, बवासीर, कास, कण्ठसम्बन्धी रोग तथा अरुचि को दूर करता है॥ १८०-१८१॥

६० कट्फल (कायफल)

हि०-कायफर, कायफल, काफल। **बं०**-कायछाल, कायफल, कट्फल। **क०**-किरिशिवनि। **तै०**-कैदर्यमु। **म०-मा०-गु०-पं०**-कायफल। **खासिया०**-डिंगसोलिर। **ता०**-मरुदम्पतै। **फा०**-दारशीशान्। **अ०**-उदुल्बर्क, अजूरी। **अं०**-Box Myrtle; Bay-berry (बाक्स मिर्टल्; बे-बेरी)। **ले०**-*Myrica nagi, Thumb.*; (मायरिका नेगी) Fam. Myricaceae (मायरिकेसी)।

यह हिमालय के साधारण उष्ण प्रदेशों में रावी से पूरब की ओर, खासिया पहाड़, सिलहट तक, ३-६ हजार फीट के बीच पाया जाता है और सिंगापुर में भी इसके वृक्ष देखने में आते हैं। चीन तथा जापान में इसकी बहुत उपज की जाती है।

इसके मध्यम ऊंचाई के सदाहरित **वृक्ष** होते हैं। **छाल** बादामी धूसर अथवा कृष्णाभ, भारी, सुगन्धित, करीब ½ इञ्च मोटी और खुरदरी होती है। **काष्ठ**-½ इञ्च से १ इञ्च मोटा, बिना रेशे का और रक्ताभ बादामी होता है। पत्रनाल, मञ्जरी तथा नवीन शाखाओं पर बादामी रोमावरण होता है। **पत्ते**-४ से ८ इञ्च लम्बे तथा १½-२ इञ्च चौड़े, ऊपर से भालाकार अथवा कुछ २ आयताकार भी और उनके अधः पृष्ठ प्रायः मुरचई रंग के होते हैं। **फूल**-लाल। **फल** ½ इञ्च लम्बे, अण्डाकार, कुछ चिपटे, पृष्ठ पर दानेदार और पकने पर रक्ताभ या पीताभ बादामी होते हैं। फलों में मोम की तरह एक तेल होता है। ये फल स्वाद में कुछ खट्टे होते हैं। इन्हें सिलहट में 'सोफी' कहते हैं जिन्हें लोग खाते हैं।

यद्यपि इस वृक्ष का नाम कायफल है तब भी **औषधार्थ इसकी छाल का ही प्रयोग 'कायफल' नाम से किया जाता है।** इस छाल को सूंघने से छींक आती है तथा इसे जल में डालने पर जल लाल हो जाता है। आधुनिक विद्वान् इसके फल का भी औषधार्थ प्रयोग बतलाते हैं।

भ्रमवश कितने वैद्य जंगली जायफल, **ले०**-मायरिस्टिका मलबारिका (Myristica malabarica Lam.) के वृक्ष को कायफल का वृक्ष बतलाते हैं। जंगली जायफल के फल के ऊपर जावित्री के समान जो छिलका होता है उसको रामपत्री कहते हैं। कायफल के फल का छिलका न जावित्री के समान होता है और न रामपत्री कहलाता है। कुछ लोगों ने इस वृक्ष को कुम्भी वृक्ष, **ले०**-कॅरेया आर्बोरिया (Careya arborea Roxb.) माना है जो गलत है।

रासायनिक संगठन—इसमें कुछ टॅनिन, शर्करा सम द्रव्य तथा कुछ लवण रहते हैं। इसके चूर्ण में एक मायरिसेटिन (Myricetin) नामक रञ्जक पदार्थ प्राप्त होता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, ग्राही, स्वेदजनक, कफघ्न, वातहर, शोथघ्न, शिरोविरेचक, उत्तेजक तथा गर्भाशयसंकोचक है। अधिक मात्रा में लेने से इससे वमन होता है तथा थकावट मालूम होती है।

इसका प्रयोग घरेलू औषध के रूप में अनेक रोगों में किया जाता है।

(१) सोंठ एवं दालचीनी के साथ इसका क्वाथ प्रतिश्याय, गले की सूजन, मुखपाक, स्वरभंग, तमकश्वास, जीर्ण श्वासनलिका शोथ, कास तथा अग्निमांद्य, अरुचि, आध्मान, कुपचन, आमातिसार, रक्तातिसार, मूत्रातिसार, गण्डमाला एवं गृध्रसी आदि में दिया जाता है।

(२) अर्श में कत्था, हींग एवं कर्पूर के साथ या घृत के साथ इसका लेप लाभदायक है तथा इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है।

(३) केशर, काले तिल तथा सनई के बीजों को इसके साथ पूर्ण मात्रा में गुड के साथ देते हैं जिससे कष्टार्तव में अच्छा लाभ होता है। इसके देने के कुछ देर बाद भोजन देना चाहिये नहीं तो जी मिचलाने लगता है। इसके चूर्ण का पिचु भी योनि में धारण कराया जाता है।

(४) प्रतिश्याय, चक्कर, शिरःशूल एवं अपस्मार आदि में इसके नस्य से लाभ होता है।

(५) इसके क्वाथ से व्रण प्रक्षालन किया जाता है तथा इसका चूर्ण व्रणों पर डाला जाता है। इसको घिसकर सूजन, चोट एवं मोच आदि पर लगाने से लाभ होता है।

(६) इसका तैल व्रणों के लिये लाभदायक है तथा संधिशूल में इसे लगाते हैं।

(७) सिरके में इसे घिसकर मसूढ़ों पर रगड़ने से दंतशूल दूर होता है तथा मसूढ़े मजबूत होते हैं।

(८) इससे सिद्ध तैल का प्रयोग कर्णशूल में कर्णबिन्दु के रूप में किया जाता है।

(९) हैजे में हाथ पैर ठंडे हो जाने पर इसके चूर्ण को सोंठ के साथ मिलाकर हाथ पैरों पर मलते हैं।

(१०) इसके फलों को उबालने से एक मोम के सदृश पदार्थ निकलता है जिसका व्रणपूरण के लिये प्रयोग करते हैं।

मात्रा—चूर्ण १०-३० र० आर्द्रक रस एवं मधु के साथ। बच्चों को १-२ र०।

अथ भार्गी (भारङ्गी) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

भार्गी भृगुभवा पद्मा फञ्जी ब्राह्मणयष्टिका। ब्राह्मण्यङ्गारवल्ली च खरशाकश्च हञ्जिका॥१८२॥ भार्गी रूक्षा कटुस्तिक्ता रुच्योष्णा पाचनी लघुः। दीपनी तुवरा गुल्मरक्तनुन्नाशयेद् ध्रुवम्॥ शोथकासकफश्वासपीनसज्वरमारुतान्॥ १८३॥

भारङ्गी (बभनेटी) के नाम तथा गुण—भार्गी, भृगुभवा, पद्मा, फञ्जी, ब्राह्मणयष्टिका, ब्राह्मणी, अङ्गारवल्ली, खरशाक और हञ्जिका ये सब नाम भारङ्गी के हैं। **भारङ्गी**–रूक्ष, कटु, कषाय तथा तिक्तरसयुक्त रुचिजनक, उष्णवीर्य, पाचक, लघु तथा अग्निदीपक होती है। एवं-गुल्म, रक्तदोष, शोथ, कास, कफ, श्वास, पीनस, ज्वर और वायु को नष्ट करती है॥ १८२-१८३॥

६१ भार्गी (भारङ्गी)

भारङ्गी के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं तथा इस नाम से ४ वनस्पतियों की छाल ली जाती है। बङ्गाल में कशिया नामक डाक्टरी ओषधि का प्रतिनिधि 'ख' का व्यवहार भारङ्गी नाम से होता है। श्रीमान् ठा० बलवन्तसिंहजी अपनी 'वनौषधि दर्शिका' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि भारङ्गी नाम से बाजार में बिकनेवाली छाल क्लेरोडेंड्रान (Clerodendron) की नहीं मालूम होती जिसे अधिकांश लोगों ने भारङ्गी माना है तथा यह संभवतः 'ख' की ही छाल हो। डा० देसाई 'क' को ही शास्त्रीय भारङ्गी मानते हैं तथा अन्य अधिकांश विद्वानों ने भी इसे ही भारङ्गी माना है। अन्य दो 'ग' तथा 'घ' वनस्पतियों का भी कहीं २ व्यवहार होता है। इन चारों वनस्पतियों का अलग २ वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

प्राचीन समय में इसका आन्तरिक प्रयोग श्वास, कास आदि में किया गया है तथा सुश्रुत (उ० अ० ६१) में अपस्मार के लिये एक विशेष प्रकार से निर्मित सुरा का प्रयोग बतलाया गया है। इसका बाह्य प्रयोग गण्डमाला, कुरंड (वृद्धि) तथा शस्त्रक्षत में किया गया है।

(क) Clerodendron serratum, Spreng. (क्लेरोडेन्ड्रोन् सेर्रटम्, स्प्रेंग)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनॅसी)। **हि०**–भारङ्गी, भारिङ्गी, ब्रह्मयष्टि, बभनेटी। **बं०**–वामन हाटी, भुइजाम। **म०**–भारङ्ग। **गु०**–भारङ्गी। **क०**–गंडुभारङ्गी। **ते०**–नालनिरेदु। **ने०**–चूया। **पं०**–भाड़ङ्गी। **मा०**–माराङ्गमूल। **ता०**–चेरूटेकु। **जौनसार०**–वनबाकरी। **फा०**–हजिका।

यह हिमालय में सतलज से खासिया पहाड़ और आसाम तक तथा ब्रह्मा, नीलगिरी, पश्चिम-घाट थाना, रत्नागिरी और सिलोन में पाई जाती है। इसके पौधे ३ से ५ हजार फीट की ऊँचाई तक प्रायः पर्वतों के घासवाले ढालों पर होते हैं।

भारङ्गी क्षुप जाति की वनौषधि ४-८ फीट तक ऊँची होती है। **शाखाएँ**–इसके काष्ठमय मूलस्तम्भ से प्रतिवर्ष शाखाएँ निकलती हैं। प्रत्येक गांठ पर तीन-तीन पत्ते रहते हैं जो ४ से ८ इञ्च लम्बे, १½–२½ इञ्च चौड़े, आयताकार, अंडाकार-आयताकार या भालाकार, तीक्ष्ण दन्तुर तथा शिराओं के ५ जोड़ों से युक्त होते हैं। **फूल**–सफेद या कुछ नीले रङ्ग के आते हैं। **फल**–चौथाई इञ्च लम्बे, गोल, काले, पकने पर जामुनी रङ्ग के हो जाते हैं। इस क्षुप की छाल या जड़ का व्यवहार किया जाता है।

अधिकांश विद्वान् इसको ही शास्त्रीय भारङ्गी मानते हैं लेकिन श्रीमान् ठा० बलवन्तसिंहजी लिखते हैं कि इस नाम से जो छाल बाजारों में बिकती है वह इस वनस्पति की न होकर सम्भवतः निम्न वर्णित 'ख' की छाल हो। क्योंकि बाजार की छाल मोटी होती है जो इस छोटे से क्षुप की नहीं हो सकती।

रासायनिक संगठन—इसमें एक नारङ्गी रंग का रालीय पदार्थ, स्टार्च तथा अन्य तिक्त पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कफघ्न, श्वासहर, वातघ्न, दीपन, पाचन तथा शोथघ्न है। इसका प्रयोग श्वास, कास, प्रतिश्याय, यक्ष्मज कास, फुफ्फुस विकार, वातकफज्वर तथा आमवात में किया जाता है। इसमें ज्वरघ्न तथा कफघ्न गुण अल्प मात्रा में होने के कारण ज्वर में इसके साथ अन्य ज्वरहर औषधियां देनी पड़ती हैं तथा कफज व्याधियों में काकड़ासिंगी या कायफल इसके साथ दिया जाता है। प्रतिश्याय एवं कफयुक्त श्वास आदि में इसके साथ सोंठ या घोड़वच देते हैं।

इसके पत्तों का पोल्टिस बनाकर फोड़ों के ऊपर लगाते हैं। उपदंशजन्य सन्धिवात में इसका गोंद लाभदायक है। इसके पत्तों तथा कोमल डालियों का रस परिसर्प (हरपीज) एवं पेंफीगस् नामक विस्फोटों पर लगाया जाता है। रत्नागिरी में इसके पत्तों का शाक मलेरिया में खाते हैं। इसके बीजों का चूर्ण घी में भूनकर शोथ में रसायन के रूप में खाते हैं।

मात्रा—चूर्ण १½–३ मा०।

(ख) Picrasma quassioides, Ben. (पिक्रॅस्मा क्वॅसिओइडिस्, बेन)। Fam. Simarubaceae (सिमॅरूबॅसी)। **हि०**–भारङ्गे, करूई-तिथाई। **बं०**–भुरुंगी। **म०**–कशशिंग। **पं०**–तिथु, बेरिङ्ग, पुथोरिन। **ने०**–शामबारिंगी। **अं०**–Quassia (क्वॅसिया)।

यह हिमालय के बाहरी भाग में चेनाब से लेकर पूर्व की ओर ३०००–८००० फीट की ऊँचाई पर तथा चम्बा, कुलू, बशहर, उत्तरी गढ़वाल में ६०००–८००० फीट की ऊँचाई पर एवं नेपाल, भूटान तथा आसाम में खासी एवं नागा पहाड़ियों पर ३०००–८००० फीट की ऊँचाई पर पायी जाती है।

इसकी बड़ी-बड़ी झाड़ी या छोटे वृक्ष होते हैं जिनमें थोड़ी परन्तु मजबूत शाखायें होती हैं जिनपर प्रायः सफेद दाग होते हैं। **पत्र**–अयुग्म पक्षाकार, ९–१५ इञ्च लम्बे, अरलु वृक्ष के पत्तों के समान तथा रक्तरोमश मालूम होते हैं। **पत्रक**–९–१५, अभिलट्वाकार, आरावत तथा उनका अग्र लम्बा होता है एवं सबसे नीचे के पत्रक बहुत छोटे तथा उपपत्रों के समान होते हैं। **पुष्प**–हलके हरे रङ्ग के, पार्श्विक तथा सवृन्त-काण्डज पुष्पव्यूहों में। **अष्ठिफल**–बहुत छोटे, पकने पर काले रंग के तथा प्रत्येक फल में एक बीज होता है।

इस क्षुप के टुकड़ों या छाल का व्यवहार बंगाल में भारंगा नाम से किया जाता है। यह पीताभ श्वेत या चमकीले पीले रंग के, हलके, लचीले लेकिन आसानी से टूटने वाले, गन्धहीन तथा स्वाद में अत्यन्त कड़वे होते हैं। यह डाक्टरी की काशिया नामक वनस्पति का अच्छा प्रतिनिधि है।

रासायनिक संगठन—इसमें पिक्रॅस्मिन् (Picrasmin) से ठीक मिलता जुलता एक क्षाराभ ०·०५%, एक कासीन् (Quassin) नामक कडवा पदार्थ तथा एक अन्य प्रभायुक्त एवं क्लोरोफार्म में घुलनशील कडवा पदार्थ ०·१५% पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह एक अत्यन्त कटु द्रव्य है। इसका प्रयोग आमाशय के दौर्बल्य से उत्पन्न अग्निमान्द्य में लाभदायक होता है लेकिन अधिक मात्रा में लेने से इससे प्रक्षोभ होकर वमन होता है। इसमें अन्य कडवे द्रव्यों की तरह टॅनिन् न होने के कारण इसको लोह के साथ प्रयोग कर सकते हैं। इसको फांट या हिम के रूप में अधिकतर व्यवहार करते हैं।

पंजाब में ज्वर एवं कृमियों के लिये इसकी छाल तथा पत्तों का व्यवहार किया जाता है। सूत्रकृमि (Thread-worm) के लिये इसके फांट (१ में १०) की बस्ति दी जाती है। इसके पत्तों को पीसकर खुजली आदि में लगाते हैं। इसके सत्वों का उपयोग बागवानी में जन्तुओं का नाश करने के लिये किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण १–४ रत्ती। हिम ½–१ औंस।

(ग) Premna herbacea, Roxb. (प्रेम्ना हर्बेसिया रॉक्स्ब.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनॅसी)। **हि०**–भारंगी। **बं०**–भुइजाम। **क०**–नयित याग। **ता०**–शिरूकेट। **ने०**–चूअ। **कों०**–निर्विश। **लेप०**–ई।

इसकी छोटी झाड़ी हिमालय तथा दक्षिण में कोंकण के पहाड़ी भागों में बरसात के दिनों में होती है। इसका वायवीय भाग मुलायम एवं शाखकीय होने से यह ऊँचा नहीं होता तथा पत्तियाँ जमीन पर फैली रहती हैं। **पत्ते**-४ इंच तक लंबे, २ से ३ इंच चौड़े, विनाल, अभिलट्वाकार, शिराओं पर मृदुरोमश एवं शिराएँ ५ युग्म होती हैं। **पुष्प**-छोटे, श्वेत, एवं १½ इञ्च व्यास के समस्थ काण्डज गुच्छ में आते हैं। **फल**-½ इञ्च एवं गोल होता है। **मूल**-जमीन के नीचे, लंबे परंतु थोड़ी थोड़ी दूर पर गांठदार होते हैं। ये गन्धहीन एवं स्वाद में कड़वे होते हैं तथा इनका चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूलत्वक् में एक नारङ्गी बादामी रङ्ग की अम्ल राल तथा अत्यल्प मात्रा में एक क्षाराभ तथा कुछ स्टार्च रहता है। इसमें टॅनिन् नहीं होता।

गुण और प्रयोग—भारङ्गी नाम से यद्यपि कोंकण की तरफ इसका व्यवहार होता है तब भी इसमें भारङ्गी के गुण नहीं हैं। डा० देसाई लिखते हैं कि इसका उपयोग करके देखा गया लेकिन इसमें भारङ्गी के गुण नहीं मालूम पड़े। प्रतिश्याय आदि में इसका उपयोग करते हैं। तमकश्वास में इसका कल्क सोंठ तथा उष्ण जल के साथ या भारङ्गी मूल को आर्द्रक स्वरस या उष्ण जल के साथ देते हैं। शिरःशूल में इसकी जड़ उष्ण जल में घिसकर सर में लगाई जाती है। कानों में व्रण होने पर इसको मधु में घिसकर कान में डालते हैं। गठिया में इसका उपयोग करते हैं। इसे बिहार में गठिया, गेंठिया कहते भी हैं। इसके बीजों को मट्ठे में उबाल कर उदर रोग में शौच साफ होने के लिये प्रयुक्त करते हैं।

(घ) Clerodendrum siphonanthus. (R. Br.) C. B. Clarke (क्लेरोडेन्ड्रम् सिफोनेन्थस्)। Fam. Verbenaceae (व्हर्बिनेसी)। **हि०**-चिनगारी, भारंगी। **सं०**-ब्रह्मयष्टिका। **बं०**-बामनहाटी। **पं०**-अरनि।

इसके क्षुप हिमालय में तथा दक्षिण के पर्वतीय भागों में मिलते हैं। यह ४-६ फीट ऊँचा होता है। **कांड**-१ इञ्च तक मोटा, नालीदार तथा भीतर से पोला होता है। **पत्ते**-प्रति चक्र में ३-५ की संख्या में तथा ६ से ९ इञ्च लम्बे, १ से १॥ इञ्च चौड़े, पतले भालाकार, विनाल तथा कड़े होते हैं। **पुष्प**-९-१८ इञ्च लम्बी डंडी पर सफेद रंग के कुछ रक्तिमा लिये हुये होते हैं। पुष्पकोश की नली ३-४ इञ्च लम्बी होती है। **फल**-गोलाकार, ½ इञ्च लम्बे एवं जामुनी रंग के होते हैं तथा बाह्यपुट गहरे लाल रंग का एवं बढ़ा हुआ होता है। **बीज**-१ से ४ तक जुड़े हुए होते हैं। **मूलका स्वाद**-कड़वा तथा कषाय होता है तथा औषधि कार्य में इसी का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसका मुख्य सत्व एक क्षाराभ होता है।

गुण और प्रयोग—इसके पोले कांड के टुकड़े बंगाल में तागे में पिरोकर कई रोगों से बचने के लिये पहने जाते हैं। इसका मूल खांसी तथा तमक श्वास में दिया जाता है। राजयक्ष्मा में इसके मूल का कल्क तथा सोंठ को उष्ण जल के साथ खिलाते हैं। इसके पत्तों का रस घी के साथ मिलाकर परिसर्प में लगाया जाता है। मांसक्षय वाले बच्चों को इससे सिद्ध तैल की मालिश की जाती है।

अथ पाषाणभेदः, तस्य नामानि गुणांश्चाह

पाषाणभेदकोऽश्मघ्नो गिरिभिद्भिन्नयोजिनी। अश्मभेदो हिमस्तिक्तः कषायो बस्तिशोधनः॥
भेदनो हन्ति दोषार्शोगुल्मकृच्छ्राश्महृद्रुजः। योनिरोगान्प्रमेहांश्च प्लीहशूलव्रणानि च॥

पाषाणभेद के नाम तथा गुण—पाषाणभेदक, अश्मघ्न, गिरिभिद् और भिन्नयोजिनी ये सब पाषाणभेद के नाम हैं। **पाषाणभेद**-शीतल तथा तिक्त और कषायरस युक्त, बस्ति (मूत्राशय) का शोधन करने वाला और भेदक होता है। और वातादिक दोष, बवासीर, गुल्म, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, हृद्रोग, योनिरोग, प्रमेह, प्लीहा, शूल तथा व्रण को दूर करता है॥ १८४-१८५॥

६२ पाषाणभेद

पाषाणभेद एक संदिग्ध वस्तु है। इसके स्थान पर अनेक वनस्पतियाँ ली जाती हैं तथा विभिन्न विद्वान् भिन्न-भिन्न वनस्पतियों को पाषाणभेद मानते हैं। राजनिघण्टु में पाषाणभेदक, वटपत्री, शिलावल्का तथा चतुष्पत्री ये पाषाणभेद के चार भेद वर्णित हैं। निम्नलिखित वनस्पतियों को भिन्न-भिन्न आधुनिक विद्वान् पाषाणभेद मानते हैं।

१. Saxifraga ligulata, Wall. (सॅक्सिफ्रेगा लिग्युलेटा, वॉल,)।
   Fam. Saxifragaceae (सॅक्सिफ्रॅगासी)।
२. Aerva lanata, Juss. (एरूवा लॅनेटा, जस.)।
   Fam. Amaranthaceae (ॲमरेन्थेसी)।
३. Kalanchoe pinnata Pers. (कॅलॅन्चो पिन्नॅटा पर्स.)।
   Fam. Crassulaceae (क्रॅसुलॅसी)।
४. Coleus aromaticus, Benth. (कोलिअस् ॲरोमेटिकस्, बेन्थ.)।
   Fam. Labiatae (लेबियेटी)।
५. Homonoia riparia, Lour. (होमोनोइया राइपेरिया, लोर)।
   Fam. Euphorbiaceae (यूफोर्बियेसी)।
६. Rotula aquatica Lour. (रोटूला अॅक्वेटिका लोर.)।
   Fam Boraginaceae (बोरॅजिनेसी)।
७. Ocimum basilicum Linn. (ओसिमम् बॅसिलिकम् लिन.)।
   Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

इन वनस्पतियों के अतिरिक्त कुछ लोगों ने एक खनिज पाषाणभेद भी लिखा है लेकिन उसका विशेष वर्णन नहीं मिलता है। उपर्युक्त वनस्पतियों में से अधिकांश मूत्रल अवश्य हैं लेकिन प्रथम वनस्पति सॅक्सिफ्रेगा लिग्युलेटा का ही ग्रहण पाषाणभेद नाम से उचित है। उपर्युक्त वनस्पतियों का अलग-अलग वर्णन आगे दिया जा रहा है। ओसिमम् बॅसिलिकम् का वर्णन आगे तुलसी के साथ दिया जावेगा।

(१) Saxifraga ligulata, Wall. (सॅक्सिफ्रेगा लिग्युलेटा, वाल.)।
Fam. Saxifragaceae (सॅक्सिफ्रॅगासी)।

सं०-पाषाणभेद, वटपत्री भेद। **हि०**-पखानभेद, सिलफड़ा, पोपल, वनपत्रक, दकचु। **म०**-पाषाणभेद। **पं०**-शफ्रोकी। **ने०**-सोहपे सोआ। **का०**-बथेव। **रावी**-सप्रोत्री। **खासिया**-अतिम। **चिनाब**-वलपिआ। **कुमाऊँ**-शिलफोड़ा।

इसके पौधे काश्मीर, नेपाल तथा हिमालय के मध्य भाग में प्रायः ५००० फीट के ऊपर पर्वतों की ढालों पर पत्थरों की दरारों में बहुतायत से निकलते रहते हैं।

यह क्षुप जाति की वनस्पति बारहो मास पायी जाती है। **मूलस्तम्भ**-रक्ताभ (भीतर सफेद) और लगभग एक इञ्च मोटा होता है। इससे पतले उपमूल निकलकर पत्थरों के बीच में फैले रहते

हैं। **पत्र**–मांसल, चिकने, कुछ-कुछ गोलाई लिये, प्रायः ३–५ इञ्च व्यास में, किनारे पर सूक्ष्म सघन शूकों से युक्त (Ciliate = सीलियेट) तथा निचले पृष्ठ पर प्रायः गुलाबी रंग के होते हैं। एक स्थान में प्रायः ३ या ४ पत्तियों से अधिक नहीं निकलतीं। **फूल**–छोटे, सफ़ेद, गुलाबी या जामुनी रंग के आते हैं। **फल**–नीलाभ श्वेत तथा छोटे होते हैं।

इनके **मोटे मूल के टुकड़े** बाजार में बिकते हैं। ये टुकड़े करीब १–२ इञ्च लम्बे, ½–१ इञ्च मोटे, कपिशवर्ण के, कड़े एवं इनकी छाल खुरदरी तथा झुर्रीदार होती है। इन पर टूटे हुवे उपमूलों के निशान एवं गोल गढ़े रहते हैं। इनका आन्तरिक भाग सफेद होता है। इनका स्वाद कुछ सुगन्धित एवं कसैला होता है। कुछ लोग इसे वटपत्री मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में चूना ११½%, टॅनिक् तथा गॅलिक् ॲसिड १५¾%, शर्करा ५¾%, गोंद २¼%, अॅल्ब्यूमिन् ७¾%, स्टार्च १९%, खनिजक्षार २¾% तथा कॅल्शियम् ऑक्झॅलेट् (Calcium oxalate) ११¾% होता है।

गुण और प्रयोग—इसका मूल स्नेहन, मूत्रजनन, अश्मरीघ्न, ग्राही एवं श्लेष्मघ्न है। इससे मूत्र की वृद्धि होकर उसकी अस्वच्छता दूर होती है तथा अश्मरी भी घुलकर निकल जाती है।

इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी, बस्तिरोग, आमातिसार एवं कास आदि फुफ्फुस विकारों में किया जाता है।

(१) वृक्कशूल एवं अश्मरी आदि में इससे बहुत लाभ होता है।

(२) बच्चों में इसको दूध में घिसकर देने से पेशाब की अस्वच्छता दूर होती है। दन्तोद्भेद के समय जब मुख में व्रण होते हैं तब इसको मधु के साथ घिसकर लगाते हैं।

(३) फोड़ों एवं नेत्राभिष्यन्द में इसका लेप किया जाता है।

(४) ग्राही होने के कारण आमातिसार में इससे लाभ होता है। आंत्र के लिए बल्य होने के कारण ज्वर में अतिसार होने पर इसका उपयोग किया जाता है। आन्त्रशिथिलता के कारण उत्पन्न अतिसार में भी प्रयोग किया जा सकता है।

मात्रा—चूर्ण ५–१० र०।

(२) Aerva lanata, Juss. (एरवा लॅनेटा, जस.)।
Fam. Amaranthaceae (ॲमॅरेन्थेसी)।

सं०–आदानपाकी, शतकाभेदी। **हि०**–गोरखगांजा, गोरखबूटी, कपुरीजड़ी। **बं०**–चय। **गु०**–गोरख गांजो, कपुरी मधुरी। **म०**–कपुरफुटी, कुम्रपिंडी। **पं०**–भु(बु) इकल्लान। **सिं०**–बुर। **ता०**–चिरूबूलै। **ते०**–पॅडिदोंड। **क०**–विलेसुलि। **मला०**–चिरापूल।

इसके छोटे बहुवर्षायु क्षुप सभी स्थानों में मैदानों में पाये जाते हैं। **कांड**–अनेक, लचीले लेकिन स्वावलम्बी तथा श्वेत रोमों से युक्त। **पत्र**–एकांतरित, प्रधान काण्ड पर एक इञ्च तक लम्बे, आधा इञ्च तक चौड़े तथा अन्य शाखाओं पर छोटे, दीर्घ वृत्ताकार या अर्ध अंडाकार या कुछ गोलाई लिए हुये एवं अधोतल पर श्वेतरोमयुक्त होते हैं। **पुष्प**–छोटे, हरिताभ श्वेत, गुच्छों में आते हैं। **फल**–चर्मल फल होता है जिसमें चमकीला काला बीज होता है। **मूल**–अनन्तमूल के समान और कर्पूर सदृश गन्धयुक्त।

इसके पुष्पों को उत्तर हिन्दुस्तान में **भु(बु) इकल्लान** एवं गुजरात में **बूर** कहते हैं।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, मूत्रजनन, वेदनाहर, अश्मरीघ्न, कृमिघ्न एवं कासहर है। इसकी क्रिया अपामार्ग की तरह होती है।

बस्तिस्थ अश्मरी में इसके पुष्पों का फांट देने से बहुत लाभ होता है। मूत्रकृच्छ्र में इसके मूल का क्वाथ देने से मूत्र की राशि बढ़कर लाभ होता है। तमकश्वास में इसकी सूखी पत्तियों तथा पुष्पों का धूम्रपान किया जाता है।

Kalanchoe pinnata Pers. (कॅलॅन्चो पिन्नॅटा पर्स.)। Fam. Crassulaceae (क्रासुलेसी)।

सं०–पर्णबीज। **हि०**–जखमेहयात, अहिरावण, महिरावण, पथरचूर। **बं०**–कोप्पाता। **म०**–घायमारी। **क०**–काडुसले।

इसके मांसल, बहुवर्षायु क्षुप भारतवर्ष के सभी भागों में उत्पन्न होते हैं लेकिन दक्षिणी बंगाल में अधिक पाये जाते हैं।

कांड–स्वावलम्बी, मोटा, पोला, लाल तथा ४ फीट तक ऊँचा। **पत्र**–नीचे के प्रायः साधारण किन्तु ऊपर के संयुक्त, ३–५ या कभी ७ पत्रकों से युक्त। पत्रक–गोलदन्तुर, विपरीत क्रम में, मांसल एवं लट्वाकार। **पुष्प**–बड़े, नलिकाकार, २ इञ्च लम्बे, रक्ताभ हरित तथा नीचे की ओर झुके हुये। इसके पत्तों के मूल से अंकुर प्ररोह निकलकर नया पौधा उत्पन्न हो जाता है। इसके पत्तों एवं स्वरस का औषध में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन–इसके स्वरस में कॅल्शियम् सल्फेट् (Calcium Sulphate) तथा ॲसिड टारट्रेट् ऑफ पोटॅशियम् (Acid Tartrate of Potassium) एवं बचे हुए कल्क में कॅल्शियम् ऑक्झॅलेट् (Calcium oxalate) होता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते व्रणशोधक, व्रणरोपक, रक्तस्तम्भक, ग्राही तथा प्रतिदूषक हैं। इसका उपयोग रक्तस्राव, चोट, अतिसार, अश्मरी एवं विसूचिका आदि में किया जाता है। यह रक्तवाहिनी केशिकाओं का संकोच करके रक्तस्राव रोकता है इसलिये आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के रक्तस्राव में लाभदायक है।

(१) रक्तयुक्त अतिसार में इसके पत्तों का रस ¼ से ½ तोला, जीरा तथा दुगने घी के साथ देने से खून गिरना बन्द होता है।

(२) चोट, मोच, सभी प्रकार के व्रण, फोड़े एवं कीटदंश आदि पर इसके पत्तों को जरा गरम करके कूचकर बांधने से सूजन, रक्तिमा एवं वेदना कम होकर लाभ होता है। घावों के लिये यह बहुत ही अच्छी ओषधि है। नये व्रण का इतने जल्दी व्रण पूरण होता है कि बाद में निशान तक नहीं रहता।

मात्रा—¼–½ तो०।

(३) Coleus aromaticus, Benth. (कोलिअस् ॲरोमेटिकस्, बेन्थ.) Fam. Labiatae (लॅबियेटी)।

सं०–पाषाणभेदी। **हि०**–पाथरचुर, पत्थरचूर, पाषाणभेद। **बं०**–पाथर कुची, अम्ल कुची, पातेरचूर। **म०**–पानांचा ओवा। **गो०**–ओवापान। **ता०**–कर्पूरवल्ली। **अं०**–Country borage (कन्ट्री बोरेज)।

इसका बहुवर्षायु क्षुप भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में तथा लङ्का में बगीचों आदि में रोपण किया जाता है। राजपुताना में वन्य अवस्था में भी मिलता है।

इसका क्षुप १–३ फीट ऊँचा; **कांड**–सरस; **पत्र**–मोटे, सरस, गूदेदार, दन्तुर, रोमश, १–३ इञ्च के घेरे में, गोलाकार, सुगन्धयुक्त एवं स्वाद में कटु। **पुष्प**–पुराने क्षुपों में ½ इञ्च लम्बे, हलके बैंगनी तथा गुच्छों में आते हैं।

मद्य को सुगन्धित करने के लिये इसका उपयोग करते हैं। औषध में इसके पञ्चाङ्ग का व्यवहार किया जाता है। मवेशियों के रोगों में भी इसे व्यवहार में लाते हैं। बंगाल की तरफ पाषाण भेद नाम से इसका उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कारवॅक्रॉल (Carvacrol) नामक उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातनुलोमक, उद्वेष्ठननिरोधि एवं अश्मरीघ्न है।

इसका उपयोग अपचन, आध्मान, उदरशूल, दमा, जीर्णकास, अपस्मार एवं मूत्रसंस्थान के रोगों में किया जाता है।

(१) अपचन, उदरशूल एवं आध्मान आदि में एक दो पत्तियों के ही उपयोग से शीघ्र लाभ होता है। बच्चों के उदरशूल में यह विशेष लाभदायक है।

(२) दमा, जीर्णकास एवं अपस्मार आदि में इसका क्वाथ दिया जाता है।

(३) नेत्राभिष्यन्द में इसका स्वरस पलकों पर लगाने से वेदना कम होती है।

(४) शिरःशूल तथा गोजर के काटने पर इसको पीसकर लगाने से वेदना दूर होती है।

मात्रा—स्वरस ५-६ बूंद शर्करा के साथ।

(५) Homonoia riparia, Lour. (होमोनोइया राइपेरिया, लोर.)। Fam. Euphorbiaceae (यूफोर्बियेसी)।

सं०-पाषाणभेदक। **हि०**-छोटा पाषाणभेद। **ता०**-चेप्पुंजेरिञ्जल। **ने०**-खोलासइस। **बर्मा**-मोमाका।

इसकी हमेशा हरी रहने वाली झाडी आसाम, उत्तरी बंगाल, पश्चिम प्रायद्वीप, बर्मा तथा मध्य प्रदेश में उत्पन्न होती है। इसके **पत्र**-३ से ६ इञ्च लम्बे तथा १/२-३/४ इञ्च तक चौड़े होते हैं। **पुष्प**-मंजरी में छोटे-छोटे आते हैं। इसकी जड़ का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह मूत्रल तथा मृदुविरेचक होता है। इसका क्वाथ अर्श, मूत्राशय की अश्मरी, सोजाक एवं फिरंग में प्रयुक्त होता है।

(६) Rotula aquatica Lour. (रोटूला अॅक्वेटिका लोर.)। Fam. Boraginaceae (बोरॅजिनॅसी)। **सं०**-पाषाणभेद। **ता०**-चेप्पुनेरिञ्जल।

यह सभी स्थानों पर विशेषकर नदी के कछार में होता है। इसकी छोटी झाडी होती है। **पत्ते**-१/२-१ इंच लंबे, विनाल, लुवाकार तथा न्यूनाधिक रोमश होते हैं। **पुष्प**-छोटे तथा गुलाबी रंग के आते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका मूल पाषाणभेदक के समान अर्श, मूत्राशय की अश्मरी, एवं फिरंगादि रतिजन्य रोगों में व्यवहृत होता है।

अथ धातकी (धाई) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

धातकी धातुपुष्पी च ताम्रपुष्पी च कुञ्जरा।
सुभिक्षा बहुपुष्पी च वह्निज्वाला च सा स्मृता ॥ १८५ ॥
धातकी कटुका शीता मृदुकृत्तुवरा लघुः। तृष्णाऽतीसारपित्तास्रविषक्रिमिविसर्पजित् ॥

१. 'मदकृदि'ति पाठा०।

धायके नाम तथा गुण—धातकी, धातुपुष्पी, ताम्रपुष्पी, कुञ्जरा, सुभिक्षा, बहुपुष्पी और वह्निज्वाला ये सब धाय के नाम हैं। धाय-कटु तथा कषायरसयुक्त, शीतवीर्य, मृदुकारक (पाठान्तर मदकारक) और लघु है और यह प्यास, अतीसार, रक्तपित्त, विष, कृमि और विसर्प को दूर करती है ॥ १८६-१८७ ॥

६३ धातकी

हि०-धातकी, धवई, धाई, धाओला, धावा, धाय (धाय के फूल)। **बं०**-धाइफुल। **मं०**-धायटी, धावस। **गु०**-धावणी, धावडी ना फूल। **क०**-धातकि। **ते०**-सेरिंजी, एर्रापुवु। **उ०**-जातिको। **पं०**-धा। **अवध**-धेती। **ने०**-दहिरी। **ले०**-*Woodfordia floribunda, Salisb.* (वुडफोर्डिआ फ्लोरीबंडा. सॅलिस्ब.); Syn. Woodfordia fruticosa Kurz. (वुडफोर्डिआ फ्रूटिकोसा, कुर्ज.)। Fam. Lythraceae (लिथ्रेसी)।

धातकी के क्षुप प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं देखने में आते हैं। ये पहाड़ों में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक एवं देहरादून के जंगलों में बहुतायत से पाये जाते हैं तथा वाटिकाओं में भी रोपण किये जाते हैं।

इसका **क्षुप** बड़ा तथा १०-१२ फीट तक ऊँचा होता है। **शाखाएं**-लम्बी, फैली हुई और सघन रहती हैं। नवीन शाखाओं तथा पत्तियों पर काले-काले बिन्दु होते हैं। पत्ते-समवर्ती या कुछ विषमवर्ती और कहीं-कहीं तीन-तीन पत्ते एक साथ गुच्छों में दिखाई पड़ते हैं। वे २-४ इञ्च लम्बे, ३/४-१३/४ इञ्च चौड़े, भालाकार या लट्वाकार-भालाकार, नोकदार तथा सरलधार होते हैं। **पुष्प**-१/२ से ३/४ इञ्च, चमकीले लालरंग के नलिकाकार फूल आते हैं। यह शाखाओं के संपूर्ण काण्ड से छोटे-छोटे गुच्छों में निकले रहते हैं। **बीजकोष**—छोटा और बीज—चिकने भूरे रंग के होते हैं। औषधि के लिये इसके फूलों का व्यवहार किया जाता है तथा इससे रेशम रंगने के लिये एक लाल रंग निकाला जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके फूलों में २०३% टॅनिन् होता है तथा इसके क्षुप से एक प्रकार का गोंद भी निकलता है जो रंगने के काम आता है।

गुण और प्रयोग—इसके फूल संग्राहक, उत्तेजक, विषहर, रक्तस्राव रोकने वाले एवं व्रणशोधक तथा व्रणरोपक होते हैं। इनका प्रयोग अतिसार, रक्तातिसार, ज्वरातिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, अर्श, यकृत विकार, सर्पविष तथा व्रण में किया जाता है। गर्भिणी में उत्तेजक औषध के रूप में बिना किसी हानि के इसका प्रयोग किया जा सकता है। अतिसार आदि में इसके साथ अन्य औषधियाँ भी दी जाती है। आसवों में सन्धान क्रिया ठीक होने एवं उसका रंग सुन्दर बनाने के लिये इसका बहुत प्रयोग किया जाता है।

(१) अतिसार एवं प्रवाहिका आदि में मट्ठे या मधु के साथ इसका पुष्पचूर्ण दिया जाता है या धाय के फूल, बेल की गुद्दी, लोध्र की छाल, सुगन्धवाला एवं गजपीपल सब समान लेकर, २ तोले का क्वाथ बना कर प्रयोग करते हैं। बच्चों के अतिसार में भी इसका प्रयोग कर सकते हैं।

(२) मधु के साथ इसका चूर्ण या अवलेह रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर एवं अर्श आदि में लाभदायक है। श्वेतप्रदर में १ तोला पुष्प चावल के धोवन के साथ दिया जाता है।

(३) कोंकण की तरफ 'मण्यारी' नामक सर्पविष के लिये यह रामबाण औषध मानी आती है। इसके लिये धाय के पत्तों का स्वरस पिलाते हैं, नाक में डालते हैं एवं शरीर पर उसे मलते हैं।

(४) पैत्तिक शिरःशूल में इसके पत्तों का स्वरस सिर पर लगाया जाता है तथा उसके साथ-साथ मुख में तैल का कवलग्रह किया जाता है।

(५) पानीदार विस्फोटों एवं दुर्गन्धयुक्त व्रणों में स्राव को कम करने के लिये तथा व्रण पूरण के लिये इसके पुष्पचूर्ण का उपयोग किया जाता है तथा इसके क्वाथ से व्रण प्रक्षालन भी करते हैं।

(६) आसवारिष्टों में शीघ्र किण्वोत्पत्ति के लिए धाय के फूलों का व्यवहार किया जाता है। इससे सन्धान भली प्रकार हो जाता है।

मात्रा—पुष्पचूर्ण १–२ माशा।

अथ मञ्जिष्ठा (मंजीठ) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मञ्जिष्ठा विकसा जिङ्गी समङ्गा कालमेषिका ॥ १८८ ॥
मण्डूकपर्णी भण्डीरी भण्डी योजनवल्ल्यपि। रसायन्यरुणा काला रक्ताङ्गी रक्तयष्टिका। भण्डीतकी च गण्डीरी मञ्जूषा वस्त्ररञ्जिनी। मञ्जिष्ठा मधुरा तिक्ता कषाया स्वरवर्णकृत्। गुरुरुष्णा विषश्लेष्मशोथयोन्यक्षिकर्णरुक्। रक्तातिसारकुष्ठास्रवीसर्पव्रणमेहनुत् ॥ १९१ ॥

मंजीठ के नाम तथा गुण—मंजिष्ठा, विकसा, जिङ्गी, समङ्गा, कालमेषिका, मण्डूकपर्णी, भण्डीरी, भण्डी, योजनवल्ली, रसायनी, अरुणा, काला, रक्ताङ्गी, रक्तयष्टिका, भण्डीतकी, गण्डीरी, मञ्जूषा और वस्त्ररञ्जिनी ये सब मंजीठ के नाम हैं। मंजीठ-मधुर, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, स्वर को उत्तम करने वाली तथा वर्ण को उज्ज्वल करने वाली, गुरु, तथा उष्णवीर्य होती है और विष, कफ, शोथ, योनि, नेत्र तथा कर्ण सम्बन्धी रोग, रक्तातिसार, कुष्ठ, रक्तदोष, विसर्प, व्रण और प्रमेह दूर करने वाली होती है ॥ १८८–१९१ ॥

६४ मञ्जिष्ठा (मजीठ)

हि०–मजीठ, मंजीठ। **बं०**–मंजिष्ठा। **म०**–मञ्जिष्ठ। **ते०**–मञ्जिष्ठतीठी, ताम्रवल्ली, मण्डास्टिक। **ता०**–मञ्जिट्टी, मन्दित्ता। **गु०**–मजीठ। **पं०**–मजीठ। **मल०**–पून्त। **फा०**–रोदक। **अ०**–फुवह्‌दु, फुव्वाह्, फौहुल अबागीन। **अं०**–Madder root (मॅडर रूट); Indian madder (इण्डियन् मॅडर)। **ले०**–*Rubia cordifolia, Linn.* (रूबिया कॉर्डिफोलिया, लिन.)।

Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)।

मजीठ इस देश की पहाड़ी भूमि में पश्चिमोत्तर हिमालय से पूर्व की ओर तथा दक्षिण की ओर नीलगिरी, सीलोन और मलाका एवं नेपाल में ८ हजार फीट तक उत्पन्न होती है।

यह लता जाति की वनौषधि बहुत विस्तार में दूर दूर तक फैल जाती है। इसकी लम्बी जड़ भूमि के भीतर दूर तक घुस जाती है। **डंठल**–कई गज लम्बा, गावदुम, खुरदरा, जड़ की ओर कठोर। **छाल**–सफेदी मायल किन्तु भीतर का भाग लाल होता है। शाखा प्रशाखाओं करके सघन बेल निकटवर्त्ती वृक्षों पर चढ़कर फैलती है। **पत्ते**–प्रत्येक ग्रन्थि पर चार चार के चक्रों में, जिसमें से दो बड़े होते हैं। ये १॥ से ४ इञ्च लम्बे, लट्वाकार–ताम्बूलाकार, नोकीले, खरस्पर्श युक्त या चिकने होते हैं। **पत्रनाल**–२ से ४ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**–नन्हें नन्हें श्वेतवर्ण के गुच्छों में रहते हैं। **फल**–काले, चने के बराबर तथा दो बीजों से युक्त होते हैं। **मूल**–लम्बे, लम्बगोल तथा ताजी अवस्था में लाल तथा सूखने पर कुछ काले हो जाते हैं। मूल का स्वाद

प्रारम्भ में मिठास लिये हुवे, लेकिन बाद में कुछ तीता और कड़वा होता है। इन्हीं मूलों का औषध में व्यवहार किया जाता है।

बाजार में नेपाली, ईरानी, अफगानी तथा हिन्दुस्तानी नाम से चार प्रकार के मूल बिकते हैं जिसमें से अफगानी मूल जो सिन्ध के रास्ते से आता है वह अच्छा समझा जाता है तथा हिन्दुस्तानी कनिष्ठ मानते हैं। इनका व्यवहार रंगने के काम में भी किया जाता है। इसका पर्याय नाम जो 'समङ्गा' दिया गया है उसके विषय में विद्वानों में मतभेद है। इसकी कभी कभी चिरायते में मिलावट रहती है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में राल, गोंद, शर्करा, चूने के योग एवं रञ्जक पदार्थ पाये जाते हैं। रंजक द्रव्यों में रक्त रवेदार परप्यूरिन् (Purpurin), पीत ग्लूकोसाइड मंजिस्टिन एवं गॅरेन्सिन् (Manjistin & Garancin), नारंगरक्त ॲलिझॅरिन् (Alizarin) एवं पीत झॅन्थाइन् (Xanthine) आदि पाये जाते हैं।

गुण तथा प्रयोग—यह रक्तशोधक, ग्राही, पौष्टिक, गर्भाशय संकोचक, शोथघ्न, त्वग्दोषहर, वेदनास्थापक, मूत्रल एवं व्रणरोपक है। अल्पमात्रा में देने से इससे मस्तिष्क एवं वातनाड़ियों पर शामक प्रभाव पड़ता है लेकिन अधिक मात्रा में देने से कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। इससे मूत्र एवं दुग्ध का रंग लाल हो जाता है। इसका क्वाथ अङ्गघात, कामला, मूत्रावरोध, अश्मरी, आर्तवविकार, अनार्तव, शोथ, रक्तातिसार, प्रमेह, छाती के शोथयुक्त विकार एवं चर्मरोग आदि में दिया जाता है।

(१) मंजिष्ठादि क्वाथ का उपयोग चर्मरोगों में बहुत लाभदायक है। इसके प्रयोग से त्वचा की रक्ताभिसरण क्रिया बढ़ कर उसकी विनिमय क्रिया में परिवर्तन होता है। इससे वातरक्त, दाद, खुजली, श्वित्र एवं व्यंग आदि में बहुत लाभ होता है।

(२) यह गर्भाशय संकोचक होने से प्रसव के बाद गर्भाशय शुद्धि के लिये इसके साथ ईश्वर मूल, पिपरामूल आदि अन्य औषधियों का प्रयोग किया जाता है। इससे गर्भाशय संकोच होकर स्राव की वृद्धि होती है तथा पीड़ा कम होती है।

(३) अश्मरी में शस्त्रकर्म करने के पूर्व एक बार इसका प्रयोग करके देखना चाहिये। इसके चूर्ण को १ माशे की मात्रा में दिन में ३ बार देना चाहिये। इससे सभी प्रकार की पथरी गलकर निकल जाती है। यदि इससे लाभ न हुआ तो फिर शस्त्रकर्म किया जा सकता है।

(४) यह फक्करोग (Rickets) राजयक्ष्मा, आन्त्रिकशैथिल्य एवं दुर्गन्ध युक्त जीर्ण अतिसार आदि में भी लाभदायक है। राजयक्ष्मज अतिसार एवं आन्त्रिक व्रणों में इसके उपयोग से वेदना की शांति होती है। फुफ्फुसावरणशोथ (प्ल्युरिसी–Pleurisy) आदि छाती के विकारों में भी इससे लाभ होता है।

(५) मंजिष्ठमेह में चन्दन के साथ इसका क्वाथ दिया जाता है।

(६) मधु के साथ इसको घिस कर लगाने से व्यङ्ग, दाद एवं श्वित्र आदि जीर्ण चर्मरोगों में बहुत लाभ होता है। लोध्र एवं चन्दन के साथ पीस कर इसे लगाने से विसर्प में लाभ होता है।

(७) मजीठ, अर्जुन, मुलेठी एवं सुगन्धवाला इनका क्वाथ अस्थिभग्न में पिलाया जाता है तथा उसी का लेप भी करते हैं। केवल मजीठ एवं मुलेठी को काञ्जी में पीस कर लगाने से भी शोथ कम होकर पीड़ा कम होती है।

(८) अग्निदग्ध व्रण पर मञ्जीठ, रक्तचन्दन तथा मूर्वा से सिद्ध घृत का उपयोग किया जाता है। इससे पीड़ा का शमन होकर व्रण दूर होता है।

(९) इसके फल का प्रयोग यकृत् के कारण उत्पन्न अवरोध में किया जाता है।

मात्रा—मूल चूर्ण १ से ३ माशा दिन में तीन बार।

अथ कुसुम्भम्, तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्यात्कुसुम्भं वह्निशिखं वस्त्ररञ्जकमित्यपि। कुसुम्भं वातलं कृच्छ्ररक्तपित्तकफापहम् ॥१९२॥

कुसुम के नाम तथा गुण—कुसुम्भ, वह्निशिख और वस्त्ररञ्जक ये नाम कुसुम के हैं। कुसुम-वातकारक तथा मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त और कफ का नाश करने वाला होता है ॥ १९२ ॥

६५ कुसुम्भ

हि०–कुसुम, कसुम्भ, बर्रे। **बं०**–कुसुम फूल। **म०**-करडई। **गु०**–कसुम्बो। **क०**–कसुम्बे। **ते०**–लत्तुक, लक, वंगारसु, वंगारम, आग्निशिखा, कुसुम्बा विसुलु। **पं०**–कुसम, कर्तुम, कुसुम, करर। **उ० प्र०**–बर्रे, करें। **फा०**–खस्कदाने, गुलेमस्कर। **अ०**–अखरीज, असतम। **अं०**–Safflower (सॅफ्फ्लावर); Parrot seed (पॅरट्सीड); Bastard saffron (बॅस्टर्ड सॅफ्रॉन्)। **ले०**–*Carthamus tinctorius, Linn.* (कार्थेमस् टिंक्टोरियस्, लिन.)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटी)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। इसका **क्षुप** १–३ फीट ऊँचा होता है। **पत्ते**-लम्बे, किनारों पर कटे हुए, नुकीले और काँटेदार होते हैं। **पुष्प**-केसरिया लाल रंग के पुष्प गोल गुच्छों में आते हैं। **फल**–चतुष्कोणीय चर्मल फल आते हैं। **बीज**–सफेद, चिकने तथा शंख की आकृति के समान होते हैं।

कृषिजन्य इसके अनेक प्रभेद पाये जाते हैं तथापि इनका वर्गीकरण दो वर्गों में किया जा सकता है।

एक में काँटे होते हैं और दूसरे में काँटे नहीं होते। काँटे वाले की अपेक्षा बिना काँटे वाले के फूलों से बहुत उत्तम रंग निकलता है। काँटेवाले पौधे तैल की दृष्टि से अच्छे समझे जाते हैं। इसके पुष्पों के किञ्जल्क केसर के समान दिखलाई देते हैं तथा केसर में इनकी मिलावट की जाती है। असली केसर के तन्तु सुगन्धित तथा एक रङ्ग के होते हैं किन्तु कुसुम के किंजल्क तन्तु गन्धरहित तथा श्वेत धब्बों से युक्त होते हैं। इसके बीज, पंचांग, तैल, पुष्प एवं मूल का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में जल में अविलेय कार्थामिन् (Carthamin) नामक एक लाल रंग एवं जल में विलेय अन्य पीत रंग पाये जाते हैं। इसके **बीजों** में २०–३०% तक एक स्थिर तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके **बीज** विरेचक, मूत्रल तथा बल्य होते हैं। इसका **पुष्प** विरेचक, स्वेदजनन, बल्य एवं आर्तव वृद्धिकर होता है। **तैल** विरेचक, एवं व्रणरोपक है। इसका **मूल** मूत्रल तथा **पंचांग** उष्ण होता है।

(१) इसके कोमल पत्तों का शाक प्रतिश्याय में खाया जाता है। इसके पत्तों में रेनेट् (Rennet) की तरह दूध जमाने की शक्ति होती है।

(२) इसके शुष्क पुष्पों को ४ माशे की मात्रा में कामला में देते हैं। इसका फांट स्वेदल होता है तथा प्रतिश्याय, कष्टार्तव एवं मांसपेशीय आमवात (Muscular rheumatism–मसक्यूलर र्ह्यूमॅटिज्म) में दिया जाता है तथा इसका हिम रोमान्तिका आदि विस्फोटक ज्वरों में (Eruptive fevers-एरप्टिह फीवरस्) में विस्फोट बाहर निकालने के लिये प्रयुक्त करते हैं।

(३) इसके बीजों से प्राप्त तैल खाने के काम आता है। बाजारू मीठे तेल में तथा घी में इसकी मिलावट करते हैं। इससे पाखाना साफ होता है। प्रमेह में इसके तैल को खाने से लाभ होता है। खुजली में इसको ५, ६ बार लगाने से बहुत लाभ होता है। आमवात एवं सन्धिशोथ में इसकी मालिश की जाती है तथा व्रणों पर इसको लगाते हैं। सुगन्धि के काम के लिए विदेशों में इसका निर्यात किया जाता है। कुछ लोगों ने इसके पंचांग से सिद्ध तिलतैल का व्यवहार सन्धिशोथ, आमवात, अङ्गघात, खुजली एवं पुराने घाव आदि में लगाने के लिये लिखा है। कुसुम बीजतैल का प्रयोग भी इसके स्थान पर किया जा सकता है। इसकी खली टिकाऊ होती है तथा जानवरों के खाने के काम में एवं ऊख आदि के लिये खाद के रूप में काम में ली जाती है। साबुन एवं तैलीय रंगों में भी खली का उपयोग होता है।

(४) इसके बीज द्राक्षारस के साथ अश्मरी एवं मूत्रकृच्छ्र में लाभदायक हैं। इसके बीजों की मांड मृदुविरेचक होती है एवं उदरशूल तथा आमवात में दी जाती है। प्रसूता में गर्भाशय की पीडा हो तो इसकी पुल्टिस् बनाकर पेडू पर बांधा जाता है।

मात्रा—शुष्क पुष्प चूर्ण २–४ माशा। बीज २–४ माशा।

अथ लाक्षा (लाही) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

लाक्षा पलंकषालक्तो यावो वृक्षामयो जतुः। लाक्षा वर्ण्या हिमा बल्या स्निग्धा च तुवरा लघुः॥ (ब्राह्मण्यङ्गारवल्ली[1] च खरशाखा च हञ्जिका)। अनुष्णा कफपित्तास्रहिक्काकासज्वरप्रणुत्। व्रणोरःक्षतवीसर्पकृमिकुष्ठगदापहा। अलक्तको गुणैस्तद्वद्विशेषाद्व्यङ्गनाशनः ॥ १९५ ॥

लाख के नाम तथा गुण—लाक्षा, पलङ्कषा, अलक्त, याव, वृक्षामय, और जतु ये सब लाख के पर्यायवाची शब्द हैं। किसी किसी पुस्तकों में ब्राह्मणी, अङ्गारवल्ली, खरशाखा और हञ्जिका ये अधिक पर्याय मिलते हैं। लाख-शरीर के वर्ण को उज्वल करने वाली, शीतल, बलकारक, स्निग्ध, कषायरसयुक्त, लघु और अनुष्ण (थोड़ी गरम) होता है तथा यह कफ, रक्तपित्त (पित्त, रक्त) हिचकी, कास, ज्वर, व्रण, उरःक्षत, विसर्प, कृमि और कुष्ठरोग को दूर करने वाली होती है। लाख से उत्पन्न हुये अलक्तक (महावर) में भी उपरोक्त लाख के सभी गुण होते हैं किन्तु विशेषतः यह व्यङ्गरोग (झांई) की नाशक होता है ॥ १९३–१९५ ॥

६६ लाख

हि०—लाख, लाही, लाह। **बं०**–गाला, लाहा। **प०, मा०, गु०, म०**–लाख। **क०**–अरगु। **ते०**–लक्का, लक्का, लाका। **ता०**–अरकु। **फा०**–लाक। **अ०**–लुक, लुक मकसूल। **अं०**–Lac (लॅक) या Shell lac (शेल लॅक)। **ले०**–कीटनाम—Laccifer lacca (Kerr) (लॅसिफेर लॅक्का)। Fam. Lacciferidae (लसिफेरिडी)।

[1] कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।

लाख—पुराने वृक्षों की डालियों पर एक प्रकार के बारीक कीड़ों द्वारा स्वरक्षणार्थ निर्मित रक्ताभ या गाढ़े भूरे रङ्ग का रालदार पदार्थ है। बेर, पाकड़, पीपल आदि वृक्षों पर ये कीड़े इसे बनाते हैं। इनमें पीपल वृक्ष की लाही सर्वोत्तम समझी जाती है। वैशाख और आश्विन के महीने में व्यापारी लोग वृक्षों से छुड़ाकर सुखाते हैं। इसको साफकर कपड़े की लम्बी थैलियों में भरकर गरम करते हैं जिससे लाख गलकर टपकती है। चपड़ा बनाने के लिये गरम करने के पूर्व इसमें हरताल का घोल मिलाते हैं तथा बाद में उसे खींच खींचकर पतला बनाते हैं। लाख को औटाकर लाल रङ्ग तैयार करते हैं और उसे सेमल की रूई में तरकर महावर बनाते हैं। लाख के रङ्ग की बनी हुई रोशनाई बहुत पक्की होती है। औषध की अपेक्षा लाख का अन्य कार्यों में बहुत उपयोग होता है तथा यह निर्यात व्यापार की एक प्रमुख वस्तु है। विदेशों में उत्पन्न न होने से यहाँ से इसका काफी निर्यात किया जाता है। इससे निर्मित रङ्ग का अब बहुत कम उपयोग होता है। उत्तरप्रदेश में मिरजापुर में इसके कारखाने हैं।

गुण और प्रयोग—लाख शीतल, रक्तपित्तघ्न, ज्वरनाशक, दाहशामक, बल्य एवं वर्ण्य है।

इसका उपयोग रक्तप्रदर, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, उरःक्षत, ज्वर, दाह, रक्तविकार एवं कास आदि में किया जाता है।

(१) रक्तप्रदर एवं उरःक्षत आदि में इसे दूध में उबालकर या घी में पकाकर फिर चूर्ण करके उसमें दूध मिलाकर पिलाते हैं। इसके चूर्ण को मधु तथा दूध के साथ भी दिया जा सकता है। साफ धोलकर बुकनी की हुई पीपल की कची लाह १ माशा एवं घृत में भूना हुआ शुद्ध गैरिक ४ रत्ती दूध के साथ ऊर्ध्वग रक्तपित्त में देने से बहुत लाभ होता है।

(२) इससे सिद्ध लाक्षादि, अङ्गारकादि एवं चन्दनबलालाक्षादि आदि तैलों का उपयोग जीर्णज्वर, राजयक्ष्मा एवं दाह आदि में अभ्यङ्ग के लिये किया जाता है।

(३) कृमिदन्त तथा व्रणों पर इसको लगाया जाता है।

मात्रा—१–३ माशा।

अथ हरिद्रा तस्या नामानि गुणाँश्चाह

हरिद्रा काञ्चनी पीता निशाऽऽख्या वरवर्णिनी। कृमिघ्नी हलदी योषित्प्रिया हट्टविलासिनी[1]।
हरिद्रा कटुका तिक्ता रूक्षोष्णा कफपित्तनुत्। वर्ण्या त्वग्दोषमेहास्रशोथपाण्डुव्रणापहा॥

हलदी के नाम तथा गुण—हरिद्रा, काञ्चनी, पीता, निशाऽऽख्या (रात्रिवाची सभी शब्द), वरवर्णिनी, कृमिघ्नी, हलदी, योषित्प्रिया और हट्टविलासिनी ये नाम हल्दी के हैं। हलदी-कटु तथा तिक्तरस युक्त, रूक्ष, उष्णवीर्य, कफ पित्त नाशक, शरीर के वर्ण को उज्ज्वल करने वाली एवम् चर्मदोष, प्रमेह, रक्तविकार, शोथ, पाण्डु तथा व्रण को दूर करने वाली होती है॥ १९६–१९७॥

६७ हलदी

हि०–हलदी, हरदी, हर्दी, हल्दी। बं०–हलुद। म०–हलद। गु०–हलदर। क०–अरसिन, अरिसिन। ते०–पसुपु। पं०–हलदी, हलदर, हलज। ता०–मंजल। मला०–मन्जल। फा०–जर्द चोब। अ०–उरुकुस्सफ। अं०–Turmeric (टर्मेरिक्)। ले०–*Curcuma longa, Linn.* (कर्क्युमा लॉंगा, लिन.)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरेसी)।

---

१. 'हरविलासिनी'ति पाठा०

हलदी—एक बहुत प्रसिद्ध प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली वस्तु प्रायः सब प्रान्तों के खेत में रोपण की जाती है लेकिन बंबई, मद्रास तथा बंगाल में इसकी विशेष रूप से उपज की जाती है। चीन एवं जावा आदि देशों में भी इसकी उपज होती है। इसका **क्षुप**–२–३ फीट ऊंचा होता है। **पत्ते**–केले के नवीन पौधे से निकले हुए पत्ते के समान १–२॥ फुट लम्बे तथा ६–७ इञ्च चौड़े उतने ही लम्बे पर्णवृन्त से युक्त, आयताकार–भालाकार एवं पर्णतल की तरफ कुछ नुकीले होते हैं। पत्तों में आम के समान गन्ध आती है। **फूल**–अवृन्त काण्डज क्रम में निकले हुवे, पीतवर्ण के, संख्या में अल्प तथा करीब १½ इञ्च लंबे; **पुष्पदण्ड**—६ इञ्च या अधिक लम्बा तथा पत्रनाल द्वारा आवृत; पुष्पदण्ड की पत्तियां हलके हरे रंग की होती हैं। इसकी जड़ के नीचे अदरक के समान अदरक से बड़े-बड़े कन्द होते हैं। यह सर्वाङ्ग पीला होता है। इसी कन्द को हल्दी कहते हैं। ये कन्द विभिन्न आकार के, मूल एवं पर्णवृन्तों के चिह्नों से युक्त होते हैं। अन्दर का भाग पीला या नारंगपीत। **भग्न**–शृङ्गवत्। **गन्ध**–मधुर। **स्वाद**–कडवा। चूसने पर लालास्राव का वर्ण भी पीत हो जाता है। रंगने के काम में बिना उबाली हलदी का व्यवहार किया जाता है और खाने के काम में हल्दी को उबाल कर सुखाकर प्रयुक्त करते हैं। उबालने से उष्णवीर्य हल्दी की तीव्रता कम हो जाती है। प्रमेह आदि कफ प्रधान व्यक्तियों में कच्ची हल्दी का रस सहपान या अनुपान के रूप में प्रयुक्त करते हैं।

हलदी को एक विशेष विधि से तयार कर बाजार में बेची जाती है। पहले कन्दों को अलग करके साफ करते हैं। फिर मुलायम होने तक जल में उबालते हैं। स्थान भेद के अनुसार ३० मिनट से ६ घंटे तक उबाला जाता है। उबालते समय इसी के कुछ पत्तों को भी जल में डालते हैं। थोड़ा गोबर मिलाने से इसका रंग अच्छा हो जाता है। फिर इन्हें खुली हवा में फैलाकर बार-बार पलट कर धीरे-धीरे सुखाते हैं। सूखने पर रगड़कर साफ करके उपयोग में लाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें करक्यूमिन् (Curcumin, $C_{21}H_{20}O_6$) नामक एक पीला एवं रवेदार रंजक पदार्थ होता है जो मद्यसार में पूर्णतया घुल जाता है जिससे गहरे पीले रंग का घोल बनता है। इस घोल में क्षार मिलाने से घोल रक्ताभ बादामी वर्ण का हो जाता है। इसके अतिरिक्त हलदी में ५–६% उडनशील तैल होता है जिसमें कर्पूरवत् गन्ध आती है तथा इस तैल में करक्यूमेन (Curcumen) नामक एक टरपेन (Terpene) होता है जो स्नेहद्रव्य कोलेस्टेरॉल (Cholesterol) को घुलाने के लिए बहुत अच्छा द्रव्य है। हलदी में उपर्युक्त पदार्थों के अतिरिक्त स्टार्च (Starch) २४%, तथा ॲल्ब्युमिनाएड्स् (Albuminoids) ३०% होते हैं।

गुण और प्रयोग—हलदी उष्ण, उत्तेजक, सुगन्धि, रक्तशोधक, त्वग्दोषहर, शोथहर, दीपन, ग्राही, कफघ्न, वातहर, विषघ्न एवं व्रण के लिए लाभदायक है। मसाले के रूप में इसका नित्य व्यवहार होते हुए भी यह एक बहुत अच्छी औषध है।

इसका उपयोग प्रतिश्याय, कफविकार, चर्मरोग, रक्तविकार, प्रमेह, कामला, यकृत् विकार, पार्यायिक ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, व्रण एवं नेत्राभिष्यन्द में किया जाता है।

(१) प्रतिश्याय, खांसी, प्रमेह, प्रदर एवं नेत्राभिष्यन्द आदि रोगों में जिनमें श्लेष्मा का अत्यधिक स्राव होता है, इसको दूध में उबालकर गुड़ मिलाकर पिलाते हैं। प्रतिश्याय की प्रारंभिक अवस्था में रात के समय इसके धूएँ को नाक से सुंघाते हैं तथा उसके बाद कुछ देर तक जल नहीं पीने देते। इससे बहुत जल्दी लाभ होता है। खांसी में इसको भूनकर १–२ माशा मधु अथवा घृत के साथ चटाने से लाभ होता है।

(२) आंवले का रस, हल्दी तथा मधु इसके प्रयोग से सभी प्रकार के प्रमेहों में अच्छा लाभ होता है। प्रदर में इसके साथ गुग्गुलु या रसांजन का प्रयोग करते हैं।

(३) खुजली, पामा, दाद, शीतपित्त, उदर्द, फोड़े एवं विचर्चिका आदि रक्तविकार एवं चर्मरोगों में यह बहुत लाभदायक है। इसके लिए हल्दी का चूर्ण गोमूत्र के साथ खिलाया जाता है एवं मक्खन के साथ स्थानीय लेप भी करते हैं। इसके विशेष योग हरिद्राखंड का १ तो० की मात्रा में नित्य कुछ समय तक लेने से उपर्युक्त विकारों में पर्याप्त लाभ होता है।

(४) चूना या सज्जी खार हलदी के साथ मिलाकर मोच, ऐंठन, चोट, पिचित व्रण एवं पुराने घावों पर लगाने से बहुत लाभ होता है। इसके साथ हलदी तथा मिश्री को खिलाते भी हैं। बिच्छू एवं सर्प आदि के काटने पर वेदना शान्ति के लिए इसका धूआं देते हैं। हल्दी एवं फिटकिरी (१ में २०) के सूक्ष्म चूर्ण का कर्णस्राव में कान में प्रधमन करते हैं।

(५) सभी प्रकार के नेत्राभिष्यन्द के लिए यह बहुत लाभदायक है। एक भाग हलदी २० भाग जल में उबाल कर छानकर उसे आंख में बार-बार डालते हैं जिससे आंख की वेदना कम होती है तथा कीचड़ आना भी कम होता है। इसके क्वाथ से रंगे हुए कपड़े का व्यवहार नेत्राच्छादन के लिए किया जाता है।

(६) श्लीपद में इसको गुड़ एवं गोमूत्र के साथ प्रयोग कराया जाता है।

(७) शिरःशूल एवं जोंक के काटने पर रक्तप्रवाह को रोकने के लिए इसका लेप लाभदायक है। चक्कर आता हो तो ताजी हलदी का सिरपर लेप करने से लाभ होता है। घृतकुमारी के गूदे में इसको घिसकर शोथयुक्त अर्श पर लगाते हैं।

(८) भूतोन्माद एवं योषापस्मार आदि में इसका धूआं दिया जाता है।

(९) हलदी के ताजे पत्तों का उपयोग मछली भूनने में एवं घृत की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए उपयोग में लाते हैं। ताजी हलदी का अचार भी बनाया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २–४ माशा।

अथ कर्पूरहरिद्राया नामानि गुणांश्चाह

दार्वीभेदाऽऽम्रगन्धा च सुरभीदारुदारु च। कर्पूरा पद्मपत्रा स्यात्सुरीमत्सुरतारका॥[1][2]
आम्रगंधिहरिद्रा या सा शीता वातला मता। पित्तहृन्मधुरा तिक्ता सर्वकण्डूविनाशिनी॥

कपूरहल्दी या आमाहरदी के नाम तथा गुण—दार्वीभेदा (यह दारुहल्दी के भेद में है अतः दार्वीभेदा भी नाम है), आम्रगन्धा (आम के फल के समान गन्ध होने से आम्रगन्धा भी कहते हैं), सुरभीदारु, दारु, कर्पूरा, पद्मपत्रा सुरीमत और सुरतारका (पाठान्तर में सुरभी और सुरनायिका) ये सब आमाहरदी के पर्यायवाचक शब्द हैं। जो हल्दी आम के फल के समान गन्ध वाली होती है वह शीतल, वातकारक, पित्त को दूर करने वाली, मधुर तथा तिक्त रसयुक्त एवं सब प्रकार की खुजली का नाश करनेवाली होती है॥ १९८–१९९॥

६८–आमाहलदी

हिं०–अमिया हलदी, आमाहल (र) द, आमाहलदी। **बं०**–आम आदा। **म०**–अम्बे हलद, अम्बा हलद। **गु०**–आम्बा हलदर। **क०**–हुली आरसीन। **ते०**–कारुपुसुपु। **ता०**–पशु मंजल।

१. 'दार्वीभेदे'ति पाठान्तरमसङ्गतम्। २. 'सुरभी सुरनायिके'ति पाठा०।

मा०–आंबा हलदी। **पं०**–अंबिया हलदी। **फा०**–दारचोबह्। **अ०**–दारहल्द। **अं०**–Mango ginger (मँगो जिंजर)। **ले०**–*Curcuma amada Roxb.* (कर्क्युमा अमाडा)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरेसी)।

आमाहलदी के क्षुप प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाये जाते हैं। बंगाल और कोंकण में इसकी खेती की जाती है। इसका डंठल मोटा होता है। **कन्द**–हलदी की गाँठों से बड़े बड़े, आर्द्रक के समान, हलके पीले रंग के एवं आम्र की तरह गन्धयुक्त होते हैं। **क्षुप**–२–३ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**–१–१॥ फुट लम्बे, ५–१ इञ्च चौड़े, आयताकार दीर्घवृत्ताकार और नुकीले होते हैं। **फूल**–फीके पीले रंग के आते हैं। गाँठों को छोटे छोटे टुकड़े कर सुखा लेते हैं। डा० देसाई लिखते हैं कि बम्बई में आमाहलदी नाम से जो गाँठें बिकती हैं वे वनहरिद्रा की होती हैं। कुछ विद्वानों ने आमाहलदी का ले० नाम वनहरिद्रा वाला लिखा है। आमाहलदी का बंगाल में अधिक प्रयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल, राल, शर्करा, गोंद, स्टार्च, अॅल्ब्यूमिनॉइड्स, ऑर्गेनिक् अम्ल तथा राख आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह वातानुलोमक, शीतल, सुगन्धि, दीपन, पाचन एवं ग्राही है। इसके गुण आर्द्रक के समान दीपन एवं वातानुलोमक हैं लेकिन आर्द्रक उष्ण है और यह शीतल है।

इसका उपयोग हलदी के स्थान पर किया जाता है। सुगन्धित होने के कारण इसे चटनी आदि में उपयोग में लाते हैं। मिठाइयों में आम की गन्ध लाने के लिये इसके फांट का व्यवहार करते हैं। चोट एवं खुजली आदि में इसका लेप किया जाता है। लताकरञ्ज के पत्र रस के साथ कृमि रोग में इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २–४ माशा।

अथ वनहरिद्राया नामगुणानाह

अरण्यहलदीकन्दः कुष्ठवातास्रनाशनः॥ २००॥

वनहरदी के गुण—वनहलदी का कन्द–कुष्ठ तथा वातरक्त का नाशक होता है॥ २००॥

६९ वनहलदी

हिं०–वनहरदी, वनहलदी, जंगली हलदी। **बं०**–वनहलुद, वनहलद। **म०**–वेडीहलद, रानहलद। **क०**–काडरसन। **ते०**–अड़वि पसुपु, कस्तुरि पसुपु। **ता०**–कस्तुरि मंजल। **गु०**–वनहलदर, कपूरकाचली। **पं०, मा०**–जंगली हलदी। **मला०**–कट्टुमञ्जल। **अं०**–Wild turmeric (वाइल्ड टर्मेरिक्); Yellow zedoary (यलो झिडोरी); Cochin turmeric (कोचीन टर्मेरिक्)। **ले०**–*Curcuma aromatica Salisb.* (कर्क्युमा अॅरोमॅटिका)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरेसी)।

वनहलदी—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाई जाती है। विशेषकर बंगाल एवं दक्षिण के कोचीन, मैसूर, अल्वारा आदि स्थानों में अधिक देखने में आती है। इसका क्षुप वर्षजीवी होता है। गरमी में इसका क्षुप सूख जाता है किन्तु भूमि के भीतर इसकी गांठे जीवित रहती हैं और वर्षा ऋतु में वे अंकुरित हो पौधे के रूप में परिणत होती हैं। पत्ते जब कोमल अवस्था के होते हैं तब उनके बीच का भाग जामुनी रंग का होता है। जब यह अंकुरित होता है

तभी इसमें फूल आते हैं। जड़ के नीचे काला सा पीले रंग का कन्द होता है। अच्छी खाद आदि होने से ये कन्द काफी बड़े होते हैं। साधारणतः बीच की गाठें अण्डे के समान, २ इञ्च से बड़ी, कालीसी चक्राकार कड़ों से युक्त तथा अनेक मोटी उपमूलों से युक्त होती हैं। उपमूलों के अंतिम भाग में बदाम के बराबर नारंगपीत गांठे होती हैं। बीच की गाठों के बगलवाली गाठें अंगुली सदृश मोटी होती हैं तथा उनसे थोड़े से मांसल मूल निकले रहते हैं। जंगली हरदी का अन्दर का भाग गाढ़े नारंगी रंग का; गन्ध हरदी से तेज तथा कपूर मिश्रित सोंठ के समान; स्वाद कपूर के समान एवं हल्लासकारक होता है। हरदी के स्थान में रंगने के काम में यह आती है। त्रावणकोर में इससे तिखुर निकालते हैं।

रासायनिक संगठन—हरिद्रा के समान।

गुण और प्रयोग—इसके गुण हलदी की ही तरह होते हैं। रक्तविकार एवं चर्मरोगों में अन्य औषधियों के साथ इसका व्यवहार किया जाता है।

(१) सर्पविष में जंगली हलदी, कुष्ठ, अजवायन तथा मैनसिल का धूम दिया जाता है।

(२) विस्फोटक ज्वरों में दानों को बाहर निकालने के लिये इसे २–४ र० खिलाते हैं तथा इसका बाह्यलेप भी करते हैं।

(३) खुजली, चोट, सूजन एवं मोच आदि में इसका लेप अथवा इससे सिद्ध तैल का व्यवहार किया जाता है।

(४) शिरःशूल में लोहबान के साथ इसे घिसकर लेप करते हैं।

मात्रा—१–२ मा०।

नोट—उपर्युक्त हरिद्राओं के अतिरिक्त बंगाल में एक **कालीहलदी** (नरकचूर, नीलकण्ठ) होती है जिसे कर्क्यूमा केसिआ (Curcuma caesia Roxb.) कहते हैं। इसकी गाँठें काली सी धूसरित वर्ण की एवं चक्राकार कड़ों से युक्त होती हैं। अन्दर का भाग धूसर नील वर्ण का, अत्यन्त कड़ा एवं शृङ्ग के समान होता है। इनका स्वाद एवं गन्ध कपूर के समान होता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण कचूर की तरह होते हैं। सौन्दर्य प्रसाधनों (Cosmetics–कॉसमेटिक्स्) में इसका उपयोग किया जाता है। इसका उबटन पसीना लाने के लिए व्यवहार में लाया जाता है। बंगाल में इसकी ताजी गांठों का उपयोग हलदी की तरह किया जाता है।

अथ दारुहरिद्राया नामानि गुणांश्चाह

दार्वी दारुहरिद्रा च पर्जन्या पर्जनीति च। कटङ्कटेरी पीता च भवेत्सैव पचम्पचा ॥
सैव कालीयकः प्रोक्तस्तथा कालेयकोऽपि च ॥ २०१ ॥
पीतद्रुश्च हरिद्रुश्चपीतदारु[1] च पीतकम्। दार्वी निशागुणा किन्तु नेत्र कर्णास्यरोगनुत् ॥

दारुहरदी के नाम तथा गुण—दार्वी, दारुहरिद्रा, पर्जन्या, पर्जनी, कटङ्कटेरी, पीता, पचम्पचा, कालीयक, कालेयक, पीतद्रु, हरिद्रु, पीतदारु और पीतक ये सब दारुहलदी के पर्यायवाची शब्द हैं। **दारुहलदी**–के गुण यद्यपि हलदी के समान ही होते हैं तथापि यह विशेषतः नेत्र, कर्ण तथा मुख–सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ २०१–२०२ ॥

१. 'कपीतकमि'ति पाठा० चिन्त्यम्।

७० दारुहलदी

हि०–दारुहलदी, दारुहरदी, दारहलद। **बं०**–दारुहरिद्रा। **म०**–दारुहलद, जरकि हलद। **गु०**–दारुहलदर। **मा०**–दारुहलदी। **क०**–दोदा मरद रिसिन। **ते०**–मनिपसुपु। **ता०**–मर मञ्जिल। **कुमा०**–चित्रा, कीलमोरा। **प०**–सुमलु। **ने०**–चित्रा। **फा०**–दार चोबह, फिलझरह। **अ०**–दार हलक। **अं०**–Indian berberry (इण्डियन बरबेरी)। **ले०**–*Berberis species* (बर्बेरिस् की विभिन्न जातियां)। Fam. Berberidaceae (बर्बेरिडॅसी)।

दारुहलदी की १२-१३ जाति की कटकित झाड़ियां अधिकतर हिमालय के पहाड़ों पर तथा आसाम में पाई जाती हैं। इनमें से चार जातियां मध्य तथा दक्षिण भारत (निलगिरी पर्वत) में पाई जाती हैं। छोटा नागपूर के पारसनाथ की पहाड़ी पर भी एक भेद पाया जाता है। इनमें से विशेषरूप से ब० ॲरिस्टेटा एवं ३, ४ अन्य पौधों का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है जिनका वर्णन आगे दिया जा रहा है। गुणों की दृष्टि से इनमें विशेष अन्तर न होने से सभी के गुण और प्रयोग एक साथ दिये गये हैं। दारुहलदी के मूल, काष्ठ, कांड, फल (जिसे **झरिष्क** कहते हैं) एवं सत्व (रसौत) का व्यवहार किया जाता है। रसौंत का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। **झरिष्क**–ये कालाई लिये लाल तथा सूखने पर काले अंगूर की तरह दिखलाई देते हैं। ये काले अंगूर से छोटे तथा अधिकांश में बीजहीन होते हैं। इनका स्वाद खट्टा या रुचिकर खटमिट्ठा होता है।

(क) Berberis aristata, DC. (बर्बेरिस् ॲरिस्टॅटा, डीसी०)।

जौन०—काशमोई। **गढ०**—किंगोरा।

इसके क्षुप हिमालय पर्वत पर ६००० से १०५०० फीट की ऊँचाई पर एवं निलगिरी के पहाड़ों पर पाये जाते हैं। इसका **क्षुप**–बड़ा, पतनशील (Deciduous–डेसिड्यूअस्), कंटीला एवं साधारणतः ६ से १२ फीट तक ऊँचा लेकिन कभी कभी १५ फीट तक ऊँचा एवं ८ इञ्च व्यास के कांड से युक्त होता है। **शाखाएँ**–श्वेताभ या हलके पीताभ धूसर वर्ण की होती हैं। **पत्ते**–१·५–४ इञ्च लम्बे, ½–१ इञ्च चौड़े, अभिलट्वाकार, चर्मवत्, सूक्ष्म शिराओं से युक्त, सरल धार वाले या दूर दूर पर तीक्ष्ण कांटों से युक्त एवं उनका अधोपृष्ठ हलके हरे रङ्ग का होता है। **फूल**–स्वर्ण-पीत पुष्प २–३ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। **फल**–बीजिमांसल फल (Berry–बेरी), अण्डाकार, नीले बैगनी रङ्ग के चमकीले एवं रजावृत होते हैं। **मूल**–पीताभ बादामी, नलिकाकार, कुछ गांठदार, कड़े, मजबूत लेकिन लचीले, साधारणतः कटे हुवे टुकड़ों के रूप में एवं थोड़े सी शाखाओं से युक्त होते हैं। **छाल**–अंदर से गहरे बादामी रङ्ग की, मुलायम एवं तोड़ने पर चूर्ण रूप में हो जाती है। **काष्ठ**–नींबू के समान पीतवर्ण का, स्पष्ट एवं संकरी मज्जक किरणों से युक्त, जिसमें मज्जक प्रायः नहीं होता और यदि हो तो चमकीले पीतवर्ण का होता है। इसके काष्ठ में ताजी अवस्था में हलकी गन्ध एवं इसका स्वाद कड़वा होता है। इसको कितना भी उबालें तो भी यह पीला ही रहता है।

(ख) B. asiatica, Roxb. ex DC. (ब० एशियाटिका, राक्सब. एक्स डीसी.)।

हि०–किलमोरा, किंगोरा। **ने०**–माटे किरसो, चित्रा।

इसके क्षुप प्रायः २–८ हजार फीट के बीच या कभी कभी नीचे भी हिमालय की घाटियों में भूटान, गढवाल, बिहार, पारसनाथ की पहाड़ी तथा अफगानिस्तान आदि स्थानों पर पाये जाते हैं।

इसका क्षुप करीब ८ फीट ऊँचा होता है। शाखाएँ धूसर वर्ण की होती हैं। इसकी पत्तियाँ अण्डाकार या लट्वाकार आयताकार, १-२½ इञ्च लम्बी एवं चर्मवत् होती हैं। पत्तियों का शिराजाल ऊपरी पृष्ठ पर घना तथा दृढ होता है। पुष्प-मञ्जरियों में निकलते हैं। इसके फल कृष्ण नील होते हैं।

(ग) B. lycium, Royle. (ब० लाइसियम्, रायलि.)।

हि०—चतरोई, काशमल, दारुहरिद्रा।

इसके क्षुप ३-७ हजार फीट की ऊँचाई पर पश्चिमी हिमालय में गढवाल से हजारा तक एवं चकरौता तथा मसूरी के नीचे विशेषरूप में प्राप्त होते हैं। ये छोटे एवं समूहबद्ध होकर आते हैं।

इसके पत्ते प्रायः पतले तथा लम्बे होते हैं एवं शिराजाल घना नहीं होता। इसके फल विशेष मांसल नहीं होते।

रासायनिक संगठन—बर्बेरिस् की विभिन्न उपजातियों में कम से कम आठ प्रकार के विभिन्न क्षाराभ पाये गये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—बर्बेरिन् (Berberine), (ऑक्सिॲकॅन्थाइन् (Oxyacanthine), बर्बेमाइन् (Berbamine), पामॅटाइन (Palmatine), जॅट्रोहीझाइन् (Jatrorrhizine), कोलंबॅमाइन् (Columbamine), बर्बेरूबाइन् (Berberrubine) एवं हाइड्रॅस्टाइन् (Hydrastine)। इनमें से प्रथम तीन विशेष महत्त्व के हैं तथा शेष विभिन्न अन्य वनस्पतियों के विशिष्ट क्षाराभ हैं। बर्बेरिन् (Berberine, $C_{20}H_{19}NO_5$), शीत जल में घुलनशील, मद्यसार में कम घुलनशील, पीतवर्ण का एवं सूइयों के आकार का क्षाराभ है। यह काष्ठ एवं छाल की अपेक्षा मूल में अधिक होता है। यह क्षाराभ और भी कई वनस्पतियों में पाया जाता है। इसके लवण भी बनाये गये हैं।

इसके अतिरिक्त इसमें कषाय द्रव्य, गोंद एवं स्टार्च आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

इसके फल में मॅलिक् (Malic), टार्ट्रिक् (Tartric) एवं साइट्रिक् (Citric) अम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—दारुहलदी के मूल एवं काष्ठ बल्य, तिक्त पौष्टिक, दीपन, पाचन, ग्राही, पित्तविरेचक, ज्वरहर, पौर्यायिक ज्वरहर, स्वेदल, श्लेष्मघ्न, रसायन एवं त्वक् दोषहर हैं।

इसका उपयोग मलेरिया आदि विषम ज्वर, कुपचन, फिरङ्ग, गण्डमाला, अपची, त्वक्दोष, भगंदर, प्रदर, अत्यार्तव, व्रण, गर्भिणीवमन, यकृत्प्लीहावृद्धि, कामला एवं सर्पदंश आदि में किया जाता है।

(१) मलेरिया तथा अन्य विषमज्वरों में इसके क्वाथ का उपयोग किया जाता है। ज्वर के साथ हृल्लास, वमन, विरेचन, शिरःशूल एवं थकावट अधिक होती है तब इसके क्वाथ का उपयोग रसौत की अपेक्षा अच्छा होता है। ज्वर में इसके पूर्व विरेचन देना चाहिये। इससे पसीना होकर ज्वर उतर जाता है। क्विनीन की तरह हृदयावसाद एवं बाधिर्य आदि इससे नहीं होते तथा प्लीहा की वृद्धि कम हो जाती है। ज्वर अच्छा होने के पश्चात् इसके उपयोग से भूख आदि बढ़ती हैं। यद्यपि उपर्युक्त गुणों के लिये इसका उपयोग किया जाता रहा लेकिन नवीन प्रयोगों से देखा गया कि इसके क्षाराभ बर्बेरिन् सल्फेट (Berberine Sulphate) को १½-२½ र० की मात्रा में दिन में ३ बार ३ दिन तक देने पर भी किसी प्रकार का लाभ नहीं हुवा। मलेरिया में इससे एक लाभ अवश्य होता है कि इसके देने से प्लीहा आदि धातुओं में छिपे हुवे मलेरिया के कीटाणु रक्त में आ जाते हैं जिससे रक्त परीक्षा में दिखलाई देने से निदान में आसानी होती है। क्विनीन के साथ ज्वर की चिकित्सा में इसका उपयोग लाभदायक है।

(२) **बर्बेरिन्** (Berberine)—यह क्षाराभ अत्यंत विषैला नहीं है लेकिन अधिक मात्रा में देने से अवश्य विषैला है एवं मृत्यु भी हो सकती है। इसका प्रचूषण आन्त्र एवं सूचिकाभरण द्वारा हो सकता है। बिल्ली एवं कुत्तों को उनके वजन के प्रति किलोग्राम के लिये २ मिलीग्राम की मात्रा में देने से हृदय पर अवसादक प्रभाव पड़ता है तथा रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है। यह क्रिया उन्हीं अंगों के ऊपर प्रत्यक्ष प्रभाव से एवं प्राणदा (Vagus = व्हागस्) नाडी की उत्तेजना से होती है। प्राणियों में मृत्युत्तर परीक्षण द्वारा देखा गया कि इससे फुफ्फुसों में अत्यन्त रक्ताधिक्य एवं हृदय के अलिन्दों (Auricle = ऑरिकल) का विस्फार होकर मृत्यु होती है। इससे वृक्कों में शोथ एवं रक्तस्राव होता है तथा इससे केन्द्रीय वातनाडीसंस्थान के कन्दों की कोशाओं को नुकसान पहुँचता है। यह श्वसन के लिये भी अवसादक है लेकिन १-१० मिलीग्राम की मात्रा में यह आन्त्र, गर्भाशय एवं श्वसनिका की अनैच्छिक मांसपेशियों को उत्तेजित करता है जिससे श्वसनिका में संकोच उत्पन्न होता है।

साधारण मात्रा में हृदय पर इसका उत्तेजक प्रभाव पड़ता है जिससे हृदय की पोषक रक्तवाहिनियों में रक्तप्रवाह की वृद्धि होती है लेकिन अधिक मात्रा में देने पर यह अवसादक है। इससे श्वेतकणों की वृद्धि होती है। मलेरिया में निदान की दृष्टि से प्रोद्दीपक रूप में (Provocative dose-प्रोव्होकेटिव्ह डोस) इसका उपयोग लाभदायक है जिससे छिपे हुये कीटाणु रक्त में आजाते हैं तथा रक्तपरीक्षण में दिखलाई देने लगते हैं। यह चर्म के नीचे की धातुओं एवं श्लैष्मिक कला के लिये स्थानिक रूप से सौम्य स्वापजनक होने के कारण वेदनास्थापन के लिए प्रयुक्त होता है। क्विनीन जो कि कोशाओं के जीवरस (प्रोटोप्लाज्म्-Protoplasm) के लिये विषैला होता है उसकी अपेक्षा ८० गुना कम शक्ति का इसका घोल (८०, ००० में १) लीशमॅनिया ट्रॉपिका (Leishmania tropica) नामक प्राच्यव्रण उत्पन्न करने वाले कीटाणु के संवर्ध की वृद्धि रोकने में समर्थ होता है। यह प्राच्यव्रण (Oriental sore-ओरियन्टल् सोर) की चिकित्सा के लिये सफल औषधि है। बर्बेरिन् ॲसिड सल्फेट ·५-१% घोल की १-२ सी० सी० मात्रा व्रण के किनारों पर अत्यन्त महीन सूचिका द्वारा ४, ५ जगह दी जाती है। सूचिकाभरण हफ्ते में एक बार किया जाता है। साधारणतः ३ हफ्तों में व्रण अच्छा हो जाता है लेकिन द्वितीयक उपसर्ग की तीव्रता के अनुसार २-१२ हफ्ते भी अच्छा होने में लग सकते हैं। यदि एक से अधिक व्रण हों तो एक दिन में २ व्रणों से अधिक एवं हफ्ते में ४ व्रणों से अधिक, (विशेष कर जब व्रण बड़े हों) में सूचिकाभरण नहीं करना चाहिये। चिकित्साकाल में व्रण का बन्धन उचित रूप में करना चाहिये। इस औषधि का तयार घोल ओरिसॉल (Orisol) नाम से बिकता है।

(३) दारुहलदी पित्त एवं मूत्रमार्ग की विकृति में लाभदायक है। पित्त एवं मूत्राश्मरी, तृष्णा, दाह एवं हृल्लास आदि के लिये इसका उपयोग किया जाता है। बस्तिशोथ एवं प्रमेह आदि में आंवले के रस एवं मधु के साथ इसको देते हैं। गर्भाशय शैथिल्य के कारण उत्पन्न रक्तप्रदर में तथा श्वेतप्रदर में मधु के साथ इसके क्वाथ का सेवन करने से लाभ होता है। कामला में मधु के साथ इसका क्वाथ दिया जाता है। मूलत्वक् का क्वाथ तृणाणुनाशक (Bactericidal-बॅक्टेरिसाइडल्) है तथा जीर्ण व्रणों में व्रण प्रक्षालन के लिये लाभदायक है।

(४) दारुहलदी के फल सौम्य विरेचक, शीतल एवं रोचक होते हैं।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—उत्तर भारत में इसमें विशेष मिलावट नहीं होती लेकिन बंबई की तरफ इसमें कई प्रकार की वनस्पतियों के काष्ठ को हलदी में उबाल कर बेचते हैं। झाडकी

हल्दी (Coscinium fenestratum (Gaertn.) Colebr. (कॉसिनिअम् फेनेस्ट्रॅटम्) के कांड को भी इसके स्थान पर देते हैं।

मात्रा—चूर्ण २-३ माशा, टिंक्चर ½-२ ड्रा०, बर्बेरिन के लवण १-५ ग्रेन।

अथ दार्वीक्वाथजातं रसाञ्जनम् । तस्य निर्माणविधिं नामानि गुणांश्चाह

दार्वीक्वाथसमं क्षीरं पादं पक्त्वा यदा घनम् । तदा रसाञ्जनाख्यं तन्नेत्रयोः परमं हितम् ॥ रसाञ्जनं तार्क्ष्यशैलं रसगर्भञ्च तार्क्ष्यजम् । रसाञ्जनं कटु श्लेष्मविषनेत्रविकारनुत् ॥२०४॥ उष्णं रसायनं तिक्तं छेदनं व्रणदोषहृत् ॥ २०५ ॥

दारुहलदी के क्वाथ से तैयार होने वाले रसोत के बनाने की विधि, नाम तथा गुण—दारुहलदी का काढ़ा बनाकर उसी के बराबर उसमें दूध डाल कर औटावें। बाद को जब चौथाई भाग शेष रह जाय तब उतार लें और उसमें से जो गाढ़ा भाग हो उसे अलग कर लें। उसी को रसोत कहते हैं। वह नेत्रों के लिये परम हितकर होता है। रसाञ्जन, तार्क्ष्यशैल, रसगर्भ और तार्क्ष्यज ये रसोत के नाम हैं। रसोत—कटु तथा तिक्त रस युक्त, कफ, विष तथा नेत्र सम्बन्धी विकारों को दूर करने वाला, उष्ण वीर्य, रसायन, छेदक (पिण्डी भाव को प्राप्त हुये कफादिकों को काट काट कर अलग करने वाला), एवम् व्रणसम्बन्धी दोषों को नष्ट करने वाला होता है ॥ २०३-२०५ ॥

७१ रसौत

हि०-रसोत, रसौत, रसवत। **बं०**-रसांजन। **म०**-रसवत, रसांजन। **गु०**-रसवंती। **क०**-रसांजन। **ते०**-रसांजनमु। **मा०**-रसोत। **पं०**-रसौंत। **फा०**-फिलजह्रः। **अ०**-हुलुज़ोहिंदी। **अं०**-Extract of Indian Berberis (एक्स्ट्रॅक्ट ऑफ इण्डियन् बर्बेरिस्)। **ले०**-*Extractum Berberis* (एक्स्ट्रॅक्टम् बर्बेरिस्)

रसोत—कालापन लिये भूरे रङ्ग की, गोंद के समान मुलायम तथा पानी और मदिरा में घुलने वाली दारुहलदी के क्वाथ और बकरी के दूध से बनी हुई औषधि है। इसका स्वाद कड़वा तथा कसैला होता है। इसको बनाने के लिये वर्षा के आखिर में इसके क्षुप को काट कर उसके पंचांग का क्वाथ बना कर बाद में उसे गाढा बनाते हैं। कुछ लोग क्वाथ में बराबर मात्रा में बकरी का दूध मिलाकर फिर गाढा करते हैं। इस बात में मतभेद है कि रसौत केवल ब० लाइसियम् के मूल एवं काष्ठ से बनता है या ब० एशियाटिका से या दोनों से। बाजार में बिकने वाला रसौत प्रायः दोनों के मिश्रण से बनाया जाता है। इसमें लकड़ी, मिट्टी आदि पदार्थ मिले रहते हैं। इसलिये इसे १० गुने गरम जल में मिलाकर छान कर सुखाते हैं एवं बचे हुये भाग में मद्यसार मिलाकर छानकर उस मद्यसार को ऊर्ध्वपातन यन्त्र द्वारा अलग कर गाढे भाग को उपर्युक्त जल से सुखाये गाढे भाग में मिलाकर बन्द शीशी में रखकर काम में लाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कडवा पौष्टिक, ज्वरहर, पार्यायिक ज्वरहर, स्वेदल, अर्शोघ्न, शोथघ्न, रक्तशोधक, श्लेष्मघ्न, व्रणरोपक एवं नेत्रविकारहर है।

इसका आन्तरिक उपयोग ज्वर, यकृत् प्लीहा वृद्धि, कामला, अर्श, एवं आमाशय तथा पक्वाशय के व्रण (Gastric & duodenal ulcer-गॅस्ट्रिक् अँड ड्युओडेनल् अल्सर) में लाभदायक है। इसका बाह्य प्रयोग अर्श, प्राच्यव्रण, कटे हुये भाग, फोड़े फुन्सियां एवं पुराने व्रण आदि में किया जाता है।

(१) विषमज्वर के सभी प्रकारों में इसको १५ र० दिन में ३ बार जल के साथ देते हैं। क्वाथ की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छा होता है। इससे ज्वर का शमन होकर प्लीहा वृद्धि भी कम होती है। इसके प्रयोग में पहले विरेचन देना चाहिये तथा इसकी पूर्ण मात्रा खाली पेट पर देनी चाहिये। औषधि लेने के पश्चात् रोगी को कपड़ा ओढा कर सुलाना चाहिये। थोड़ी देर में रोगी को प्यास मालूम पड़ती है तथा जी घबड़ाने लगता है लेकिन उसको जल पीने न दें। एक घण्टे में पसीना निकलने लगता है तथा कमजोरी मालूम होती है। उसके बाद शरीर पोंछ कर लाजमण्ड या चावल का मांड और दूध पीने को दें। इसके बाद रोगी प्रायः सो जाता है तथा उस दिन ज्वर की पारी नहीं आती। इस प्रयोग में एक दोष यह है कि रोगी को कभी पहले रक्तातिसार हुआ हो तो वह फिर उमड़ जाता है।

(२) नये एवं पुराने नेत्राभिष्यन्द में इसको पलकों पर लगाने से बहुत लाभ होता है। इसके साथ इसमें अफीम, सैन्धव एवं फिटकिरी मिलाई जा सकती है।

(३) रक्तार्श में इसको २ से ८ र० मक्खन के साथ खिलाया जाता है एवं इसके घोल (३२ में १) से अर्श को धोते हैं।

(४) कपूर एवं मक्खन के साथ बना इसका मलहम फोड़े, फुन्सियां, कटे हुये भाग एवं पुराने घावों पर लाभदायक है। मधु के साथ मिलाकर मुख के अन्दर के व्रणों पर एवं अन्य व्रणों पर लगाते हैं। शोथ पर इसके लेप से लाभ होता है। मुखरोग में इसके घोल से गण्डूष कराते हैं। प्राच्यव्रण के लिये भी यह लाभदायक है क्योंकि इसमें क्षाराभ की पर्याप्त मात्रा रहती है।

मात्रा—½-२ मा०।

अथ बाकुची । तस्या नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

अवल्गुजो बाकुची स्यात्सोमराजी सुपर्णिका ।
शशिलेखा कृष्णफला सोमा पूतिफलीति च ॥ २०६ ॥
सोमवल्ली कालमेषी कुष्ठघ्नी च प्रकीर्त्तिता । बाकुची मधुरा तिक्ता कटुपाका रसायनी ॥
विष्टम्भहृद्धिमा रुच्या सरा श्लेष्मास्रपित्तनुत् ।
रूक्षा हृद्या श्वासकुष्ठमेहज्वरकृमिप्रणुत् ॥ २०८ ॥
तत्फलं पित्तलं कुष्ठकफानिलहरं कटु । केश्यं त्वच्यं क्रि[1]मिश्वासकासशोथामपाण्डुनुत् ॥२०९॥

बाकुची के नाम और उसके तथा उसके फल के गुण—अवल्गुज, बाकुची, सोमराजी, सुपर्णिका, शशिलेखा, कृष्णफला, सोमा, पूतिफली, सोमवल्ली, कालमेषी और कुष्ठघ्नी ये सब बाकुची के नामान्तर हैं। बाकुची-मधुर तथा तिक्तरस युक्त, विपाक में कटुरस युक्त, रसायन, विष्टम्भ को दूर करने वाली, शीतवीर्य, रुचिजनक, सारक (दस्तावर), कफ तथा रक्तपित्त को दूर करने वाली होती है तथा यह रूक्ष, हृदय के लिए हितकर तथा श्वास, कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर और कृमि को नष्ट करने वाली होती है। इसका फल—पित्तकारक, कुष्ठ, कफ और वात को दूर करने वाला, कटुरसयुक्त, केश तथा त्वचा के लिए हितकारी होता है तथा कृमि, श्वास, कास, शोथ आम और पाण्डु इन सब रोगों को नष्ट करने वाला होता है ॥ २०६-२०९ ॥

---

१. पाठा० वमिश्वास।

७२ बाकुची

हि०—बाकुची, बकुची, बाबची, बावची, सोमराजी । **बं०**—लताकस्तूरी, हाकुच । **म०**—बावची । **गु०**—बाबची, बावची । **क०**—बाउचिगे । **ते०**—भवचि, कालाजिउजा । **ता०**—कर्पोकरशि । **फा०**—बावकुचि । **अं०**—Psoralea seed (सोरॅलिया सीड); Malaya tea (मलाया टी) । **ले०**—*Psoralea corylifolia, Linn.* (सोरॅलिया कोरिलीफोलिया, लिन.) । Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) ।

बाकुची—प्रायः सब प्रान्तों के जंगली झाड़ियों में तथा खादर अथवा कंकरीली भूमि में उत्पन्न होती है एवं सिलोन में भी प्राप्त होती है । अमेरिका में भी इसकी कई उपजातियां होती हैं जिनके गुण भी इसी के समान हैं ।

इसका क्षुप–१–४ फीट तक ऊँचा, वर्षायु एवं स्वावलम्बी होता है । **पत्ते**–१–३ इञ्च के घेरे में छोटी अरणी के पत्तों के समान गोलाकार होते हैं । ये नालयुक्त, कड़े, चिकने, लहरदार दन्तुर एवं इनके दोनों पृष्ठों पर काले धब्बे होते हैं । इन ग्रन्थियों के चिह्न शाखाओं पर भी होते हैं । १०–३० छोटे, नीले बैंगनी रंग के पुष्प–१ से २ इञ्च लम्बे पुष्पदण्ड पर आते हैं । **फली**–छोटी, गोल, काली, चिकनी, एक बीज युक्त, अस्फोटी एवं फलभित्ति बीज से चिपकी होती है । **बीज**–बाकुची वास्तव में फल ही है जिसकी फलभित्ति बीजावरण से चिपकी रहती है । यह अण्डाकार, आयताकार, कुछ चिपटे, चिकने, अग्र की तरफ नुकीलें, काले रंग के एवं महीन गढों से युक्त होते हैं तथा तालद्वारा बड़ा करके देखने पर नहाने के स्पञ्ज की तरह दिखलाई देते हैं । इसको चबाने पर एक तीव्र गन्ध आती है तथा इनका स्वाद कडवा, तीता एवं दाहजनक होता है । औषधि कार्य में इनका तथा इनसे निकले तैल का व्यवहार किया जाता है ।

नोट—कुछ विद्वानों ने सोमराजी नाम से ले० व्हर्नोनिया ॲन्थेलमिंटिका (Vernonia anthelmintica Willd.) का ग्रहण किया है लेकिन वह नाम तो अरण्यजीरक का है जिसका वर्णन परिशिष्ट में किया गया है ।

रासायनिक संगठन—बाकुची के फलों में राल, उड़नशील तैल, तारपीन की तरह तैल, स्थिर तैल, एवं सोरॅलेन् (Psoralen) तथा आइसो–सोरॅलेन् (Iso-psoralen) नामक दो रवेदार पदार्थ पाये जाते हैं । बाकुची के कृमिघ्न तथा त्वच्य गुण इन्हीं रवेदार पदार्थों के मिश्रण से हैं । यह तैल में घुलने वाले (फ्युरोकाउमरिन्स–Furocoumarins) हैं । प्रथम सोरॅलेन अंजीर से प्राप्त होने वाले फिक्युसिन् (Ficusin) के समान होता है । इसकी फलभित्ति (Pericarp पेरीकार्प) से सोरॅलिडिन् (Psoralidin) नामक एक अन्य रवेदार पदार्थ भी प्राप्त होता है ।

गुण और प्रयोग—यह सौम्य उत्तेजक, वातनाडियों के लिए बल्य, कृमिघ्न, त्वक् दोषहर, व्रण शोधक, व्रणरोपक, मृदुविरेचक, मूत्रल, स्वेदल एवं वृष्य है ।

इसका अन्तः बाह्य प्रयोग श्वित्र, कुष्ठ, पामा, कण्डु, गजचर्म (सोरियासिस्–Psoriasis) एवं चर्म के अन्य शोथयुक्त विकारों में किया जाता है ।

(१) श्वित्र में चौथाई भाग हरताल के साथ गोमूत्र में पीस कर इसका लेप लाभदायक होता है । खैर एवं आंवले के क्वाथ के साथ इसके चूर्ण का सेवन भी लाभदायक है । सालभर तक यदि बाकुची एवं काले तिल का सेवन करें तो सभी प्रकार के कुष्ठ अच्छे होकर शरीर की कान्ति बढ़ती है । इसको जल के साथ पीस कर भी लेप किया जा सकता है । नवीन तथा युवावस्था के श्वेत कुष्ठ रोग में शीघ्र लाभ होता है किन्तु अधिक दिन तक लगाना पड़ता है । इससे दाग लाल हो जाते हैं ।

(२) बाकुची में रहने वाला तैल ही प्रधान कार्यकारी भाग है । यह तैल चर्म के ऊपर रहने वाले मालागोलाणुओं (Streptococci) के लिये घातक है । अंतस्त्वचीय धमनिकाओं के ऊपर इसका निश्चित प्रभाव पड़ता है जिससे इनका विस्फार होकर वहां रक्तरस (Plasma–प्लाज्मा) का प्रवाह बढ़ जाता है । इससे चर्म लाल हो जाता है तथा रञ्जक कोषों (मेलॅनोब्लास्टस्–Melanoblasts) को उत्तेजना मिलकर रञ्जक का निर्माण होता है । यह रञ्जक, सफेद दागों में फैलकर उसका वर्ण परिवर्तन कर देता है । अधिकांश लोगों में इससे सफेद दाग लाल हो जाते हैं लेकिन कुछ (५%) लोगों में इससे छाले पड़ जाते हैं इसलिए इसको अन्य चीजों के साथ आवश्यक प्रमाण में मिश्रण कर लेना चाहिये जिससे दागों में केवल लाली आ जाय । श्वित्र के साथ-साथ यदि अन्य आंत्रिक विकार जैसे आमातिसार आदि हों तो उनकी भी चिकित्सा साथ-साथ करनी चाहिये ।

(३) फिरंगेतर श्वित्र में बाकुची के तैलीय राल सदृश सत्व (Oleo-resinous extract) का लेप लाभदायक होता है । इस सत्व में सोरॅलेन् तथा आइसो–सोरॅलेन् दोनों ही रहते हैं । इसको चॉलमोगरा के तैल के साथ मिलाकर लगाया जाता है तथा आन्तरिक प्रयोग भी करते हैं जिससे श्वित्र, सिध्म तथा सोरियासिस् में लाभ होता है । लगाने के लिये इसके साथ २ भाग चॉलमोगरा का तैल तथा २ भाग लॅनोलिन् मिलाकर मलहम बनाकर दिन में एक, दो बार दागों पर मलना चाहिये । करीब ३ महीने में लाभ होता है ।

मात्रा—बीज चूर्ण १–३ माशा ।

अथ चक्रमर्दः (चकवड)। तस्यै नामानि तत्फलस्य च गुणांश्चाह

चक्रमर्दः प्रपुन्नाटो दद्रुघ्नो मेषलोचनः । पद्माटः स्यादेड जश्चक्री पुन्नाट इत्यपि ॥२१०॥
चक्रमर्दो लघुः स्वादू रूक्षः पित्तानिलापहः । हृद्यो हिमः कफश्वासकुष्ठदद्रुकृमीन्हरेत् ॥२११॥
हन्त्युष्णं तत्फलं कुष्ठकण्डूदद्रुविषानिलान् । गुल्मकासक्रिमिश्वासनाशनं कटुकं स्मृतम् ॥२१२॥

चकवड़ के नाम और उसके तथा उसके फल के गुण—चक्रमर्द, प्रपुन्नाट, दद्रुघ्न, मेषलोचन, पद्माट, एडगज, चक्री और पुन्नाट ये सब चकवड़ के नामान्तर हैं । **चकवड़**–लघु, स्वादिष्ट, रूक्ष, पित्तवात (वातपित्त) नाशक, हृदय के लिए हितकर, शीतवीर्य, कफ, श्वास, कुष्ठ, दद्रु (दाद) और कृमि को नष्ट करने वाला होता है । **चकवड़ का फल**—उष्णवीर्य और कटु रस युक्त होता है एवम् कुष्ठ, खुजली, दाद, विष, वायु, गुल्म, कास, कृमि और श्वास इन सब रोगों को दूर करने वाला होता है ॥ २१०–२१२ ॥

७३ चकवड़

हि०—चकवड़, पवांड़, पवांर । **बं०**—चकुन्दा, पनेवार । **म०**—तरोटा, टाकला । **गु०**—कुंवाडीयो । **क०**—तगचे । **ते०**—तगिरिस । **ता०**—उशिहृगरै । **पं०**—पंवार, चकुन्दा । **फा०**—संगेसतूया । **अ०**—कुल्व । **अं०**—Fetid cassia (फीटिड कॅशिया) । **ले०**—*Cassia tora Linn.* (कॅशिया टोरा, लिन.) । Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों के जङ्गल, झाड़ी, खेत, मैदान, कूड़ा करकट, सड़क के किनारे एवं गन्दे स्थानों में आप ही आप उत्पन्न होता है ।

इसका २–५ फीट तक ऊँचा एकवर्षायु क्षुप वर्षा ऋतु में बहुतायत से उत्पन्न होता है । **पत्र**–संयुक्त पक्षाकार और पत्रक–तीन जोड़े, अभिलट्वाकार, १–२ इञ्च लंबे, चिकने, मचकीले, दुर्गन्ध

युक्त एवं स्पष्ट शिराजाल से युक्त होते हैं। इसके निचले पत्रकों के बीच में एक ग्रन्थि होती है। **पुष्प**-छोटे पीले रंग के अक्षकोणीय एवं दो-दो के जोड़े में आते हैं। **फलियां**-४-८ इञ्च लम्बी, पतली, चौकोनी, कुछ मुड़ी हुई तथा इनका अग्र नुकीला होता है। **बीज**-बहुत, कड़े एवं मेथी के समान होते हैं। इसके कोमल पत्तों का साग बनाया जाता है तथा औषधि में पंचाग का व्यवहार किया जाता है।

इसी का एक दूसरा भेद है जिसे कॅशिया ऑब्ट्यूसिफोलिया (Cassia obtusifolia) कहते हैं। इसका क्षुप भी ऊपर के क्षुप के समान ही होता है लेकिन इसमें दुर्गन्ध नहीं होती तथा इसके आधारीय पत्रकद्वय के बीच में एक ग्रन्थि होती है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एमोडिन (Emodin) नामक एक ग्लूकोसाइड पाया जाता है जो क्राइसोफेनिक् एसिड (Chrysophanic acid) की तरह होता है। इसके पत्तों में कॅथार्टिन (Cathartin) नामक एक विरेचक द्रव्य तथा लाल रंग होता है।

गुण और प्रयोग—इसके **बीज** बल्य, दीपन, पाचन एवं त्वक् दोषहर होते हैं तथा **पत्र** विरेचक, कृमिघ्न एवं पार्यायिक ज्वरहर होते हैं।

(१) इसके बीज की क्रिया त्वचा पर होती है। दाद, खुजली, कुष्ठ, सिध्म, पामा एवं छाजन (एक्झिमा) आदि में यह बहुत लाभदायक है। जिन रोगों में त्वचा मोटी हो जाती है उनमें इससे विशेष लाभ होता है। दाद में मूली के पत्ते के साथ या नींबू के रस के साथ या करञ्ज के तेल के साथ पीस कर इसे लगाया जाता है। छाजन में मट्ठे के साथ पीस कर लगाते हैं। सिध्म के लिये कांजी में पीसकर लगाना चाहिये। व्रणवस्तु के स्थान पर उत्पन्न होनेवाली तन्तु युक्त गांठों (कीलॉयड-Cheloid) के लिये इसके बीजों को सेहुंड के दूध में भिगोकर फिर गोमूत्र में पीस कर लेप करने से लाभ होता है। अर्धावभेदक आदि शिरोरोग में कांजी के साथ इसका लेप उपयोगी है। इसका सेवन कॉफी के रूप में भी किया जाता है।

(२) इसके **पत्तों** का क्वाथ बच्चों के विकारों में विशेषकर दन्तोद्भेद के समय ज्वर आदि होने पर मृदु विरेचक के रूपमें दिया जाता है। इसका रस भिलावे से उत्पन्न दाह पर लगाया जाता है। इसका पोल्टिस बनाकर फोड़ों पर बांधने से फोड़े जल्दी पक जाते हैं एवं वातरक्त, गृध्रसी तथा संधिवात में भी इनके बांधने से वेदना कम होती है। इसके पत्तों को एरण्ड तैल में भूनकर दुर्गंध युक्त व्रणों में पुल्टिस के रूप में प्रयोग से लाभ होता है।

मात्रा—बीज चूर्ण १-२ माशा।

अथातिविषा (अतीस)। तस्या नामगुणानाह

विषा त्वतिविषा विश्वा शृङ्गी प्रतिविषाऽरुणा। शुक्लकन्दा चोपविषा भङ्गुरा घुणवल्लभा॥
विषा सोष्णा कटुस्तिक्ता पाचनी दीपनी हरेत्। कफपित्तातिसारामविषकासवमिक्रिमीन्॥

अतीस के नाम तथा गुण—विषा, अतिविषा, विश्वा, शृङ्गी, प्रतिविषा, अरुणा, शुक्लकन्दा, उपविषा, भङ्गुरा और घुणवल्लभा ये सब अतीस के नाम हैं। अतीस—उष्णवीर्य, कटु तथा तिक्तरस युक्त; पाचक तथा अग्निदीपक होती है एवम् कफ, पित्त, अतिसार, आम, विष, कास, वमन **और कृमि इन सब रोगों को दूर करनेवाली होती है॥ २१३-२१४॥**

७४ अतीस

हि०-अतीस। बं०-आतइच। म०-अतिविष। पं०-अतीस। ते०-अतिवस। कं०-अतिविषा। गु०-अतिवखनी कली। ता०-अतिवदयम। भोटि०-अइस। अं०-Indian Atees (इन्डियन् अतीस)। ले०-*Aconitun heterophyllum, Wall.* (एकोनाइटम् हेटरोफाइलम्, वाल.); Fam. Ranunculaceae (रॅनन्क्युलेसी)।

यह हिमालय पहाड़ में कुमाऊँ से हसोरा तक शिमला और इसके आस पास में तथा चम्बा प्रान्त में ६ से १५ हजार फुट ऊँची चोटियों पर पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-२ से ४ फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-गोल, सीधा तथा विभिन्न आकार वाली पत्तियों से घिरा होता है। **पत्र**-नीचे के पत्तों के फलक प्रायः पांच विच्छेदों से युक्त एवं गोलाई लिये हुये ताम्बूलाकार या लट्वाकार-ताम्बूलाकार होते हैं। ऊपर के पत्ते छोटे तथा धार पर दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-नील अथवा हरितनील, १ से १॥ इञ्च लम्बे एवं चमकीले होते हैं। आभ्यंतर पुट का एक दल सबसे बड़ा और फणाकार होता है। **मूल**-मूल में दो कन्द होते हैं जिनमें एक पिछले वर्ष का और दूसरा नये वर्ष का होता है। नवीन कन्द लम्बगोल या शंकाकार, हाथी की सूंड की तरह, १ इञ्च लम्बा तथा १/४ से १/२ इञ्च मोटा होता है। कन्दत्वक्-पतली तथा श्वेताभ, फीके राख के रङ्ग की तरह होती है। कन्द-स्वाद में अत्यंत कडुवा, आसानी से टूट जाने वाला और भीतर से श्वेत तथा पिष्टमय पदार्थ से युक्त रहता है। इसे तोड़ने पर श्वेत मध्य भाग के चारों तरफ ४ काले धब्बे दिखलाई देते हैं। इनमें गन्ध नहीं रहती। इसमें कीडे बहुत जल्दी लग जाते हैं तथा कीडे लगने पर यह निःसत्व हो जाता है इसलिये औषधि में बिना कीडे लगे हुवे अच्छे मूलकन्द का ही व्यवहार करना चाहिये।

अन्य निघण्टुकारों ने वर्ण भेद से इसके ३, ४ भेद लिखे हैं लेकिन आजकल केवल एक ही भेद और मिलता है। जिसका वर्णन नीचे दिया गया है।

(क) Aconitum palmatum D. Don (एकोनाइटम् पामॅटम्) हि०-बखमा। सं०-प्रतिविषा।

इसके क्षुप पूर्वी हिमालय में सिकिम, गुर्वाल तथा मिश्मी पर्वतों में पाये जाते हैं।

इसके **मूल** अतीस की अपेक्षा अधिक लम्बे, कम मोटे, तोड़ने में सख्त, अधिक काले रङ्ग के तथा वजन में बहुत भारी होते हैं। इन पर गांठें होती हैं। गुण आदि में यह अतीस के समान ही है।

रासायनिक संगठन—वत्सनाभ वर्ग की औषधि होने पर भी यह विषैली नहीं है। इसमें एक अत्यन्त कडवा बिना रवेदार क्षाराभ अतीसिन (Atisine) होता है जो विषैला नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें एकोनाइटिक् एसिड (Aconitic acid), टॅनिक एसिड, अधिक मात्रा में पिष्टमय पदार्थ, वसा तथा ओलिइक्, पामिटिक् एवं स्टियरिक ग्लिसराइड्स (Oleic, Palmitic and Stearic Glycerides) के मिश्रण तथा गोंद, इक्षु शर्करा एवं राख २% आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अतीस दीपन, पाचन, तिक्तपौष्टिक, ग्राही, वृष्य, बल्य एवं विषमज्वरहर है। इसके सेवन से शरीर की विनिमय क्रिया सुधरती है। इसको ४-८ माशा देने पर भी विषैला परिणाम नहीं होता।

इसका प्रयोग आमातिसार, विषमज्वर, कास, वमन, कुपचन, शूल, नवीन शोथयुक्त विकार एवं बालरोगों में किया जाता है।

(१) तिक्तपौष्टिक तथा ग्राही होने के कारण अतिसार एवं संग्रहणी में इससे अच्छा लाभ होता है। बच्चों के वमन, अतिसार, ज्वर एवं खांसी में इससे बहुत लाभ होता है। इससे पाखाना पीला होकर मात्रा कम होती है। बच्चों तथा प्रसूता में यदि अतिसार हो तो इसके साथ शृङ्ग भस्म देना चाहिये। अतीस के साथ भांग एवं घोड़वच मिलाकर अतिसार में दिया जाता है। इसके साथ सुगन्धि, कडुवी पौष्टिक तथा ग्राही अन्य औषधियां मिलाने से ज्यादा लाभ होता है।

(२) इसको अधिक मात्रा में देने पर ही इसका ज्वरघ्न गुण स्पष्ट होता है लेकिन उस मात्रा में ज्वर कम होने के साथ-साथ विबन्ध भी हो जाता है जो विषमज्वर के लिये अहितकारक है। इसलिये विषमज्वर में इसकी अपेक्षा कुटकी ज्यादा लाभदायक होती है। ज्वर पश्चात दौर्बल्य दूर करने के लिये दीपनीय एवं तिक्त पौष्टिक के रूप में इसका उपयोग अधिक अच्छा है। ज्वरातिसार के लिये यह अत्युत्तम औषधि है। इसमें १५ र० अतीस तथा १५ र० रसाञ्जन जल के साथ देते हैं। इसके साथ सुगन्धि पदार्थ मिलाने से ज्यादा लाभ होता है। बड़ों की अपेक्षा बच्चों के ज्वरातिसार में यह ज्यादा उपयोगी है।

(३) मूषिकविष में इसको मधु के साथ सुबह चटाया जाता है।

(४) कृमियों को निकालने के लिये इसके साथ विडंग का प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ½-२ मा० ज्वरातिसार, अतिसार में। चूर्ण-२-४ र० बल्य, तिक्तपौष्टिक।

अथ लोध्रः 'शावरलोध्र-पटियालोध' इति लोके प्रसिद्धयोर्नामगुणानाह

लोध्रस्तिल्वस्तिरीटश्च[1] शावरो गालवस्तथा।
द्वितीयः पट्टिकालोध्रः क्रमुकः स्थूलवल्कलः। जीर्णपत्रो बृहत्पत्रः पट्टी लाक्षाप्रसादनः॥
लोध्रो ग्राही लघुः शीतश्चक्षुष्यः कफपित्तनुत्। कषायो रक्तपित्तासृग्ज्वरातीसारशोथहृत्॥

शावरलोध्र और पटियालोध के नाम तथा गुण—लोध्र, तिल्व, तिरीट, शावर, गालव ये नाम लोध अर्थात सावरलोध के हैं और दूसरा जो पटिआलोध (पठानी लोध) है उसके-पट्टिकालोध्र, क्रमुक, स्थूलवल्कल, जीर्णपत्र, बृहत्पत्र, पट्टी और लाक्षाप्रसादन ये सब नाम हैं। **दोनों प्रकार के लोध**—ग्राही, लघु, शीतवीर्य, नेत्रो के लिए हितकर, कफपित्तनाशक, कषायरस युक्त, रक्तपित्त, रक्तविकार, ज्वर, अतिसार और शोथनाशक होते हैं॥ २१५-२१६॥

७५ लोध

हि०-लोध। **बं०-म०-क०**-लोध,लोध्र। **गु०**-लोधर। **ते०**-लोद्दुगचेट्टु। **अ०**-मुगाम। **अं०**-Lodh (लोध); Symplocos Bark (सिम्प्लोकोस् बार्क)। **ले०**-*Symplocos racemosa, Roxb.* (सिम्प्लोकॉस् रेसिमोसा, राक्स्.)। Fam. Symplocaceae (सिम्प्लोकेसी)।

यह भारत के पूर्वोत्तर प्रान्त नेपाल, कुमाऊँ से आसाम, बंगाल, छोटा नागपूर, बर्मा आदि प्रदेशों के जङ्गल और छोटे पहाड़ों में पाया जाता है।

इसका छोटा **वृक्ष**-२० फुट तक ऊँचा होता है। **छाल**-खुरदरी और गहरे धूसर (Grey) वर्ण की होती हैं। **काट**-(Blaze-ब्लेज़)—आधा इञ्च तक मोटा, रेशेदार, हलका पीला परन्तु हलके नारंगीभूरे रंग की रेखाओं से युक्त होता है। **पत्ते**-२॥ से ७ इञ्च लम्बे, अण्डाकार-आयताका या अण्डाकार-भालाकार; पत्राग्र-तीक्ष्ण, कुण्ठितलम्ब या कुण्ठित; पत्र तट-आरावत, अस्पष्ट गोलदन्तुर या क्वचित अखण्ड; पत्र पृष्ठ-कोमल पत्तों का ऊपर का पृष्ठ चिक्कण तथा अधोपृष्ठ मृदु रोमश, तथा अन्य पत्रों के पृष्ठ चिक्कण या मध्यशिरा पर कुछ रोमों से युक्त, चमकीले तथा ऊपर का पृष्ठ गहरे हरे रङ्ग का; शिराएं-बगल की शिराएं सूखे हुवे पत्तों में स्पष्ट, ५-९ जोड़ी एवं पत्रवृन्त-⅙ से ⅓ इञ्च लम्बा होता है। आश्विन से अगहन तक फूल फल आते हैं। **फूल**-गुच्छों में, पीले और सुगन्धित होते हैं। **फल**-अष्ठिफल, प्रायः आध इञ्च लम्बे, आयताकार, चिक्कण, बैंगनी काले रङ्ग के एवं उनका बाह्यकोष चिपका रहता है। इसकी **छाल** का व्यवहार किया जाता है। इसका बाह्यपृष्ठ चिकना धूसरित हरा (यदि कार्क (Cork) के साथ हो तो) तथा आडी धारियों से युक्त, अंदर का पृष्ठ हल्का पीला लेकिन रक्ताभ बादामी दिखलाई देता है तथा इसमें लम्बाई में गढ़ेदार धारियां होती हैं। **भग्न**-छोटा, बाह्य भाग में दानेदार लेकिन अन्दर का कुछ तन्तु युक्त। बाह्य भाग (Cortical) रक्ताभ बादामी रङ्ग का। **गन्ध**-हलकी मधुर लेकिन बन्द डिब्बों में रखने पर तेज हो जाता है। **स्वाद**-मधुर, सुगन्धि तथा कुछ दाहजनक।

नोट—एक अन्य प्रकार के पठानी लोध्र का वर्णन आगे किया गया है। लोध्र तथा पठानीलोध्र दोनों ही के गुण करीब करीब समान ही हैं तथा दोनों ग्राही एवं अतिसारादि में लाभदायक होते हैं। लोध्र का एक पर्याय तिल्वक आया है। चरक के कल्पस्थान में तिल्वक् के मूल की (अन्दर की त्वचा रहित) बाह्य त्वचा का उपयोग विरेचन कराने के लिये किया गया है। इससे भ्रम होता है कि एक ही वस्तु विरेचक तथा ग्राही कैसे हो सकती है। व्यवहार में भी लोध्र की छाल विरेचक नहीं होती। शावर या पठानी लोध दोनों की मूल त्वक् का प्रयोग किया गया किन्तु उससे विरेचन नहीं हुआ। इसके संबन्ध में एक श्लोक मिलता है।

तिल्वकोऽपि तदाकारो बृहत्पत्रो विशेषतः।
रक्तत्वचो विरेकी च बृहल्लोध्रेति कथ्यते॥

डल्हण तिल्वक् के सम्बन्ध में लिखते हैं—**तिल्वकः रोध्रः, अन्ये तु रोध्राकारो रक्तत्वक्को बृहत्पत्रो वैरेचनिकः।** इससे मालूम होता है कि लाल छाल वाला, दीर्घ पत्र वाला एवं विरेचक गुणवाला कोई लोध्र के समान वृक्ष होता है जो तिल्वक है। अभी इसका निर्णय नहीं हो पाया है। कुछ विद्वानों ने तिल्वक् के स्थान पर रेवाचीनी की छाल का उपयोग विरेचन के लिये करने को कहा है।

रासायनिक संगठन—लोध की छाल में सम्पूर्ण क्षाराभ की मात्रा करीब ०·३२% होती है जिसमें से एक रवेदार क्षाराभ लोटयुराइन (Loturine) ०·२४%, अन्य चूर्णरूप में क्षाराभ लोटयुरिडाइन (Loturidine) ०·०६% एवं एक और रवेदार क्षाराभ कोल्लोटयुराइन (Colloturine) ०·०२% होते हैं। इसकी राख में सोडियम् कार्बोनेट (Sodium carbonate) रहता है तथा छाल में लाल रंजक पदार्थ बहुत अधिक मात्रा में होते हैं। इसमें टॅनिन द्रव्य नहीं होते। इसमें का लोटयुराइन क्षाराभ अॅब्राइन (Abrine) एवं हारमॅन (Harman) के सदृश होता है। इसके सभी क्षाराभ विरल अम्ल घोल में अत्यन्त तेज नील-नीललोहितातीत चमक उत्पन्न करते हैं।

गुण और प्रयोग—लोध्र की छाल ग्राही, शीतल, रक्तस्तंभक, श्लेष्मघ्न, व्रणरोपक, शोथघ्न, बल्य एवं चक्षुष्य है। इससे छोटी रक्तवाहिनियों का संकोच होकर रक्तस्राव बन्द होता है। इससे श्लेष्मल त्वचा को शक्ति प्राप्त होकर एवं उसका संकोच होकर श्लेष्मा की उत्पत्ति कम होती है।

इसका उपयोग अतिसार, प्रवाहिका, रक्तातिसार, रक्तप्रदर, अत्यार्तव, श्वेतप्रदर, सर्वाङ्गशोथ, यकृद्विकार, ज्वर एवं नेत्ररोगों में किया जाता है।

(१) लोध्र अतिसार एवं प्रवाहिका के लिये बहुत अच्छी औषधि है। इसमें इसके प्रवाही सत्त्व को ½ ड्रा० की मात्रा में देने से इपीकाक से जिनको लाभ नहीं हुआ था उन्हें भी लाभ हुआ। इसमें बेल की गुद्दी, कुचला एवं कुरैया की छाल के साथ इसका प्रयोग करते हैं या इसके साथ मुलेठी, अनार का छिलका एवं कायफल का प्रयोग किया जाता है।

(२) रक्तप्रदर में इसके चूर्ण को १० र० की मात्रा में दिन में ३, ४ बार मिश्री के साथ ३, ४ दिन तक देने से बहुत लाभ होता है। इससे गर्भाशय का संकोच होकर उसकी शिथिलता दूर होती है जिससे रक्तप्रदर एवं श्वेतप्रदर आदि में यह उपयोगी है। गर्भिणी मे ७ वें या ८ वें महीने में यदि गर्भ में अधिक चलन हो तो इसे छोटी पीपल एवं मधु के साथ चटाने से गर्भाशय संकोच होकर चलन कम हो जाता है।

(३) आंखों में लाली तथा सूजन होने पर इसको पलकों के चारों तरफ लगाते हैं। इसके साथ मुलेठी, रसौंत एवं भुनी फिटकिरी का उपयोग लेप में किया जाता है।

(४) श्लीपद (Filaria = फाइलेरिया) के कारण उत्पन्न पायसमेह (Chyluria = काइलूरिया) तथा फीलपांव (Elephantiasis = एलिफॅन्टियासिस्) में यह लाभदायक सिद्ध हुआ है।

(५) कुष्ठ एवं व्रण आदि में इसका अंतः बाह्य प्रयोग किया जाता है। प्रसूता में योनिक्षत के लिये इसका लेप उपयोगी है। गलशुण्डिका वृद्धि एवं मसूढ़ों से यदि खून जाता हो तो इसके क्वाथ से गण्डूष कराते हैं तथा रसौंत, नागरमोथा एवं लोध्र का मधु के साथ मसूढ़ों पर लेप करते हैं। सूजन पर लोध्र के लेप से सूजन कम हो जाती है।

मात्रा—चूर्ण ५-१० र०।

७६ पठानी लोध।

हि०–पठानी लोध। बं०–पटिया लोध। गु०–पठाणी लोधर। पं०–पठानी लोद, लान्दर, लोज, लोश। म०–पट्टी लोध्र। ते०–तेल लुद्दुगु। क०–बिली लोध्र। सिन्ध०–लोदर, पठानी लोध। ले०–*Symplocos crataegoides Buch. Ham.* (सिम्प्लोकॉस् क्रेटेगॉइडिस्)। (Fam. Symplocaceae (सिम्प्लोकेसी))।

इसके वृक्ष हिमालय में सिन्ध नदी से आसाम तक, खासिया पहाड़ और मरतवान के पहाड़ों में ३–९ हजार फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं। यह वृक्ष–२० फुट तक ऊँचा होता है। छाल–हलके सफेद रंग की और कार्क युक्त होती है तथा उस पर खड़ी नालियां रहती हैं। काष्ट–आधा इञ्च मोटा, हलका पीला व रेशेदार होता है। पत्ते–२–४ इञ्च लम्बे, १–१॥ इञ्च चौड़े, पतले, अण्डाकार या लट्वाकार, लंबाग्र और अग्र की ओर तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं तथा सूखने पर पीले रङ्ग के हो जाते हैं। फूल-सफेद, समशिखाकार गुच्छों में तथा सुगन्धित होते हैं। इसके फूलों की सुगन्धि दूर तक जान पड़ती है। फल–चौथाई इञ्च से तिहाई इञ्च तक लम्बे तथा गोल होते हैं। उनसे मुड़ा हुआ गोल बीज निकलता है। इसके गुण और प्रयोग आदि सब उपर्युक्त लोध्र के समान ही हैं।

अथ लशुनः, तस्य नामान्याह

लशुनस्तु रसोनः स्यादुग्रगन्धो महौषधम्। अरिष्टो म्लेच्छकन्दश्च यवनेष्टो रसोनकः ॥२१७॥

लहसुनके नाम—लशुन, रसोन, उग्रगन्ध, महौषध, अरिष्ट, म्लेच्छकन्द, यवनेष्ट और रसोनक ये नाम लहसुन के हैं ॥ २१७ ॥

अथ लशुनोत्पत्तिमाह

यदाऽमृतं वैनतेयो जहार सुरसत्तमात्। तदा ततोऽपतद् बिन्दुः स रसोनोऽभवद् भुवि ॥

लहसुन की उत्पत्ति—जिस समय गरुडने इन्द्र के पास से अमृत हरण किया था उस समय (उस अमृत) से जो बिन्दु (अमृत-बिन्दु) पृथ्वी पर गिरा उसी से लहसुन की उत्पत्ति हुई ॥२१८॥

अथ रसोनशब्दस्य निरुक्तिमाह

पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः। तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः ॥

लहसुन के 'रसोन' नामकी व्युत्पत्ति—लहसुन में ६ प्रकार के रसों में से ५ प्रकार के रस रहते हैं किन्तु केवल एक अम्ल रस नहीं रहता है, अत एव रस अर्थात् केवल अम्ल रस से ऊन अर्थात् शून्य रहने से द्रव्यों के गुणादिक जानने वाले विद्वानों ने इसका 'रसोन' नाम रक्खा है ॥

अथ लशुने रसस्थानान्याह

कटुकश्चापि मूलेषु तिक्तः पत्रेषु संस्थितः। नाले कषाय उद्दिष्टो नालाग्रे लवणः स्मृतः ॥
बीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः ॥ २२० ॥

लहसुन में कटु आदि पांचो रसों के रहने के स्थान—इसके मूलभाग में कटु रस रहता है, पत्तों में तिक्त रस, नाल में कषाय रस, नाल के अग्रभाग में लवण रस तथा बीज में मधुर रस रहता है, ऐसा लहसुन के गुणों के जानने वाले विद्वानों ने कहा है ॥ २२० ॥

अथ लशुनगुणानाह

रसोनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धोष्णः पाचनः सरः। रसे पाके च कटुकस्तीक्ष्णो मधुरको मतः ॥
भग्नसन्धानकृत्कण्ठ्यो गुरुः पित्तास्रवृद्धिदः। बलवर्णकरो मेधाहितो नेत्र्यो रसायनः ॥२२२॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूल–विबन्धगुल्मारुचिकासशोफान्।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तु–समीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥ २२३ ॥

लहसुन के गुण—लहसुन बृंहण (धातुवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक), स्निग्ध, उष्णवीर्य, पाचक तथा सारक होता है। और वह रस तथा पाक में कटु तथा मधुर रस युक्त, तीक्ष्ण, भग्न-सन्धान-कारक (टूटी हड्डियों को जोड़ने वाला), कण्ठ को हितकारी, गुरु, पित्त एवं रक्तवर्धक, शरीर में बल तथा वर्ण को उत्पन्न करने वाला, मेधाशक्ति तथा नेत्रों के लिये हितकर और रसायन होता है। एवं हृद्रोग, जीर्णज्वर, कुक्षिशूल, मल तथा वातादिक की विबन्धता, गुल्म, अरुचि, कास, शोथ, बवासीर, कुष्ठ, अग्निमान्द्य, कृमि, वायु, श्वास और कफ को नष्ट करता है ॥ २२१–२२३ ॥

अथ लशुनसेविनां हिताहितपदार्थानाह

मद्यं मांसं तथाऽम्लञ्च हितं लशुनसेविनाम्। व्यायाममातपं रोषमतिनीरं पयो गुडम् ॥
रसोनमश्नन् पुरुषस्त्यजेदेतान् निरन्तरम् ॥ २२५ ॥

लहसुन सेवन करनेवालों के लिये हितकर तथा अहितकर पदार्थ—मद्य, मांस तथा अम्लरस-युक्त भक्ष्य पदार्थ ये सब लहसुन खाने वालों के लिये हितकर हैं। और व्यायाम, आतप (धूप में फिरना), क्रोध करना, अत्यन्त जल पीना, दूध और गुड़ इन सबों को लहसुन खाने वाले पुरुष सदा छोड़ दें, क्योंकि ये सब अहितकर हैं ॥ २२४–२२५ ॥

७७ लहसुन।

हि०–लहसुन, लशुन। बं०–रसुन। म०–लसूण। क०–बेल्लुळ्ळि। ते०–वेल्लुळ्ळि, तेल्लगिड्डा। ता०–वळ्ळपुंडु। गु०–लसण। सिंधी–थोम। आसा०–नहरु। भोटि०–गोक्पस। फा०–सीर।

अ०–सूम, फूम । यू०–स्कूर्दून । अं०–Garlic (गार्लिक) । ले०–*Allium sativum, Linn.* (एलियम् सटाइवम् , लिन०) । Fam. Liliaceae (लिलिएसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में बोया जाता है । विशेषकर पश्चिमोत्तर प्रदेश, गढ़वाल, कुमाऊँ, पंजाब एवं काश्मीर आदि में अधिक उत्पन्न होता है ।

इसका बहुवर्षायु **क्षुप**–करीब १ फुट तक ऊँचा होता है । **पत्र**–चिपटे, लम्बे, १ इञ्च से कम चौड़े एवं इनका अग्र लम्बा होता है । **पत्रकोश**–३–४ इञ्च लम्बा होता है तथा पुष्प व्यूह को घेरे रहता है । **पुष्पव्यूह**–सवृन्त मूर्धज, छोटे, घने एवं पतले, शुष्क कोणपुष्पकों से युक्त होते हैं । इसके **कन्द** को लहसुन कहा जाता है जिसके अन्दर ८–२० जावा होते हैं । इसमें एक विशिष्ट प्रकार की तीव्र **गन्ध** तथा इसका **स्वाद** विशिष्ट प्रकार का कटु होता है ।

रासायनिक संगठन—इसमें एक बादामी पीले रंग का उड़नशील तैल ०·१–०·३% पाया जाता है जिसका वि. गु. १·०४६–१·०५७ होता है । इस तैल में प्रधान रूप से ॲलिल् डाइसल्फाइड् (Allyl disulphide, $C_6 H_{10} S_2$) तथा ॲलिल्–प्रॉपिल् डाइसल्फाइड् (Allyl-propyl disulphide) एवं अल्प मात्रा में उच्च श्रेणी के पॉलीसल्फाइड्स (Polysulphides) पाये जाते हैं । इसके अतिरिक्त लहसुन के मद्यसारीय सत्त्व से एक ॲलीसिन् (Allicin, $C_6 H_{10} S_2 O$) नामक प्रतितृणाण्वीय (Antibacterial) तरल द्रव्य प्राप्त किया गया है । इसके साथ ही साथ ॲलीसेशन् I तथा ॲलीसेशन् II (Allicetion I and Allicetion II) नामक दो अत्यन्त तीव्र प्रतिजैविक (Antibiotics) पदार्थ भी पाये गये हैं जो ईथर (Ether) में घुलनशील लेकिन जल में न घुलने वाले होते हैं ।

गुण और प्रयोग—लहसुन एक बहुत ही उपयोगी औषधि है । प्राचीन काल से इसका प्रयोग किया जाता रहा है और आधुनिक विद्वानों ने भी इसकी भूरि–भूरि प्रशंसा की है । राजयक्ष्मा (Tuberculosis) एवं अन्य फुफ्फुसविकार, वातविकार, शैथिल्यप्रधान कुपचन (Atonic dyspepsia) एवं व्रण आदि के लिये यह बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ है । काश्यपसंहिता में लशुनकल्प नामक एक स्वतन्त्र अध्याय में इसका वर्णन किया गया है । धार्मिक ग्रन्थों में इसका सेवन निषिद्ध माना है ।

लहसुन उष्ण, दीपन, पाचन, वातहर, स्वेदजनन, मूत्रल, उत्तेजक, कफनिःसारक, बल्य, वृष्य, रसायन, दुर्गन्धहर एवं उत्तम प्रतिदूषक (Antiseptic) है । इसमें जो उड़नशील तैल होता है उसका उत्सर्ग त्वचा, फुफ्फुस एवं वृक्क द्वारा होता है । फुफ्फुस से उत्सर्ग के समय इससे कफ ढीला हो जाता है तथा उसमें के जीवाणुओं का नाश होकर कफ की दुर्गन्ध दूर होती है । वात नाडी संस्थान पर इसका उत्तेजक प्रभाव पड़ता है । **अधिक मात्रा में इसके** प्रयोग से वमन, विरेचन, एवं शिरःशूल आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं । बच्चों में इसका सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिये । अधिक मात्रा में सेवन करने पर कभी कभी मृत्यु भी हो सकती है ।

इसका बाह्य प्रयोग त्वग्रागकारक (Rubefacient) एवं प्रतिदूषक औषधि के रूप में किया जाता है । अधिक समय तक त्वचा के साथ सम्पर्क होने से स्फोट उत्पन्न होते हैं ।

(१) यक्ष्मा दण्डाणु से उत्पन्न सभी विकृतियों जैसे फुफ्फुसविकार, स्वरयन्त्रशोथ, चर्मविकार, अस्थिव्रण एवं नाडीव्रण आदि में यह निश्चित लाभदायक सिद्ध हुआ है । लहसुन के रस को इनमें पिलाया जाता है तथा इसका स्थानिक उपयोग भी किया जाता है । स्वरयंत्र शोथ में इसका टिंक्चर ½–१ ड्रा. दिन में २, ३ बार देते हैं । पुराने कफविकार जैसे कास, श्वास, स्वरभङ्ग, श्वसनिका शोथ, श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) एवं श्वासकृच्छ्र आदि में इसका अवलेह बनाकर उपयोग किया जाता है । लहसुन एवं वायविडङ्ग का सेवन भी लाभदायक है । बच्चों के कुक्कास में इसको ३,४ घण्टे पर सुंघाया जाता है तथा इसके रस को पिलाते भी हैं जिससे कष्ट कम हो जाता है । फुफ्फुसकोथ (Gangrene of lungs) में इसके टिंक्चर (५ में १) का उपयोग बहुत सफल रहा है । प्रारम्भ में इसको कम मात्रा में देना चाहिये तथा बाद में २० बूंद तक दिन में ३ बार देना चाहिये । थोड़े ही समय में ज्वर, कफ की दुर्गन्ध, स्वेदाधिक्य एवं अग्निमांद्य आदि दूर होकर लाभ होता है । इसी प्रकार खण्डीय फुफ्फुसपाक (Lobar pneumonia) में भी इसके टिंक्चर को ३० बूंद हर चार घण्टे पर जल के साथ देने से ४८ घण्टे के अन्दर ही लाभ मालूम होने लगता है तथा ५, ६ दिन में ज्वर कम हो जाता है । इन सभी विकारों में आन्तरिक प्रयोग के साथ-साथ इसको छाती पर लगाते भी हैं ।

(२) वायविडङ्ग के साथ इसका क्षीरपाक सभी वातविकार में जैसे गृध्रसी, कटिग्रह, अर्दित, पक्षाघात, एकाङ्गघात, ऊरुस्तम्भ, अपतन्त्रक एवं अपस्मार आदि में लाभदायक है । आन्तरिक प्रयोग के साथ इससे सिद्ध तैल की मालिश भी की जाती है । अपस्मार में इसका फांट भोजन के पूर्व एवं पश्चात् देने का विधान है । अपतन्त्रक में इसको सुंघाया जाता है । इसी प्रकार ठण्डक लगने से उत्पन्न पीडा, जीर्ण आमवात एवं संधिशोथ तथा शिरःशूल आदि में इसको खिलाया जाता है तथा बाह्य लेप भी किया जाता है । बच्चों के वात विकारों में इसकी मालिश विशेष लाभदायक है ।

(३) शैथिल्यप्रधान कुपचन (Atonic dyspepsia), आध्मान, उदरशूल, विसूचिका, वमन, गुल्म, उदावर्त, आंव एवं केंचुवों की बीमारी में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है । केंचुवा (Round worms) में १०–३० बूंद रस दूध में मिलाकर पिलाते हैं । वातगुल्म में इसको पीस कर घृत के साथ खिलाने से लाभ होता है । ग्रहणीव्रण (Duodenal ulcer) में भी इसको लाभदायक माना गया है ।

(४) विषमज्वर में इसको तैल या घृत के साथ सुबह खिलाने से लाभ होता है । आन्त्रिक एवं सन्द्राम ज्वर (Typhoid and Typhus) के प्रतिबन्धन के लिये इसके टिंक्चर को १ ड्रा. हर ४ या ६ घण्टे पर शरबत के साथ देते हैं । यदि रोग के प्रारम्भ में ही इसका प्रयोग किया जावेगा तो ज्वर बढ़ने नहीं पावेगा । इसका उपयोग आन्त्रिक प्रतिदूषक (Intestinal antiseptic) औषधि के रूप में किसी भी अवस्था में किया जा सकता है । बच्चों को ½ ड्रा. की मात्रा में शरबत के साथ पर्याप्त है ।

(५) हृद्रोग में इसके प्रयोग से आध्मान कम हो कर हृदय के ऊपर का दबाव दूर होता है जिससे हृदय को बल प्राप्त होकर मूत्र अधिक होने लगता है तथा सर्वाङ्गशोथ एवं जलोदर में लाभ होता है ।

(६) इसके स्वरस को ३, ४ भाग जल में मिला कर क्षत तथा दुर्गन्धित व्रण प्रक्षालन के काम में लाया जाता है जिससे वेदना कम हो कर व्रण जल्दी ठीक होता है । कार्बोलिक् एसिड (Carbolic acid) की अपेक्षा इससे धातुओं को कम नुकसान होता है । इसी प्रकार शोथ, विद्रधि, बालतोड एवं दाद आदि पर इसका लेप लाभदायक है । इससे सिद्ध सर्षप तैल का उपयोग खुजली (पामा) में किया जाता है ।

रोहिणी (Diphtheria) नामक अत्यन्त उग्र गले के विकार में इसकी एक, एक कली चूसने को दी जाती है । ३, ४ घण्टे में १ छटांक तक लहसुन दिया जाता है । विकृत कला (Membrane) के दूर होने पर दिन भर में १ छटांक तक लहसुन देना चाहिये । शिशुओं के लिये इसके रस को २०–३० बूंद हर चार घण्टे पर शरबत के साथ देना चाहिये । एक रोगी में नाडीव्रण

(Sinus) के लिये इसके ताजे स्वरस को २ बूंद की मात्रा में हर छठे दिन स्थानिक सूचिकाभरण किया गया जिससे ४ इञ्च गहरा नाडीव्रण २ महीने के अन्दर ठीक हो गया।

उपजिह्वा शोथ में इसका स्थानिक प्रयोग सिल्वर नाइट्रेट् (Silver nitrate) की अपेक्षा अच्छा होता है।

(७) कर्णशूल में इसके गुनगुने रस का या इससे सिद्ध तैल का उपयोग लाभदायक है। इससे बाधिर्य में भी लाभ होता है।

(८) आर्तवप्रवर्तक होने के कारण इसका उपयोग अनार्तव एवं कष्टार्तव आदि में किया जाता है। गर्भिणी में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(९) मवेशियों में ॲन्थ्राक्स (Anthrax) नामक रोग के प्रतिबन्धन के लिये एवं सर्पविषादि में बाह्याभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है।

हानिनिवारक—कतीरा, धनियां एवं बादाम का तेल।

मात्रा—स्वरस १०—३० बूंद; कल्क २-३ माशा।

७८ एकपुतिया लहसुन

हि०—लहसुन, एककांदा लहसुन, एककली लहसुन, एकपुती लहसुन, एकपुतिया लहसुन। **बं०**—गंधुन। **अं०**—Shallot (शॅलोट), One Clove Garlic (वन क्लोव गार्लिक)। **ले०**—*Allium ascalonicum Linn.* (एलियम् ॲस्कॅलोनिकम् लिन) Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

यह अनेक प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसकी जड़ दो वर्ष या इससे कुछ अधिक ही जीवित रह सकती है। इसके साथ कई एक अण्डाकार लम्बे जावे रहते हैं। यह १-१॥ इञ्च तक लम्बा और मध्यमा अङ्गुली के समान मोटा होता है। पत्ते-उक्त लहसुन के समान लम्बे, पतले, चिकने और पोले से होते हैं। जड़ से ही अनेक पत्ते निकलते हैं और पत्तों के बीच से दण्ड निकलता है जो एक दो फुट लम्बा, नीचे फूला हुआ किन्तु क्रमशः ऊपर संकुचित और गोल होता है। इसके अन्त में लट्टू के समान फूलों का गुच्छा लगता है। प्रत्येक गुच्छे में लगभग २०० तक नन्हें श्वेत वर्ण के फूल रहते हैं। वे प्याज के फूलों के समान दिखाई पड़ते हैं। इसके कन्द में एक ही जावा रहती है तथा यह कोमल प्याज की तरह दिखलाई देता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण लहसुन की तरह ही होते हैं लेकिन विशेष कर यह वृष्य है। वाजीकरण के लिये इसको घी में भून कर मधु के साथ सेवन कराया जाता है। कर्णशूल में इसका टुकड़ा कान के अन्दर रखते हैं। इसके उपयोग से आर्तव शुद्धि होती है।

नोट—प्याज की तरह लाल रंग का एक और जंगली लहसुन होता है जो ईरान में अधिक होता है। उसे ले० में-एलियम् लेप्टोफाइलम्, वॉल (Allium leptophyllum, Wall.), ईरान में-सीर-इ-पिआझक् एवं अरब में-थूम-एल-बरी कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदल होता है। इसका अचार कुपचन में व्यवहार में लाया जाता है।

अथ पलाण्डुः (पियाज), तस्य नामगुणानाह

पलाण्डुर्यवनेष्टश्च दुर्गन्धो मुखदूषकः। पलाण्डुस्तु बुधैर्ज्ञेयो रसोनसदृशो गुणैः॥ २२६॥
स्वादुः पाके रसेऽनुष्णः कफकृन्नातिपित्तलः। हरते केवलं वातं बलवीर्यकरो गुरुः॥ २२७॥

पियाज के नाम तथा गुण—पलाण्डु, यवनेष्ट, दुर्गन्ध और मुखदूषक ये सब पियाज के नाम हैं। पियाज को गुणों में लहसुन के समान समझना चाहिये। **पियाज**—रस तथा पाक में मधुर रस

युक्त, अनुष्ण (ईषत् उष्णवीर्य) एवं कफकारक होता है। और यह अत्यन्त पित्तकारक नहीं होता है। यह केवल वातहर होता है तथा बल और वीर्य को करनेवाला एवं गुरु होता है।

७९ पियाज

हि०—पियाज, प्याज। **बं०**—पेयाज। **पं०**—गण्डा। **म०**—कांदा। **ते०, क०**—नीरुळि। **गु०**—डुङ्गली, कांदो। **मा०**—कांदो, कांदा। **ता०**—वेंगयम। **फा०**—प्याज। **सिन्ध०**—लुनु, बसर। **मला०**—बवंग। **अ०**—बस्ल। **अं०**—Onion (ओनियन्)। **ले०**—*Allium cepa, Linn.* (एलियम् सिपा, लिन०)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

प्याज की खेती प्रायः सब प्रान्तों में की जाती है। इसका पौधा-हाथ डेढ़ हाथ ऊँचा होता है। पत्र-दो कतारों में तथा पुष्पदंड से छोटे होते हैं। इनके बीच से दंड निकलता है। इसके ऊपर लट्टू के समान गोल गुम्मजदार गुच्छों में सुहावने हरापन लिये सफेद फूल लगते हैं। इनमें से तिकोने काले बीज निकलते हैं। इसके नीचे जो कन्द बैठता है उसी को प्याज कहते हैं। किंचित् गुलाबी और सफेद रंगों के भेद से प्याज दो जाति का होता है। दोनों के पौधे एक समान होते हैं। औषधि में लाल जाति का प्याज उपयोग में लाना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उग्रगन्धि एवं कटु तैल तथा गन्धक के सेन्द्रीय योग पाये जाते हैं। इसके बाह्य छिलके में एक क्वेर्सेटीन (Quercetin) नामक पीत रञ्जक पदार्थ होता है तथा कंद में शर्करा भी होती है।

गुण और प्रयोग—पियाज का उपयोग प्राचीन काल से आहार द्रव्य के रूप में किया जा रहा है। गरुडपुराण में पलांडुगुटिका का पाठ है।

यह किंचित् उष्ण, कफनिःसारक, उत्तेजक, वृष्य, बल्य, मूत्रजनन, आर्तवजनन, अग्निवर्धक, आनुलोमिक एवं उत्तम वातहर है। इसके सेवन से कफ ढीला होकर निकलने लगता है एवं दूषित पित्त भी निकल जाता है।

(१) बच्चों एवं वृद्धों के कफविकारों में विशेषकर जब ज्वर न हो तब यह लाभदायक है। कच्चे प्याज के रस को मिश्री मिलाकर बच्चों को चटाया जाता है तथा वृद्धों में इसको पकाकर देते हैं। क्षयजकास में इससे कष्ट कम हो जाता है। श्वसनीयों के जीर्ण शोथ के लिये लाभदायक औषधियों में यह श्रेष्ठ औषधि है।

(२) वाजीकरण के लिये इसके रस को मधु एवं घृत के साथ दिया जाता है।

(३) अर्श में इसके रस को १-२ तो० मिश्री के साथ पिलाते हैं या प्याज को पकाकर उसमें मिश्री, घी तथा जीरा मिलाकर खिलाते हैं एवं गरम २ मस्सों पर बांधते हैं।

(४) मसूढ़ों की सूजन तथा शूल में इसको नमक के साथ खिलाते हैं।

(५) इसका क्वाथ आन्त्रावरोध, अर्श, कामला एवं गुदभ्रंश आदि में लाभदायक है।

(६) विसूचिका में इसके रस के साथ चूने का पानी मिलाकर पिलाते हैं। अग्नि वृद्धि के लिये सिरके के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। प्लेग आदि मरक के समय कच्चे प्याज या सिरके के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

(७) अपतन्त्रक तथा नासिका से रक्तस्राव होने पर इसका नस्य कराया जाता है। चक्कर आता हो तो इसको सुंघाते हैं।

(८) कर्णपिटिका में इसका पुटपाक करके साधारण गरम रस कान में डालने से शूल कम हो जाता है। इसके बीच के टुकड़े को भी कान में रखने से लाभ होता है।

(९) अंधता तथा धुन्ध आदि विकारों में इसका रस मधु में मिलाकर नेत्र में लगाते हैं तथा राज्यंध में नमक के साथ इसका रस डालते हैं।

(१०) इसको घी में भूनकर उसका पोल्टिस गांठ, फोड़े, बद एवं व्रण आदि पर लगाया जाता है। आमवातादि संधिविकार एवं अन्य दाह, कण्डू आदि चर्म रोगों में इसके रस को सरसों के तेल में मिलाकर मलते हैं।

(११) बिच्छू तथा अन्य कीड़ों के काटने पर इसमें रस को लगाने से दाह एवं वेदना की शांति होती है।

(१२) प्याज के **बीज** वाजीकर होते हैं। इसको पीसकर मधु के साथ खालित्य, व्यंग एवं झांई आदि पर लगाते हैं। दाद में सिरका में पीसकर इसे लगाते हैं एवं मस्सों पर नमक के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

८० जंगली प्याज

उपर्युक्त प्याज के अतिरिक्त इसी वर्ग का एक जंगली प्याज होता है जिसको दो तीन किस्में भारतवर्ष में पाई जाती हैं। यह डाक्टरी स्किल (Squill) नामक औषधि अर्जिनीया मॅरिटिमा (Urginea maritima (Linn.) Baker) की श्वेत उपजाति जो भूमध्यसागरीय तट पर होती है उसका अच्छा प्रतिनिधि है। यह अत्यन्त उपयोगी होने के कारण यहां उसका वर्णन दिया जा रहा है। लोग इसे रा० नि० एवं नि० र० का कोलकंद मानते हैं। दोनों निघण्टुकार उसे 'वान्तिशमनकृत्' लिखते हैं लेकिन जंगली प्याज 'वान्तिजननः' होता है।

(क) **ले०**—*Urginea indica,* Kunth. (अर्जिनिया इण्डिका, कुंथ) । Fam. Liliaceae (लिलिएसी) **सं०**—कोलकन्द, वनपलांडु । **हि०, बं०**—कांदा, जंगली प्याज । **गु०**—जंगली कांदो, पाण कंदो । **म०**—रानकांदा, कोलकांदा, कोचिंदा । **ता०**—नेरि वंगायम् । **ते०**—अडवितेलु गड्ड । **पं०**—कफोर, कचवस्सल **अ०**—उन्सुले हिंदी । **फा०**—पियाज सहराई । **अं०**—Indian Squill (इण्डियन स्किल) ।

यह पश्चिमी हिमालय में ७००० फीट तक, गढ़वाल, कुमाऊं, बिहार एवं कारोमंडल तट तथा कोंकण के रेतीले किनारों एवं पश्चिमी घाट पर पाया जाता है।

यह वनस्पति सुदर्शन सदृश होती है। **पत्र**-मूलीय, ६-१८ इञ्च लम्बे, प्याज से बड़े और चौड़े, चिपटे, रेखाकार एवं नोकदार होते हैं। पत्रों के निकलने से पूर्व बीच से सदण्डिक पुष्पध्वज (Scape-स्केप) निकलता है जिस पर हरिताभ श्वेत पुष्प निकलते हैं। **फल**-सामान्यस्फोटी फल (Capsule-कॅपसूल) अण्डाकार, ॥-॥। इञ्च लंबे, दोनों ओर क्रमशः पतले होते हुवे एवं ६-९ बीजों से युक्त होते हैं। **बीज**-छोटे, दीर्घवृत्ताकार, चिपटे तथा काले होते हैं।

इसका **कन्द** प्याज की तरह २-४ इञ्च लम्बा, लट्वाकार एवं परिच्छदपत्रक (Tunicated Bulb-ट्यूनिकेटेड बल्ब) स्वरूप का होता है। इसके कटे हुये टुकड़े मुड़े हुए, चिपटे, विभिन्न आकार के आधे से दो इञ्च लंबे, दोनों छोर की तरफ क्रमशः पतले होते हुए, कभी कभी तीन या चार एक साथ, काण्डक से चिपके हुए, लंबाई में रीढ़दार एवं हलके पीताभ बादामी या हलके पीत विभिन्न वर्ण के होते हैं। ये छिलके शुष्क अवस्था में सहज चूर्ण बनाने लायक एवं आर्द्र हो जाने पर चिमड़े एवं लचीले हो जाते हैं। इनमें गंध नहीं होती तथा इनका स्वाद तिक्त एवं कटु होता है। ताजा कन्द खाने से जीभ पर कण्डू मालूम होती है। पहिले वर्ष के नींबू के इतने बड़े कन्द

का व्यवहार करना चाहिये। पुष्पित होने पर इसके कोमल कंदों को निकाल कर, उनके ऊपर के पतले छिलकों को हटा कर, उनके टुकड़े करके सुखाकर शुष्क स्थान में रखा जाता है। इसका चूर्ण हवा से जल सोख लेता है इसलिये इसको बिलकुल शुष्क बंद पात्र में रखना चाहिये।

(ख) Scilla indica, Baker (सिला इण्डिका, बेकर) । **हि०, बं०**—सुफेदी खस । **बंबई**—मुइकांदा । **ता०**—शिरू-नेरि-वेंगयम् ।

यह दक्षिणी पेनिनसुला में कोंकण एवं नागपूर से दक्षिण की तरफ समुद्र के किनारे रेतीली भूमि में उत्पन्न होता है। इसी से मिलती-जुलती एक जाति सि० होहेनॅकेरी (S. hohenackeri) पंजाब में मिलती है। इनके **कन्द** श्वेताभ बादामी, अंशच्छद पत्रक (Scaly bulb) स्वरूप के, जायफल के इतने बड़े, गोल या अंडाकार एवं कभी-कभी बगल से दबे हुए होते हैं। इनके मांसल छिलके (शल्क पत्र) बहुत चिकने होते हैं एवं इनके किनारे परस्पर ढके रहने के कारण इनका एक ही पर्त मालूम होता है।

(क) और (ख) दोनों ही के गुण समान हैं तथा बाजार में दोनों के कंद मिले हुवे बिकते हैं तथा इनके शुष्क टुकड़े भी बिकते हैं। ये कंद विदेशी कंदों से कुछ छोटे होते हुए भी उन्हीं की तरह कड़वे एवं हल्लासकारक होते हैं। (क) और (ख) के कंदों में यही अन्तर है कि (क) के कन्द परिच्छद पत्रक (Tunicated bulb-ट्यूनिकेटेड बल्ब) स्वरूप के एवं (ख) के कंद अंशच्छदपत्रक (Scaly bulb-स्केली बल्ब) स्वरूप के होते हैं।

रासायनिक संगठन—ताजे कंद में सिल्लारेन-ए (Scillaren-A, $C_{36}H_{52}O_{13}$) नामक एक रवेदार ग्लाइकोसाइड (Glycoside) तथा सिल्लारेन-बी (Scillaren-B) नामक चूर्ण रूप का ग्लाइकोसाइड (Glycoside) पाया जाता है जिनमें से दूसरे में कम से कम दो ग्लाइकोसाइड मिले रहते हैं। इनमें से सिल्लारेन-ए जल में बहुत कम घुलता है और सिल्लारेन-बी जल और क्लोरोफार्म में घुलने वाला एवं अॅल्कोहोल या ईथर में न घुलने वाला होता है। कंद में जिस अनुपात में ये दोनों ग्लाइकोसाइड रहते हैं उनका सिल्लारेन (Scillaren) नामक मिश्रण जल में सरलता से घुल जाता है तथा वह बहुत दिन तक खराब भी नहीं होता। भारतीय स्किल में उपर्युक्त ग्लाइकोसाइड के अतिरिक्त गोंद, कर्बोज, फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol) एवं कॅल्शियम् ऑक्झॅलेट् (Calcium oxalate) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, तिक्त, कफनिःसारक, हृदयोत्तेजक, हृद्य, मूत्रविरेचक तथा उत्क्लेश एवं वमनकारक है। इसकी क्रिया डिजिटॅलिस् (Digitalis) के समान होती है जिससे हृदय की गति कम होती है एवं हृदय का कार्य ठीक होने से हृदय को बल प्राप्त होता है। पचनसंस्थान द्वारा इसका प्रचूषण कम होने के कारण इसको अधिक मात्रा में देना पड़ता है लेकिन अधिक मात्रा में इससे महास्रोत में प्रक्षोभ होकर वमन, अतिसार एवं रक्तातिसार होता है। यह स्थानिक प्रक्षोभक प्रभाव इसमें के रॅफाइड्स (Raphides) के कारण होता है। हृदय पर इसका प्रभाव प्रत्यक्ष मांसपेशी की अपेक्षा प्राणदा नाड़ी (Vagus nerve) के द्वारा अधिक होता है। डिजिटॅलिस् की अपेक्षा इसकी क्रिया शीघ्र एवं अस्थायी होने के कारण इससे संचायी दुष्परिणाम नहीं होते।

अल्प मात्रा में इसके प्रयोग से आमाशय में साधारण प्रक्षोभ होकर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा कफ निकलने लगता है।

वृक्क द्वारा उत्सर्ग के समय वृक्क कोशाओं को उत्तेजित करने के कारण डिजिटॅलिस् की अपेक्षा इससे मूत्रविरेचन अधिक होता है। अधिक मात्रा में रक्तमेह भी हो सकता है। इसका नूतन वृक्क रोगों में प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(१) हृदयोदर, सर्वांग शोफ एवं जलोदर आदि में इसका उपयोग किया जाता है। जिन व्यक्तियों में डिजिटॅलिस् के प्रति असहनशीलता होती है उनमें तथा जिनको जीर्ण कफविकार भी साथ २ रहते हैं उन्हें यह ज्यादा उपयोगी है। इससे काफी मात्रा में मूत्रस्राव होता है। इसका मूत्रल प्रभाव प्रत्यक्ष वृक्क कोशाओं की उत्तेजना से एवं रक्ताभिसरण की क्रिया ठीक होने से है। हृदयोदर में गेजपिल (Guy's Pill) नामक पारद एवं डिजिटॅलिस् के साथ बनी इसकी गोलियों का व्यवहार किया जाता है।

(२) बच्चों के जीर्ण श्वसनी विकारों में इसके शर्बत का उपयोग १०–१५ बूंद की मात्रा में किया जाता है। जीर्ण कफ विकारों में इससे तीन तरह से लाभ होता है। जीर्ण कफविकारों में हृदय के दक्षिण विभाग में जो शिथिलता आई रहती है वह दूर होती है, कफढीला होकर निकलने लगता है एवं पाचन सुधरकर शौच भी साफ होने लगता है। जिनमें कफ बहुत एवं चिपचिपा होता है उनमें इससे विशेष लाभ होता है। नूतन कफविकारों में इसका प्रयोग नहीं किया जाता। इपीकॅक् की अपेक्षा अधिक प्रक्षोभक होने के कारण वमन के लिये भी इसका उपयोग नहीं करते हैं।

(३) पादकंटक (Corn = कॉर्न) पर इसके कंद को पकाकर पीसकर गरम गरम बांधते हैं तथा मस्सों (Warts = वार्टस) पर इसके चूर्ण को मला जाता है।

मात्रा—शुष्क चूर्ण ½–१½ र०; सिरप् (शर्बत) ३०–६० बूंद; टिंक्चर ५–२० बूंद।

अथ भल्लातकः (भिलावा), तन्नाम तत्पक्वफलमज्जवृन्तानां तस्य च गुणानाह

भल्लातकं त्रिषु प्रोक्तमरुष्कोऽरुष्करोऽग्निकः। तथैवाग्निमुखी भल्ली वीरवृक्षश्च शोफकृत्॥
भल्लातकफलं पक्वं स्वादुपाकरसं लघु। कषायं पाचनं स्निग्धं तीक्ष्णोष्णं छेदि भेदनम्॥
मेध्यं वह्निकरं हन्ति कफवातव्रणोदरम्। कुष्ठार्शोग्रहणीगुल्मशोफानाहज्वरक्रिमीन्॥
तन्मज्जा मधुरा वृष्या बृंहणी वातपित्तहा। वृन्तमारुष्करं स्वादु पित्तघ्नं केश्यमग्निकृत्॥

भिलावा के नाम तथा उसके पके फल, मींगी और वृन्त के गुण—भल्लातक (यह शब्द तीनों लिङ्ग में होता है), अरुष्क, अरुष्कर, अग्निक, अग्निमुखी, भल्ली, वीरवृक्ष और शोफकृत् ये सब भिलावा के पर्यायवाची नाम हैं। **भिलावे का पका फल**—पाक में मधुर रस युक्त, लघु, मधुर एवं कषाय रस युक्त, पाचक, स्निग्ध तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, छेदी, भेदक, मेध्य (धारणशक्तिके लिये हितकर) एवं अग्निवर्धक होता है। यह कफ, वायु, व्रण, उदररोग, कुष्ठ, बवासीर, संग्रहणी, गुल्म, शोथ, आनाह, ज्वर तथा कृमि रोग को दूर करता है। **भिलावे की मींगी**—मधुर रस युक्त, वृष्य, बृंहण एवं वात पित्त को शान्त करने वाली होती है। **भिलावे का वृन्त** (ढेंपी जिसमें फल लगा रहता है) मधुर रस युक्त, पित्तनाशक, बालों के लिये हितकर तथा अग्निवर्धक होता है॥ २२८–२३१॥

अथ सामान्यतो भल्लातकगुणानाह

भल्लातकः कषायोष्णः शुक्लो मधुरो लघुः। वातश्लेष्मोदरानाहकुष्ठार्शोग्रहणीगदान्॥
हन्ति गुल्मज्वरश्वित्रवह्निमान्द्यक्रिमिव्रणान्॥ २३२॥

साधारण रूप से भिलावे का गुण—भिलावा–कषाय तथा मधुर रसयुक्त, उष्णवीर्य, वीर्यवर्धक एवं लघु होता है और यह वातकफ, उदररोग, आनाह, कुष्ठ, बवासीर, संग्रहणी, गुल्म, ज्वर, श्वित्रकुष्ठ, अग्निमान्द्य, कृमिरोग तथा व्रण को दूर करता है॥ २३२॥

८१ भिलावा।

हि०, पं०–भिलावा, भेला। **बं०**–भेला, भेलातुकी। **म०**–बिब्बा। **गु०, मा०**–भिलामो। **क०**–गेरकायि। **ते०**–जिडिचेट्टु, जीड़ीविट्टुलु। **ता०**–शेनकोट्टै। **मला०**–चेर्मर। **फा०**–बलादुर, बिलादुर। **अ०**–हब्बुल्कल्ब, हब्बुल्फह्म। **अं०**–The Marking-nut tree (दि मार्किङ्ग नट् ट्री)। **ले०**–*Semecarpus anacardium, Linn.* (सेमेकार्पस् ॲनाकार्डियम्, लिन.) Fam- Anacardiaceae (ॲनाकार्डिएसी)।

भिलावे के वृक्ष इस देश के विशेष कर गरम प्रान्तों में एवं हिमालय के निचले भागों में ३५०० फीट की ऊंचाई तक सतलज से पूर्व की ओर आसाम तक उत्पन्न होते हैं।

इसका वृक्ष–देखने में सुन्दर २० से ४० फीट तक ऊँचा होता है। **छाल**–एक इञ्च मोटी धूसर रंग की होती है। छाल पर चोट मारने से उसमें से एक प्रकार का दाहजनक भूरे रंग का गाढ़ा रस निकलता है जो वार्निश बनाने के काम में आता है। **लकड़ी**–खाकी मिश्रित लाली युक्त सफेदी या भूरे रङ्ग की होती है। छोटी २ शाखाओं के नीचे कुछ तीक्ष्ण रोवें होते हैं। डालियों के अन्त में सघन पत्ते रहते हैं और वे ९ से २४ इञ्च तक लम्बे तथा ५ से १४ इञ्च तक चौड़े, ऊपर से लट्वाकार–आयताकार एवं सरल धारवाले होते हैं। माघ में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और फागुन में नवीन पत्ते निकल आते हैं, माघ फागुन में इसका वृक्ष फूलता है किन्तु इसके सिवाय कई बार वृक्षों पर फूल देखने में आते हैं। नन्हें २ फूलों की मञ्जरियाँ आती हैं। पुष्पदल-हरापन युक्त सफेद या हरापन युक्त पीले होते हैं। **फल**–एक इञ्च लम्बा तथा पौन इञ्च चौड़ा, चिपटा सा, हृदयाकृति, चमकीले काले रंग का तथा चिकना होता है। कच्चे फलों में दूध जैसा श्वेत वर्ण का रस होता है जो पकने पर कुछ गाढ़ा एवं काले रंग का हो जाता है। इस फल का आधारभाग मांसल तथा नारंगी वर्ण के स्तम्भक से बना होता है जो खाने के काम आता है। फलत्वक् में एक स्फोटकारक विषैला रस होता है जिससे धोबी कपड़ों में निशान लगाने की स्याही बनाते हैं। फल के अन्दर की मज्जा स्वादिष्ट होती है तथा वह भी खाने के काम आती है। कुछ लोगों में पुष्पित भल्लातक वृक्ष के पास सोने से या पुष्पपराग की हवा लगने से शरीर पर सूजन आ जाती है।

भल्लातक शोधन—औषधि में प्रयोग के लिये अच्छे सुपक्व तथा जल में डालने पर जो डूब जाँय ऐसे भिलावों को लेकर कतर कर ईंट के टुकड़ों के साथ बोरे के अन्दर रगड़ कर फिर धोकर काम में लाना चाहिये। इससे उसके अन्दर का तैल सदृश रस कम होकर उसकी तीव्रता कम हो जाती है। इसके शोधन के पूर्व मुख, हाथ एवं पैर आदि खुले अंगों पर नारियल का तैल लगा लेना चाहिये। कुछ लोग फलों को केवल उबाल कर ठंडे जल से धोकर काम में लाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके रासायनिक संगठन के विषय में कुछ मतभेद हैं और अभी संशोधन की आवश्यकता है। लेकिन इतना निश्चित है कि फलत्वक् के स्वरस में एक दाहजनक तैलीय पदार्थ एवं मज्जा में काजू की तरह पौष्टिक द्रव्य और एक प्रकार का तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—भिलावा उष्ण, रसायन, मेध्य, वाजीकर, वातकफहर, मूत्रजनन, वातनाडीबल्य, अग्निवर्धक, व्रणोत्पादक एवं कुष्ठघ्न है। इसका प्रचूषण बहुत जल्दी होता है लेकिन उत्सर्ग बहुत देर में होता है। आमाशय एवं उत्तरगुद पर इसकी विशेष क्रिया होती है। यकृत पर उत्तेजक क्रिया होने से पित्तस्राव ठीक होता है जिससे भूख बढ़ती है एवं रक्ताभिसरण और विनिमय क्रिया ठीक होने से अर्श में लाभ होता है। त्वचा से उत्सर्ग के समय स्वेद आता है तथा त्वचा लाल हो जाती है। वृक्क पर उत्तेजक प्रभाव होने के कारण प्रारम्भ में मूत्र की मात्रा बढ़ती है लेकिन बाद में कम हो जाती है तथा कभी कभी मूत्र में खून भी आ जाता है। इसका वाजीकर प्रभाव वातनाड़ियों की उत्तेजना से एवं प्रत्यक्षतया मूत्रनलिका के प्रक्षोभ से होता है। प्रत्यक्ष मांसपेशियों की अपेक्षा वातनाड़ियों को बलप्राप्त होने से यह अनेक वातरोगों में लाभदायक है। इससे नाड़ी की गति बढ़ती है तथा हृदय का कार्य भी ठीक होने लगता है। रसग्रन्थियों की उत्तेजना से श्वेतकणों की वृद्धि होती है जिससे शोथ आदि में लाभ होता है। इस प्रकार शरीर की सभी क्रियाएं ठीक होने से योग्यरूप में सेवन से इसको अमृत के समान लाभदायक एवं रसायन मानते हैं।

बाह्य त्वचा पर भिलावे का तैल लगने से त्वचा काली होकर जलन होती है एवं फोड़े होकर व्रण उत्पन्न होते हैं। उचित रूप में प्रयोग करने से आन्तरिक प्रयोग में इस प्रकार के लक्षण नहीं होते।

इसका उपयोग अर्श, वातविकार, कफविकार, फिरंग, गण्डमाला, कृमि, विसूचिका, गुल्म, आमवात एवं कुष्ठ आदि रोगों में किया जाता है।

(१) भिलावे को दीपक पर गरम करने से जो तैल टपकता है वह दूध में टपकाकर हरिद्रा एवं मिश्री मिलाकर फुफ्फुस विकारों में रात के समय दिया जाता है। प्रारम्भ में एक बूंद तथा धीरे-धीरे इसे बढ़ाते हैं। तमकश्वास पीड़ित रोगियों के लिये शीत ऋतु में इसका नित्य प्रयोग लाभदायक है। उपजिह्वा एवं गलतोरणिका की शिथिलता से उत्पन्न कास में भी इससे लाभ होता है। फुफ्फुसपाक में मुलेठी के साथ भिलावा दिया जाता है।

(२) अग्निमांद्य, कुपचन, आनाह, विबन्ध, ग्रहणी, अर्श, उदर, गुल्म एवं विसूचिका आदि रोगों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। इससे स्निग्ध पदार्थों का पाचन अच्छी तरह से होता है। अर्श में भिलावा, हर्रा एवं तिल समान मात्रा में लेकर दुगने गुड़ के साथ गोली बनाकर ३-६ माशा खिलाते हैं तथा इसका धुआं भी दिया जाता है। हैजे में एक भिलावे को आधा तोला इमली के साथ पीसकर २ तोला लहसुन के रस के साथ पिलाते हैं।

(३) रसायन के लिये १ भिलावे को काटकर एवं कूटकर १६ गुने जल में उबाल कर आधा रहने पर फिर ८ गुना दूध मिलाकर फिर उबाले तथा आधा शेष रहने पर उस क्षीर को छानकर १-२ तो० की मात्रा में प्रयोग करे। इसके पूर्व थोड़ासा घी मुख में चारों तरफ लगा लेना चाहिये तथा थोड़ासा घी निगलना भी चाहिये। प्रत्येक वर्ष शीत ऋतु में इसका उपयोग करने से किसी प्रकार के रोग नहीं होने पाते।

(४) वातनाडी शोथ, गृध्रसी, अर्दित, अंगघात, ऊरुस्तम्भ, मस्तिष्कावरण शोथ तथा मानसिक कार्य अधिक करने के कारण उत्पन्न थकावट में इसको इमली की पत्ती, लहसुन, वायविडङ्ग, नारियल का रस एवं मिश्री के साथ खिलाते हैं।

(५) भिलावा १ भाग, काजू ६ भाग एवं शहद १ भाग अच्छी तरह घोंटकर २ माशा दिन में ४ बार देने से नूतन तथा तीव्र आमवात में दो तीन दिन में ही लाभ होता है। जीर्ण आमवात में विशेष लाभ नहीं होता है।

(६) गण्डमाला के लिये भिलावा २, अजवायन २ एवं पारद १ इसको घोंटकर चने बराबर इसकी गोली दही के साथ खिलाई जाती है।

(७) इसके तैल का आंतरिक एवं बाह्य प्रयोग किया जाता है। एक से दो बूंद तैल किसी अन्य तिलादि अक्षोभक तैल में मिलाकर फिरंग, गण्डमाला, कुपचन, अर्श, नाडी दौर्बल्य, चर्मरोग, कृमि, अपस्मार, अंगघात, आमवात एवं श्वास आदि रोगों में दिया जाता है।

(८) इसका क्वाथ दुग्ध एवं घृत के साथ नाडी शोथ, वातबलासक, संखिया के विष से उत्पन्न नाडीविकार एवं आर्तवविकार में लाभदायक है।

(९) इसके तैल का बाह्यप्रयोग प्रतिक्षोभक (Counter irritant) एवं स्फोटोत्पादक (Vesicant) के रूप में किया जाता है। जीर्ण त्वचा के रोगों में इसका ज्यादा उपयोग होता है। चर्मकील, दद्रु, किलास सन्धिपीडा, मोच, श्वित्र, गजचर्म, कुष्ठज ग्रन्थि एवं प्लीहावृद्धि आदि पर सूई के नोक से कई जगह इसको लगाते हैं या इसको मक्खन के साथ मिलाकर मरहम के रूप में प्रयोग करते हैं।

(१०) इसकी मज्जा वाजीकर होती है। गरी एवं चिरौंजी के साथ इसका पाक सेवन कराया जाता है।

विषैला प्रभाव—किसी किसी को भिलावा सहन नहीं होता है। इससे मूत्र का रंग गहरा, शरीर में दाह, खुजली, चकत्ते, अतिसार, ज्वर एवं कभी-कभी रक्तमेह, फोड़े फूट कर व्रण एवं उन्माद आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रारम्भ में मूत्र की मात्रा कम होती है तथा उसका रंग धुंधला होने लगता है। गुदा एवं शिश्नेन्द्रिय के मुख पर कण्डू उत्पन्न होती है। प्रारंभिक लक्षण उत्पन्न होते ही औषधि को बन्द कर नारियल का दूध या इमली की पत्ती का रस या तिल एवं नारियल खाने को देना चाहिये। शरीर पर नारियल का तेल, घी, राल या नागद्रव (Lead lotion–लेड लोशन) का बाह्य उपयोग करना चाहिये।

पथ्य—भिलावे के प्रयोग के समय घी, दूध एवं चावल का सेवन अधिक करना चाहिये।

वर्ज्य—धूप में घूमना, स्त्रीसहवास, मांसभक्षण, नमक, व्यायाम एवं तैलाभ्यङ्ग आदि छोड़ देना चाहिये।

निषेध—पैत्तिक विकार, रक्तस्रावी प्रवृत्ति, गर्भिणी, बाल, वृद्ध, अतिसार, वृक्कशोथ एवं उष्ण काल में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

मात्रा—तैल—१-२ बूंद, अवलेह—½-१ तो०, क्षीरपाक—१-२ तो०।

अथ भङ्गा (भांग), तस्या नाम गुणानाह

भङ्गा गञ्जा मातुलानी मादिनी विजया जया ॥ २३३ ॥
भङ्गा कफहरी तिक्ता ग्राहिणी पाचनी लघुः । तीक्ष्णोष्णा पित्तला मोहमदवाग्वह्निवर्द्धिनी ॥

भांग के नाम तथा गुण—भङ्गा, गञ्जा, मातुलानी, मादिनी, विजया और जया ये सब भांग के पर्यायवाची नाम हैं। **भांग**–कफ को दूर करने वाली, तिक्तरस युक्त, ग्राही, पाचक, लघु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पित्तकारक तथा मोह, मद, वाणी और जठराग्नि को बढ़ाने वाली होती है ॥

८२ भांग

हि०–भांग, भंग, बूटी। **बं०**–सिद्धि। **म०-पं०-मा०**–भांग। **गु०**–भांग। **ते०**–गंजायि। **ब्रह्मी०**–बिन। **मा०**–बूटी। **क०**–भंगी। **ता०**–कञ्जा। **फा०**–क(कि)नब, बंग। **अ०**–हशीश, बर्कुल ख्याल।

गांजा

हि०–गांजा, गंजा, गांझा। **बं०, म०**–गांजा। **ता०**–गांजा, येला। **गु०**–गांजो। **ते०**–गाञ्जाई, बंगि–अकु। **फा०**–किन्नब। **अ०**–कु(कि)न्नब। **अं०**–Indian hemp (इण्डियन हेम्प), Cannabis (कॅन्नाबिस्)। **ले०**–*Cannabis sativa, Linn.* (कॅन्नाबिस् सेटाइव्हा, लिन.); Cannabis indica Lam. (कॅन्नाबिस् इण्डिका लॅम.)। Fam. Cannabinaceae (कॅन्नॅबिनॅसी)।

इसका पौधा भारतवर्ष में हिमालय के निचले प्रदेशों में करीब २ अपने स्वाभाविक रूप में उत्पन्न होता है तथा पंजाब से पूर्व की ओर बंगाल एवं बिहार तक तथा दक्षिण की ओर परती भूमि में बहुतायत से प्राप्त होता है। उत्तरप्रदेश के अल्मोड़ा, गढ़वाल तथा नैनीताल जिलों में इसकी उपज की जाती है। ट्रावनकोर तथा काश्मीर में भी अल्प मात्रा में इसकी उपज की जाती है। भांग का पौधा पश्चिमी तथा मध्य एशिया का नैसर्गिक (Native–नेटिव्ह) माना जाता है। मुंगेर, पञ्जाब, नागपुर, बहराइच आदि जिलों की भंग अच्छी समझी जाती है। इसका **क्षुप**–सीधा ३ से ८ फीट एवं कभी-कभी १६ फीट तक ऊंचा होता है। **पत्ते**–नीचे के समवर्त्ती और विषमवर्ती दोनों प्रकार के करतलाकार तथा आधार तक कटे हुवे होते हैं। ऊपर वाले पत्ते १–५ भागों में विभक्त और नीचे वाले ५ से ११ खण्ड में कटे हुए तथा ३ से ८ इञ्च के घेरे में रेखाकार-भालाकार दिखाई पड़ते हैं। इनके खण्ड तीक्ष्ण दन्तुर, लम्बाग्रयुक्त, आधार की तरफ संकुचित तथा इनका ऊर्ध्व पृष्ठ गहरे हरे रंग का खुरदरा एवं अधोपृष्ठ हलके रंग का मृदुरोमश होता है। **फूल**–हलके पीत-हरित रंग के, अद्विलिंगी एवं गुच्छेदार होते हैं। **फल**–बहुत छोटे, कुछ दबे हुवे, बीज के समान चर्मल फल (Achene=एचीनी), स्थायी परिपुष्प (Perianth=पेरियँथ) से आवृत एवं एक २ बीजों से युक्त होते हैं।

भांग के क्षुप स्त्री जाति और पुरुष जाति इन भेदों से दो प्रकार के होते हैं। स्त्री जाति का क्षुप कुछ अधिक ऊँचा तथा उसमें पत्र बहुतायत से तथा गहरे वर्ण के होते हैं। इसका क्षुप पुरुष जाति के क्षुप की अपेक्षा ५, ६ सप्ताह अधिक समय में परिपुष्ट होता है। **भांग**–यह उपज किये हुए या अपने आप उत्पन्न इस क्षुप के स्त्री एवं पुरुष जाति के सूखे हुए पत्तों को कहते हैं। इसमें पुरुष जाति के पुष्प भी होते हैं। पुरुष जाति के पुष्प, पत्तों की अपेक्षा अधिक मादक नहीं होते जैसा कि स्त्री जाति के पुष्प होते हैं। जून एवं जुलाई के महीने में अधिक ऊँचाई पर होने वाले क्षुपों का एवं मई और जून में मैदानी प्रान्तों वाले क्षुपों का संग्रह किया जाता है। उन्हें काटकर ओस तथा धूप में बार २ रख कर सुखाते हैं तथा सूखने पर दबाकर रखा जाता है। **गांजा**–उपज किये हुए स्त्री जाति के क्षुपकी सूखी हुई रालदार पुष्पमञ्जरी को गांजा कहते हैं। इसका रंग मटमैला, हरा, स्वाद कुछ कटु एवं गंध विशिष्ट प्रकार की मादक होती है। गांजे की जटा १॥ इञ्च से २॥ इञ्च तक लम्बी तथा चौड़ी होती है। एक २ इञ्च लम्बी लकड़ियों के चारों ओर फूलदार शाखाएँ

लगी रहती हैं। **चरस**–गांजा के वृक्ष से एक लसदार राल के समान रस निकल कर जम जाता है उसी को चरस कहते हैं। ओस पड़ने के पश्चात् सुबह चमड़े का कपड़ा पहन कर वृक्षों में रगड़ने से समस्त चरस कपड़े पर लग जाता है उसी को चमड़े से पृथक् कर गोले या ढेले बना लेते हैं। या हाथ और पैरों से पुष्पमञ्जरियों को रगड़ कर हाथ पैरों में चिपके हुए भाग को खुरच कर जमा कर लेते हैं। हिन्दुस्तान में उत्पन्न हुए वृक्षों से चरस पृथक् नहीं की जाती इसलिये यहां गांजा तैयार हो जाता है। भारतवर्ष में चरस यारकंद से, काश्मीर के लेह के रास्ते आता है। भारत के दक्षिण तथा पश्चिम में अधिकतर गांजा नाम से भांग और गांजा दोनों का प्रयोग होता है। भांग तो पीस कर बनाये हुये पेय को अधिकतर कहा जाता है। पुरी की तरफ गांजे को ही पीसकर बने पेय को भांग कहा जाता है। भांग, गांजा, चरस तथा बीजों का औषध में व्यवहार किया जाता है तथा मादक पेय एवं धूम्रपान आदि के व्यसन के रूप में लोग इनका बहुत व्यवहार करते हैं। चरक सुश्रुतादि प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है लेकिन बाद में ग्रन्थकारों ने इनका भांग नाम से अधिकतर उपयोग किया हैं।

शोधन–भांग तथा गांजे को दूध में दोलायंत्र में पकाकर जल से धोकर सुखाकर प्रयोग में लाना चाहिये।

रासायनिक संगठन—गांजे में कॅन्नाबिनोन् (Cannabinone) नामक एक मुलायम बादामी रंग की राल होती है। इस राल का प्रधान तत्व एक लाल रंग का गाढ़ा मादक (Narcotic) तैल होता है जो वायु के साथ संपर्क में आने पर गाढ़ा तथा अल्प वीर्य हो जाता है। इस तैल में एक कॅन्नाबिनोल् (Cannabinol; $C_{21} H_{26} O_2$) नामक विषैला तत्व रहता है जो इसमें का कार्यकारी तत्व नहीं है। इस राल के अतिरिक्त इसमें गोंद, शर्करा, कॅल्शियम् फॉस्फेट् (Calcium phosphate), अत्यल्प मात्रा में उड़नशील तैल, सेन्द्रिय अम्ल, कलमी सोरा एवं नौसादर आदि पदार्थ पाये जाते हैं। अफ्रीकी, अमेरीकी एवं भारतीय किस्मों के गुणों में विशेष अन्तर नहीं है तथा शुष्क अवस्था में अच्छी तरह रखने से बहुत दिन तक इसके गुण भी कम नहीं होते। गांजे में करीब २६%, भांग में १०% एवं चरस में ४०% राल होती है।

गुण और प्रयोग—भांग एवं गांजे के गुण करीब २ समान ही हैं लेकिन भांग की क्रिया विशेषतः आमाशय एवं आंत्र पर, अधिक होती है तथा यह गांजे की अपेक्षा अधिक ग्राही होती है।

यह उत्तेजक, वेदनाहर, शांतिकारक, क्षुधावर्धक, आह्लादकारक, सौमनस्यजनन, स्वापजनन, आक्षेपनिरोधी (Anticonvulsant), उद्वेष्टननिरोधी (Antispasmodic), गर्भाशयसंकोचक, मूत्रजनन, संग्राही, बल्य, वाजीकर एवं स्थानिक स्वापजनन है।

इसकी प्रधान क्रिया मस्तिष्क पर होती है। सेवन के पश्चात् करीब आधे घंटे में इसका प्रभाव मालूम होने लगता है। गांजे के धूम्रपान के पश्चात् तुरत असर होता है। इसकी क्रिया अफीम तथा मद्यसार की तरह होती है लेकिन इसके वीर्य में विभिन्नता होने के कारण इसका प्रभाव अनिश्चित होता है। अल्प मात्रा में इसके सेवन से कुछ उत्तेजना आती है तथा आह्लाद मालूम होने लगता है। किसी भी कार्य में मन एकाग्र होता है। इसके प्रभाव से काल एवं व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं रहता तथा ऐसा मालूम होता है कि घण्टों तक आनन्द से बीता जब कि केवल कुछ मिनट ही बीते रहते हैं। अधिक मात्रा में प्रलाप होता है तथा तत्पश्चात् निद्रा आती है। निद्रा के पश्चात् अफीम की तरह इससे थकावट नहीं आती तथा उतना विबन्ध भी नहीं होता। आक्षेप

निरोधी, उद्वेष्टन निरोधी एवं वेदनाहर गुण बहुत स्पष्ट हैं। भांग से बने पेय से मूत्र की मात्रा बढ़ती है। इसका गर्भाशय संकोचक प्रभाव प्रत्यक्ष मांसपेशी के संकोच एवं अप्रत्यक्षतया नाडी-संस्थान के द्वारा होता है। सांवेदनिक नाडियों की संवेदना शक्ति का घात होने से चर्म में शून्यता तथा झुनझुनाहट होती है। नाडी की गति उत्तेजना की अवस्था में बढ़ जाती है तथा बेहोशी की अवस्था में कम हो जाती है। उत्तेजना की अवस्था में श्वसन क्रिया शीघ्र होने लगती है।

साधारण मात्रा में इसके व्यसन से शारीरिक वा मानसिक कोई विकृति नहीं होती है। यह धारणा कि इसके व्यसन से पागलपन (Insanity) की प्रवृत्ति बढ़ती है सिद्ध नहीं हुई है। अधिक मात्रा में यदि निरन्तर उपयोग किया जाय तो शरीर एवं मन को हानि पहुँचती है तथा आत्म-सम्मान का ह्रास एवं नैतिक पतन हो जाता है।

(१) संग्रहणी, अतिसार, रक्तातिसार, कुपचन, आमाशय में पीड़ा एवं विसूचिका में अन्य औषधों के साथ इसका उपयोग किया जाता है। इससे भूख बढ़ती है एवं उद्वेष्टन तथा पीडा दूर होती है। विरेचक औषधों के साथ प्रयोग से मरोड़ नहीं होती। विसूचिका के प्रारम्भ में ही इसको देने से लाभ होता है। अतिसार के पश्चात् रोग निवृत्तावस्था में इसका पाचक शान्तिदायक औषध के रूप में व्यवहार में आता है।

(२) वेदनाहर गुण के कारण पुराने सिर दर्द, सूर्यावर्त (Migraine = माइग्रेन), रजोनिवृत्ति के समय होनेवाले एवं थकावट आदि से उत्पन्न शिरःशूल में इसका उपयोग किया जाता है। वातनाड़ीशोथ में गांजा के साथ पारद देते हैं एवं वातनाड़ीपीड़ा में गांजा, सोमल एवं लोह देते हैं। टेबीज् डॉर्सेलिस् (Tabes dorsalis) नामक फिरंग से उत्पन्न रोग में एक प्रकार की विद्युत् के समान चपल एवं तीव्र पीड़ा (Lightning pains) होती है जिसमें गांजे से लाभ होता है।

(३) वेदनाहर एवं उद्वेष्टननिरोधी गुण के कारण आन्त्रिक, पैत्तिक एवं वृक्क शूल तथा बस्ति उद्वेष्टन एवं सोजाक से उत्पन्न वेदनायुक्त शिश्नोत्थान (Chordee) में इसका उपयोग किया जाता है। अपतन्त्रक, कम्पवात, वातिक वमन एवं बालकों के आक्षेप में इससे लाभ होता है।

धनुर्वात (Tetanus) के लिये यह बहुत लाभदायक है। इसको अधिक मात्रा में एवं अधिक दिन तक प्रयोग करना पड़ता है। जलसंत्रास (Hybrophobia) में आक्षेप कम करने के लिये इसको देते हैं।

(४) स्वापजनन गुण के कारण निद्रानाश विशेष कर वृद्धावस्था के निद्रानाश (Senile insomnia) में इसका उपयोग किया जाता है।

(५) गांजा से गर्भाशय में सङ्कोच होता है एवं वेदना भी कम होती है जिससे पीडितार्तव, अत्यार्तव तथा प्रसव के समय आवि वृद्धि के लिये इसको देते हैं। बीजकोश पीडा (Ovarian irritation) में इसको देते हैं।

(६) अर्श में इसके आन्तरिक प्रयोग के साथ भांग को दूध में उबाल कर पीस कर उसकी टिकिया बांधते हैं। हरिद्रा, प्याज तथा तिल के साथ पीस कर लेप करने से एवं इसके धूएँ से भी लाभ होता है।

(७) गांजा अत्यन्त वाजीकर है। मस्तिष्क के ऊपर प्रभाव से आह्लाद उत्पन्न होकर कामवासना बढ़ती है एवं रक्ताभिसरण को उत्तेजना मिलने से शिश्न अधिक कठोर हो जाता है। इसके साथ २ संवेदना शक्ति के ह्रास से अधिक काल तक घर्षण करने से भी शुक्र पात नहीं होता। अफीम, धतूरा एवं अन्य औषधों के साथ बने पाक का प्रयोग नपुंसकता एवं शीघ्रपतन आदि में किया जाता है।

(८) शुष्क कास, कुकास एवं तमक श्वास में इसको खिलाते हैं अथवा इसका धूम्रपान कराते हैं। फुफ्फुसावरण शोथ में पीड़ा शमन के लिये अफीम की अपेक्षा यह अधिक अच्छी है।

(९) जीर्ण आमवात में इसको खिलाते हैं तथा इसके बीजों का तेल मालिश किया जाता है।

(१०) स्थानिक वेदनाशामक होने के कारण विसर्प, वातिक पीड़ा, खुजली एवं जलन में इसका लेप उपयोगी है। अरूंषिका (Dandruff) तथा जूं आदि में सर पर इसका लेप करते हैं।

चरस—यह मदकारी, शुक्रस्तम्भन, मूर्च्छा एवं हृदयदौर्बल्य कारक है। इससे हृल्लास, विबन्ध एवं शिरःशूल आदि नहीं होते तथा तम्बाखू के साथ इसका धूम्रपान उन्माद एवं अपतन्त्रक आदि में शामक औषध के रूप में किया जाता है।

विषैला प्रभाव—भांग एवं गांजा आदि अधिक मात्रा में लेने से आंखें लाल हो जाती हैं। चेहरा फूल सा जाता है, पैर लड़खड़ाते हैं तथा बुद्धि एवं स्मृति का नाश, अग्निमान्द्य, अनिद्रा, दौर्बल्य, प्रलाप एवं शिरःशूल आदि लक्षण होते हैं। क्वचित् हृदयातिपात से मृत्यु होती है।

हानिनिवारक—वमन कराना एवं दूध, दही, घृत तथा नारंगी, अनार, अमरूद आदि फलों के रस पिलाना चाहिये।

मात्रा—भांग १–४ र०; गांजा ½–१ र०; चरस ¼–½ र०।

अथ खाखसः (पोस्ता)। तस्य नामानि तत्फलोद्भववल्कलगुणानाह

तिलभेदः खसतिलः खाखसश्चापि स स्मृतः। स्यात् खाखसफलोद्भूतं वल्कलं शीतलं लघु॥
ग्राहि तिक्तं कषायञ्च वातकृत् कफकासहृत्[1] ॥ २३६ ॥
धातूनां शोषकं रूक्षमदकृद्वाग्विवर्धनम्[2]। मुहुर्मोहकरं रुच्यं सेवनात्पुंस्त्वनाशनम् ॥२३७॥

पोस्ता के नाम तथा गुण—तिलभेद, खसतिल और खाखस ये सब नाम पोस्ता के हैं। **पोस्ता के फल का छिलका** शीतल, लघु, ग्राही, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, वातकारक, कफ तथा कास को दूर करने वाला, धातुओं को सुखाने वाला, रूक्ष, मदकारक, वाणी को बढ़ाने वाला, बार-बार मोह-कारक, रुचिकारक और नित्य सेवन करने से पुरुषत्व को नाश करने वाला होता है ॥२३५-२३७॥

८३ पोस्ता

क्षुपनाम—हि०-पोस्ता। बं०-पोस्तार गाछ। अ०-नबातुल खश्खाश। फा०-कोकनार। **ले०**-*Papaver somniferum, Linn.* (पॅपेवर सॉम्निफेरम्, लिन.)। Fam. Papaveraceae (पॅपॅवेरेसी)।

फलनाम—हि०-पोस्त, पोस्ता, खसखस का फल, पोस्त के डोडे। बं०-पोस्तोढेरी। म०-अफूचे बोंड, खसखशीचे बोंड। गु०-अफीणना डोडा। ते०-गसुगसालु। ता०-गशगशा चेडि। मला०-कशकशा चेटि। फा०-पोस्ते कोकनार। अ०-किश्रुल खश्खाश बुस्तानी। अं०-Poppy Capsule (पॉपी कैप्स्यूल)। ले०-*Papaveris capsulae* (पॅपेवेरिस् कॅप्स्यूली)।

अफीम के क्षुप को पोस्ता कहा जाता है। यह क्षुप बाहर से भारतवर्ष में आया है लेकिन यहां की जलवायु अनुकूल होने के कारण इसकी यहां खेती की जाने लगी। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट एवं चक्रदत्त में अफीम का उल्लेख नहीं है। शार्ङ्गधर (१४, १५ वीं शताब्दी) एवं भावप्रकाश

10

१. 'तद् कफासे'ति पा०। २. 'मेहमदवाग्वृद्धिवर्धनमि'ति पा०।

(१६ वीं शताब्दी) में इसका प्रयोग किया गया है। अफीम की जानकारी के पूर्व लोग पोस्ते की डोडी का उपयोग उत्तेजक एवं मादक पेय के रूप में करते थे। अफीम की खोज सम्भवतः सर्वप्रथम ग्रीस में हुई तथा पहली शताब्दी में 'एशिया माइनर' इसके व्यापार का केन्द्र रहा। अरबों ने इसका प्रचार चीन एवं भारतवर्ष में किया। मुगलों के समय भारत में इसकी व्यापकरूप में खेती की जाती थी जिससे लोग इसकी डोडी का उपयोग 'कुकनार' नामक मादक पेय के रूप में करते थे। यहां से चीन एवं पूर्वीय देशों को काफी मात्रा में अफीम जाती थी। पंजाब में 'पोस्त' नाम से कुकनार की तरह पेय का प्रयोग किया जाता था। अंग्रेजों के समय इसकी खेती पर व्यापक नियन्त्रण के कारण धीरे धीरे इसकी खेती कम होती गई तथा पोस्ते की डोडी का भी उपयोग कम हो गया। अंग्रेजों के समय इसकी उपज के ३ केन्द्र थे। बिहार एवं बंगाल की अफीम 'पटना या बंगाली' अफीम, उत्तर प्रदेश की अफीम 'बनारसी' एवं राजपुताना के ग्वालियर, भोपाल तथा बड़ोदा आदि स्थानों की अफीम 'मालवा' अफीम कहलाती थी। पञ्जाब के कुछ भागों में धार्मिक आधार पर इसके खेती को छूट है अन्यथा इसकी खेती के लिये अनुमति पत्र लेना पड़ता है तथा पूरी उपज सरकार निश्चित मूल्य पर खरीद लेती है।

आजकल इसकी खेती उत्तरप्रदेश, पूर्वी पञ्जाब, राजपुताना एवं मध्यभारत में की जाती है। एशिया, यूरोप एवं उत्तरी अफ्रीका के साधारण उष्ण प्रदेशों में भी इसकी खेती की जाती है। अक्तूबर, नवम्बर महीने में इसके बीजों को बोते हैं। दिसम्बर में सरकारी अफसर खेत की जांच करते हैं। जनवरी से मार्च तक अफीम का संग्रह करके अप्रिल से जून तक बिकने के लिये भेजी जाती है।

काले, लाल और सफेद फूलों के भेद से पोस्त तीन प्रकार के होते हैं। इनमें सफेद फूल वाला पोस्त सबसे अधिक प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष में होता है। संयुक्तप्रान्त, बिहार और बङ्गाल की ओर सफेद ही होता है। इसका एक वर्षायु **क्षुप**–३–४ फुट तक ऊंचा होता है। **कांड**–चिकना चमकीला हरित क्वचित् अल्प रोमश एवं अल्प शाखा युक्त होता है। **पत्र**–आयताकार, विषम दन्तुर, अल्पशः तरंगी या खण्डित एवं उनका हृदयाकृति फलकमूल कांड को घेरे रहता है। **फूल**–कटोरीनुमे बहुत सुहावने दिखाई पड़ते हैं। फूल खिलने के एक महीने बाद पुष्पदल के बीच डोंडी (फल) लगती है। **डोंडी** (Capsule)—अण्डाकार या करीब-करीब वर्तुलाकार, २–३ इञ्च के घेरे में एवं कभी-कभी आधार एवं शीर्ष पर दबी हुई होती है। इसका शीर्ष टोप की तरह कंगूरेदार, १२–१५ कंगूरों से युक्त एक बड़े कुक्षि (Stigma = स्टिग्मा) से बना होता है। इसका आधार संकुचित होकर एक ग्रीवा बनाता है जो पुष्प दण्ड की तरफ फैली हुई रहती है। इसका रंग हलका पीताभ या भूरा एवं इस पर कुछ काले रंग के धब्बे रहते हैं। इसकी महीन एवं भिदुर फल भित्ति से अन्दर की तरफ १२–१५ महीन अन्तर्भित्तियां निकली रहती हैं जो बीच में आपस में मिलती नहीं। इसमें शीर्ष पर अक्षि के ठीक नीचे चारों तरफ कई छिद्र बन जाते हैं जिनसे बीज बाहर निकल कर बीज स्फुटन (Dehiscence) होता है। इसी डोंडी से अफीम निकाली जाती है। सफेद फूल वाले पोस्ते से मॉर्फीन (Morphine) सबसे कम निकलती है। बाजार में मिलने वाली डोंडी टूटी-फूटी तथा उन पर लम्बाई में या आडेबल में चीरे लगे होते हैं। डोंडी के खानों के भीतर छोटे-छोटे करीब-करीब सफेद रंग के वृक्काकृति अनेक **बीज** होते हैं। इनकी सतह जालीदार एवं किनारे सीधे होते हैं। ये गन्धहीन एवं इनका स्वाद मधुर एवं कुछ कड़वा होता है।

काले या नीले फूल तथा काले डण्ठल वाला पोस्ता राजपुताना एवं मध्यभारत में बहुत पाया जाता है। इसका पौधा बहुत छोटा और डोंडे भी बहुत छोटे-छोटे होते हैं। इसमें मॉर्फीन (Morphine) श्वेत जाति की अपेक्षा तिगुनी निकलती है।

लाल फूल वाला पोस्ता हिमालय पहाड़ में पाया जाता है। काश्मीर और उत्तरीय भारत के मैदानों में २–३ प्रकार का लाल फूल का पोस्ता स्वयं उत्पन्न होता है। इसके फूलों को 'गुललाला' कहते हैं। इसके डोंडे से गहरे रंग के पोस्तदाने निकलते हैं। लाल फूल वाले पोस्ते से मॉर्फीन मध्यम मात्रा में निकलती है।

रासायनिक संगठन—पोस्ते की डोंडी में ०.१–०.३% मॉर्फीन (Morphine) एवं अत्यल्प मात्रा में कोडीन (Codeine), पॅपॅहेराइन (Papaverine) एवं नार्कोटीन (Narcotine) आदि क्षाराभ एवं मेकोनिक एसिड (Meconic acid) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—पोस्ते की डोंडी में अल्प मात्रा में अफीम के क्षाराभ होने के कारण यह निद्राकर, मादक, वेदनाहर, ग्राही एवं रक्तस्तम्भक होती है।

(१) वेदनाहर एवं निद्राजनक होने के कारण इसके फांट या क्वाथ को शिरःशूल, अर्धावभेदक, पार्श्वशूल, कटिशूल, गृध्रसी, उन्माद एवं अनिद्रा आदि में पिलाते हैं तथा इसका स्थानीय लेप किया जाता है। गले के दर्द में इससे गण्डूष कराते हैं।

(२) ग्राही औषधियों के साथ अतिसार एवं संग्रहणी में इसका चूर्ण बहुत लाभदायक है। रक्तातिसार में देने से रक्त गिरना भी बन्द हो जाता है। बच्चों के दन्तोद्भेद के समय होने वाले अतिसार में इसका प्रयोग किया जाता है।

(३) मोच, सूजन एवं चमड़े के छिल जाने आदि में इसके फांट या क्वाथ से सेंका जाता है।

(४) शुष्क कास में अन्य औषधों के साथ इसके चूर्ण का उपयोग लाभदायक है।

(५) पीडायुक्त नेत्राभिष्यन्द में इसका लेप नेत्र के चारों तरफ लगाते हैं।

(६) कर्णपीडा में इसके क्वाथ से सेंका जाता है।

(७) कोकनार नामक मादक पेय के रूप में इसका बहुत प्रयोग किया जाता था एवं अफीम की जानकारी के पूर्व भी मादक एवं उत्तेजक पेय तथा शामक औषध के रूप में इसका व्यवहार किया जाता था।

मात्रा—१–२ माशा।

अथाहिफेनकम् (अफीम)। तस्य नामगुणानाह

उक्तं खसफलक्षीरमाफूकमहिफेनकम्। आफूकं शोषणं ग्राहि श्लेष्मघ्नं वातपित्तलम्। तथा खसफलोद्भूतवल्कलप्रायमित्यपि ॥ २३८ ॥

अफीम की उत्पत्ति, नाम तथा गुण—पोस्ता के फल के दूध से अफीम बनती है। अतः इसे खसफलक्षीर भी कहते हैं। खसफलक्षीर, आफूक और अहिफेनक ये नाम अफीम के हैं। **अफीम**—रक्तादि धातुओं की शोषक, ग्राही, कफनाशक एवं वातरक्तकारक होती है तथा पोस्ता के फल के छिल्के के जितने गुण हैं वे भी इसमें रहते हैं ॥ २३८ ॥

८४ अफीम।

हि०–अफीम, अफयून। **बं०**–आफिम। **म०**–अफू। **मला०**–आलन। **मा०**–अफीम, अमल। **गु०**–अफीण। **ते०**–अभिनि। **क०**–अफिनि। **ता०**–अबिनी। **अ०**–अफ्यून, लब्नुल् खश्खाश। **अं०**–Opium (ओपियम्)।

उक्त पोस्त के डोडे से अफीम निकाली जाती है। माघ के महीने में इस पर फूल आने के दो सप्ताह बाद डोडे अफीम निकालने लायक जब बड़े हो जाते हैं तब कच्चे (Unripe) डोडों के चौतरफा प्रायः शाम को चीरा कर देते हैं और प्रातःकाल लोहे के चमचा से चीरा द्वारा निकला हुआ दुधिया गोंद उठा लेते हैं। इसी प्रकार ३-४ दिन अन्तर देकर चीरा करते हैं और गोंद इकट्ठा करते हैं। जमीन पर गिरे हुए फूलों को इकट्ठा कर अफीम बाँधने का काम उनसे लिया जाता है।

इस प्रकार दूधिया गोंद को इकट्ठा कर कांसे की थाली में रख देते हैं और उसमें से जो जल निकलता है उसको फेंक देते हैं। प्रायः एक मास में गाढ़ा होने पर मिट्टी के पात्र में रख देते हैं। यही अफीम है। अफीम सरकार का व्यवसाय होने से सरकारी गुदाम में जमा की जाती है। सरकारी अफीम तीन प्रकार की होती है। पटना अफीम, बनारसी अफीम और मालवा अफीम। मालवा की अफीम सबसे अच्छी समझी जाती है। **भारतीय अफीम** घनाकार (Cubical) करीब १ सेर के टुकड़ों में पतले नेपाली कागज में लपेटी रहती है। यह कठोर एवं भिदुर (Brittle) या कुछ लचीली होती है। इसका आन्तरिक भाग गहरे बादामी (Dark brown) रंग का, चमकीला, चिकना एवं समांग (Homogeneous) होता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की तीव्र अप्रिय गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कडवा होता है। भारतीय अफीम आबकारी एवं औषधीय ऐसे दो प्रकार की होती है। पहले अफीम की खपत चीन देश में बहुत होती थी परन्तु वहां वालों के अफीम खाने के व्यसन को बहुत कमकर देने से तथा सरकारी नियंत्रण के कारण हमारे देश की अफीम की खेती बहुत कम हो गई है और कई एक सरकारी गुदाम भी तोड़ दिये गये हैं। सन् १७९७ में स्थापित गाजीपुर की अफीम फैक्टरी, जो आज भी विश्व में सबसे बड़ी फैक्टरी है, उसका उत्पादन पहले से बहुत घट गया है। आजकल वहां प्रति वर्ष १२ हजार मन से अधिक अफीम तैयार नहीं होती जहां पहले १। लाख मन तक प्रतिवर्ष तैयार होती थी। स्वदेश में १५०० मन वार्षिक की खपत है जिसमें से उड़ीसा सबसे बड़ा खरीददार है। इसके बाद पेप्सू, पंजाब तथा उत्तरप्रदेश का क्रम है। कारखाने से करीब २००० रूपये प्रतिमन के भाव से अफीम निकलती है।

अफीम बहुधा मिलावटी होती है। इसका वज़न बढ़ाने के लिये धूर्त लोग पोस्तदाने के पत्ते तथा अनेक वस्तुएँ मिला देते हैं जिससे औषधि के काम में यह अनुपयोगी हो जाती है। इसलिये वैद्यों को परीक्षा करके व्यवहार करनी चाहिये।

परीक्षा—(१) करीब ०.१ ग्रा. अफीम को ५ सी. सी. जल में गरम कर, फिल्टर कागज से छान करके (Filtration) उस द्रव में फेरिक् क्लोराइड् (Ferric chloride) के घोल के कुछ बूँद डालने से एक गहरा बैंगनी लाल (Deep purplish-red) रंग उत्पन्न होता है। यह रंग उस घोल में मंद नमक के तेजाब (Dilute hydrochloric acid) के कुछ बूँद डालने से या उसी प्रकार मर्क्यूरिक् क्लोराइड् (Mercuric chloride) के घोल के मिलाने से मिटता नहीं।

(२) ०.२ ग्रा. अफीम के चूर्ण को ५ सी. सी. क्लोरोफॉर्म एवं अमोनिया (Ammonia) के मंद घोल के कुछ बूँदों के साथ १० मिनट हिलावें। फिर एक शीशे की तश्तरी में रख दें जिससे क्लोरोफॉर्म उड़ जाय, जिसके उड़ जाने के बाद बाहर की तरफ एक धूसर श्वेत रवेदार पदार्थ का वलय रह जाता है। इसमें यदि फॉरमॅल्डिहाइड् (Formaldehyde) के घोल का १ बूँद और गन्धक के तेजाब (Sulphuric acid) के पांच बूँद का मिश्रण मिलाया जाय तो गाढ़ा किरमिजी (Crimson) रंग उत्पन्न होता है।

प्रमाप (Standard)—अफीम में ९.५% से कम मॉर्फीन (Morphine) नहीं होनी चाहिये।

अच्छी अफीम धूप में रखने से जल्दी पिघलने लगती है, अग्नि पर डालने से जलने लगती है पर कोयला नहीं बनती, जलते समय उसकी ज्वाला स्वच्छ निकलती है, मल या धूआं विशेष नहीं होता और बुझाने से अत्यन्त तीव्र और मादक गन्ध निकलती है। स्वच्छ अफीम को १०-५ मिनट सूँघने से नींद आती है।

शोधन—बाजारू अफीम को जल में घोलकर, छानकर मंद आंच पर गाढ़ा कर लें। फिर इसको आर्द्रक स्वरस की २१ भावना देकर औषध के काम में लाना चाहिये।

भारतीय अफीम के अतिरिक्त तुर्की, यूरोपीय एवं पर्शियन अफीम होती है जिनके क्षारामों की मात्रा में कुछ अन्तर होता है तथा उनके स्वरूप में भी कुछ अन्तर होता है। अफीम की उत्तमता उसमें की मॉर्फीन की मात्रा पर निर्भर रहती है। भारतीय अफीम इस दृष्टि से काफी अच्छी होती है।

रासायनिक संगठन—भारतीय औषधि अफीम में अनेक क्षाराभ पाये जाते हैं जिनकी मात्रा में भी समय समय पर फरक रहता है। इसमें मॉर्फीन (Morphine) ७-१२%, नार्कोटीन (Narcotine) १.५-१२.५%, कोडीन (Codeine) ०.३-४.०% तथा थीबेन (Thebaine), पॅपेव्हेराइन (Papaverine) एवं लॉडॅनाइन (Laudanine) आदि प्रमुख हैं। इन क्षाराभों के अतिरिक्त इसमें ॲसेटिक् (Acetic), लॅक्टिक् (Lactic), सल्फ्यूरिक् (Sulphuric) एवं मेकोनिक् (Meconic), इतने प्रकार के अम्ल (Acids), गोंद एवं पेक्टीन (Pectin) की तरह पदार्थ, ॲल्ब्यूमिन्, मोम, स्नेह, कॅउट्चौक् (Caoutchouc), राल, उड़नशील तैल, गन्धयुक्त द्रव्य, मेकोनिन् (Meconin) तथा अमोनियम्, कॅल्शियम् एवं मॅग्नेशियम् के लवण आदि पदार्थ पाये जाते हैं। व्यापारी अफीम में (शुष्क अवस्था में) मॉर्फीन की मात्रा कम ज्यादा (५-२१%) रहती है। कुछ अन्य देशों से प्राप्त अफीम में की मॉर्फीन की मात्रा—तुर्की ५-१४%, पर्शियन ६-१४%, चाइनीज १.५-११%, बोहेमिया ११-१२%, तुर्कस्तान ५-१८%, आस्ट्रेलिया ४-११%। पहले यह समझा जाता था कि भारतीय अफीम में मार्फीन की मात्रा कम होने के कारण वह औषध के उपयोग की नहीं होती। लेकिन सन् १९१४ के बाद औषधोपयोगी अफीम के उत्पादन के लिये विशेष प्रयत्न किया गया जिससे इसमें की मॉर्फीन की मात्रा बढ़ती गई और अब यह अच्छी से अच्छी तुर्की अफीम से औषधीय गुण में समता रखती है। भारतीय अफीम में एक और विशेषता यह है कि अन्य देशों की अपेक्षा यहां की अफीम में कोडीन (Codeine) नामक क्षाराभ अधिक होता है। नार्कोटीन (Narcotine) नामक क्षाराभ पटना की अफीम में मार्फीन की अपेक्षा दुगना, मालवा की अफीम में मॉर्फीन से कुछ अधिक लेकिन स्मिर्ना (Smyrna-तुर्की का एक स्थान) की अफीम में मार्फीन की अपेक्षा बहुत कम होता है।

अफीम एवं मॉर्फीन के गुण एवं कार्य—यह उष्ण, तिक्त, रूक्ष, वेदनाहर, निद्राजनक, शामक, मादक, कफघ्न, कासघ्न, स्वेदजनन, शोथघ्न, ग्राही, रक्तस्तम्भन, प्रसेकावरोधक एवं अल्प मात्रा में उत्तेजक, आह्लादकारक तथा वाजीकर है।

इसकी प्रधान क्रिया केन्द्रीय वातनाडी संस्थान पर होती है। अल्प मात्रा में इससे कुछ उत्तेजना होती है। मन को आनन्द मालूम होता है। विचारशक्ति बढ़ती है। उत्साह बढ़ता है। कामवासना बढ़ती है। किसी काम में मन एकाग्र होता है। वेदना, खांसी, थकावट, क्षुधा तथा

अन्य प्रकार की अप्रिय संवेदनाओं का ज्ञान कम होता है। मन शान्त होकर निद्रा आती है। **अधिक मात्रा** में अवसाद होकर स्पर्शज्ञान तथा सुख एवं दुःख के समझने की शक्ति कम होती है तथा कुछ बेहोशी सी मालूम होकर नींद आती है। नींद के बाद सर में दर्द तथा हल्लास मालूम होता है। वातनाडियों पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

हृदय के ऊपर इसका कोई विशेष परिणाम नहीं होता केवल प्राणदा (Vagus) नाडी केन्द्र की उत्तेजना से इसकी गति कम होकर उसे बल प्राप्त होता है। अधिक मात्रा में श्वसनकेन्द्र के अवसाद के कारण अन्य दुष्परिणाम दिखलाई देते हैं।

इसकी अल्प मात्रा से श्वसन क्रिया मंद लेकिन गम्भीर होती है। अधिक मात्रा में लेने से श्वसनकेन्द्र का अवसाद होकर श्वसन बहुत कम होते हुवे बाद में अनियमित हो जाता है। श्वसनकेन्द्र के घात एवं श्वासावरोध से मृत्यु होती है। कासकेन्द्र बहुत ही अल्प मात्रा से अवसादित होता है। औषधीय मात्रा से श्वसनियों का अल्प विस्फार होता है लेकिन अधिक मात्रा में संकोच हो जाता है।

इससे सभी प्रकार के स्राव कम होते हैं किन्तु पसीना एवं दुग्ध कम नहीं होता है। पाचक स्राव कम होता है जिससे भूख कम हो जाती है। अफीम में अन्य क्षाराभ होने के कारण आन्त्र की पुरस्सरण क्रिया अधिक कम होती है। इससे विबन्ध होता है तथा वेदनाहर होने के कारण शूल दूर होता है। स्राव कम होने से मुख, जीभ तथा गला सूखने लगता है।

चर्मगत रक्तवाहिनियों के विस्फार एवं स्वेद पिण्डों की उत्तेजना से पसीना अधिक होता है जिससे शरीर का ताप कम होता है। गला एवं चेहरे की रक्तवाहिनियों के विस्फार से कान गरम हो जाते हैं।

इससे मूत्र की मात्रा पर कोई परिणाम नहीं होता, लेकिन कभी कभी बस्तिद्वार के संकोच से कुछ रुकावट हो जाती है। कुछ विद्वानों के मत से मधुमेही के मूत्र में शर्करा की मात्रा तथा यूरिया (Urea) की मात्रा कम हो जाती है। वृक्क की विकृति में इसका उत्सर्ग शीघ्र न होने के कारण सावधानी के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये। केन्द्रीय प्रभाव से, प्रारम्भ में वमन केन्द्र की उत्तेजना से वमन होता है, लेकिन अधिक मात्रा सेवन करने पर केन्द्रावसाद होजाने के कारण वामक द्रव्यों के प्रयोग से भी वमन नहीं होता।

केन्द्रीय प्रभाव से आंखों की पुतलियों का संकोच होता है। इसमें स्थानिक वेदनाहरण का गुण नहीं है। इसका प्रचूषण श्लैष्मिक कला तथा छिले हुवे चर्म से होता है। वेदनाहर प्रभाव केन्द्रीय प्रभाव के कारण होता है।

बच्चों एवं स्तनपान कराने वाली स्त्रियों में सावधानी के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये। यदि रोगी को यह न बताया जाय की उसे अफीम दी जा रही है तो लगातार कई दिन तक देते रहने पर भी अफीम की आदत नहीं पड़ती।

अफीम के अन्य क्षाराभ—अफीम का मादक प्रभाव मुख्यतया मॉर्फीन के कारण है तथा अन्य परिणाम इतर क्षाराभों के कारण होते हैं। मॉर्फीन, पॅपेहेराइन, कोडीन, नार्कोटीन तथा थीबेन में मादक प्रभाव क्रमशः कम कम होता जाता है। प्रचूषण देर में होने के कारण मॉर्फीन की अपेक्षा अफीम का परिणाम देर में होता है लेकिन वह अधिक समय तक स्थायी रहता है। नार्कोटीन तथा पॅपेहेराइन आन्त्रिक मांसपेशियों को शिथिल करते हैं जब कि मॉर्फीन एवं कोडीन उनके तनाव को बढ़ाते हैं जिससे अफीम अधिक विबन्ध करने वाली होती है। नार्कोटीन एवं पॅपेहेराइन श्वसन केन्द्र को उत्तेजित करते हैं। मॉर्फीन एवं कोडीन की विषाक्तता नार्कोटीन बढ़ाता है। इसी प्रकार नार्कोटीन एवं पॅपेहेराइन, मॉर्फीन के कार्य को बढ़ाते हैं। कोडीन एवं नार्कोटीन का सम्मिलित प्रभाव मॉर्फीन की तरह होता है जब कि दोनों अलग अलग बहुत ही अल्प प्रभावशाली हैं। ३ मि. ग्रा. नार्कोटीन तथा ३ मि. ग्रा. मॉर्फीन का सम्मिलित प्रभाव ६० मि. ग्रा. मॉर्फीन के बराबर होता है। कोडीन कास के केन्द्र को बहुत अल्प मात्रा में अवसादित करता है तथा मधुमेही में शर्करा की मात्रा कम करता है। थीबेन नामक क्षाराभ कुचीलुसत्व के सदृश सुषुम्ना को उत्तेजित करता है।

अफीम तथा मॉर्फीन के प्रयोग

(१) अल्प मात्रा में अफीम का उपयोग उत्तेजक औषध के रूप में बहुत अच्छा होता है। डर लगना, उदासीनता, चिन्तायुक्त वृत्ति, खेदवृत्ति, थोड़े से क्रोध से हाथ पैर कांपने लगना, थकावट एवं वृद्धावस्था में जीवन से निराश होना ऐसी परिस्थितियों में इससे बहुत लाभ होता है। निरोगी अवस्था में प्रयोग से कामवासना बढ़ती है।

(२) बहुत विचार करना, बहुत अभ्यास करना, चिन्ता तथा जिन जिन व्याधियों में पीडा की वजह से नींद न आती हो उनमें इसको निद्रा के ३ घण्टे पूर्व उपयोग किया जाता है।

(३) शूल, पीडा एवं प्रक्षोभ आदि के लिये यह बहुत ही उपयोगी है। इसका उपयोग गृध्रसी, वातनाडी शोथ, कटिशूल, सन्धिशूल, पार्श्वशूल, कष्टार्तव, चोट, शरीर का जलना, अस्थिभग्न, सन्धिभंग शल्यक्रिया के पूर्व एवं पश्चात, आन्त्रिकशूल, पैत्तिकशूल, वृक्कशूल, अश्मरी, आमाशयिक शूल, आमाशय प्रक्षोभ, आमाशयिक व्रण, आन्त्रिक व्रण एवं कर्कटार्बुद आदि में किया जाता है। वृक्कजन्य आक्षेप में मूत्रल औषधों के साथ इसे देते हैं।

(४) अतिसार एवं संग्रहणी आदि में जब मल पक्व हो जाता है लेकिन ग्रहणी दौर्बल्य से दस्त बन्द नहीं होते तब अन्य ग्राही औषधियों के साथ इसकी गोली का प्रयोग किया जाता है। ऐसी अवस्थाओं में जातीफलादि रस (भै० र०) या दुग्धवटी (भै० र०) का अच्छा उपयोग होता है। विसूचिका की प्रारंभिक अवस्था में अहिफेनासव के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है लेकिन शीताङ्ग अवस्था में इसका प्रयोग न करें। टायफॉइड (आन्त्रिक ज्वर) में अतिसार हो तो इससे दस्त कम होने के साथ साथ वातिक लक्षणों में भी लाभ होता है। डर, घबड़ाहट तथा अन्य मानसिक कमजोरी के कारण होने वाले अतिसार में भी इससे लाभ होता है।

(५) प्रतिश्याय के प्रारम्भ में स्वेदल औषध के रूप में इसको देते हैं।

(६) रक्तष्ठीवन में इसका उपयोग किया जाता है। इससे रक्त का दबाव कम होता है, हृदय की गति मन्द होती है, खांसी कम होती है, मानसिक चिन्ता दूर होती है एवं नींद आती है। रक्तातिसार तथा आमाशयव्रण में आंत्रिक गति कम होकर लाभ होता है।

(७) शुष्क कास, दमा, कुकास, फुफ्फुसावरण शोथ एवं क्षयज ग्रन्थियों की वृद्धि से प्रक्षोभ होकर सूखी खांसी आती हो तो इसको मधु के साथ चटाने से लाभ होता है। जिसमें कफ बहुत जमा हो और जिसमें खांसी कफ निकल जाने के लिये आरही हो उसमें अफीम का प्रयोग नहीं करना चाहिये। श्वासकृच्छ्र, नीलीमा एवं श्वसनमार्ग में अवरोध हो तो इसका प्रयोग न करें। दमें में इसके प्रयोग से आदत पड़ने की सम्भावना रहती है इसलिये जहां तक हो प्रयोग न करें।

(८) हृदय एवं रक्तवाहिनियों के कारण यदि श्वासकृच्छ्र हो तो इससे बहुत लाभ होता है लेकिन यदि जलोदर आदि के दबाव से हृदय का कार्य ठीक न होता हो तो इसका प्रयोग न करें।

(९) प्रचुर लालास्राव, श्वेतप्रदर एवं मधुमेह में इससे लाभ होता है। मधुमेह में अफीम का प्रयोग बहुत किया जाता है लेकिन कर्नल चोपरा के मत से इसमें बिलकुल लाभ नहीं होता।

(१०) मलेरिया आदि विषमज्वरों में इससे लाभ होता है ऐसी धारणा थी। जिन जिन स्थानों में अफीम का सेवन किया जाता है वहां मलेरिया कम होता है ऐसी धारणा थी। कुछ विद्वानों ने इसके नार्कोटीन (Narcotine) नामक क्षाराभ को $\frac{1}{2}$–१$\frac{1}{2}$ र० की मात्रा में मलेरिया में सफलतापूर्वक प्रयोग किया लेकिन कर्नल चोपरा के प्रयोगों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि इससे मलेरिया के कीटाणुओं पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होता। यह बात अवश्य है कि अफीम या नार्कोटीन मस्तिष्क के उन स्थानों का जहां सूक्ष्मतर वेदनाओं का ज्ञान होता है (Algesic areas of brain), अवसाद उत्पन्न करती है जिससे ज्वर में होने वाले शिरःशूल, बेचैनी एवं शरीर में पीड़ा आदि लक्षण कम होकर तथा पसीना आकर ज्वर कम होने से लाभ प्रतीत होता है। मस्तिष्क या उसके आवरण में शोथ होने से यदि ज्वर हो तो इसका प्रयोग न करें।

(११) गर्भपात में शामक औषध के रूप में अफीम या मॉर्फीन का पूर्ण मात्रा में उपयोग किया जाता है। अत्यार्तव एवं रक्तप्रदर आदि में नार्कोटीन से व्युत्पन्न अन्य स्टिप्टिसीन (Stypticin) या स्टिप्टॉल (Styptol) आदि का उपयोग आन्तरिक एवं स्थानिक पिचु आदि के रूप में व्यवहार किया जाता है।

(१२) फुफ्फुसावरण शोथ, आमवात एवं कटिशूल आदि में इसका पोल्टिस लगाया जाता है या १ छ० गरी या तिल के तेल में ३ मा० अफीम मिला कर मालिश की जाती है। मलाशय, श्रोणिगुहा की पीडा एवं परिकर्तिका आदि में अफीम की गुदवर्ति या बस्ति का उपयोग किया जाता है। शोथयुक्त अर्श पर माजूफल के साथ अफीम का मरहम लगाया जाता है। कर्णशूल में ग्लिसरीन के साथ इसके टिंक्चर को कान में डालने से लाभ होता है।

अफीम के विष लक्षण—अफीम अधिक मात्रा में लेने से या आत्महत्या के लिये प्रयोग से घातक होती है। प्रथम तन्द्रा मालूम होती है। रोगी को उस समय जगाया जा सकता है लेकिन धीरे २ तन्द्रा बढ़ कर सन्यास का रूप धारण कर लेती है तब रोगी को जगाया नहीं जा सकता। आंखों की पुतलियां बिलकुल संकुचित हो जाती हैं लेकिन मृत्यु के कुछ मिनट पूर्व पुतलियां विकसित हो जाती हैं। शरीर ठण्डा और पसीने से तर हो जाता है। चेहरा, ओठ एवं अङ्गुलियां नीली पड़ने लगती हैं। नाडी अत्यन्त क्षीण तथा मन्द होती है। श्वास मन्द, अनियमित तथा अन्तिम अवस्था में घरघराहट युक्त हो जाता है। प्रत्याक्षिप्त क्रियाएं लुप्त हो जाती हैं। अन्त में श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। अवसादावस्था प्रायः ४ से ६ घण्टे रहती है और ६ से १२ घण्टे में मृत्यु हो जाती है।

विष चिकित्सा—(१) सर्वप्रथम रोगी को रीठे का जल या सरसों या राई जल के साथ या तूतिया १० र० जल के साथ पिलाकर वमन कराना चाहिये। लेकिन प्रायः वमन केन्द्र के अवसादित होने के कारण वमन नहीं होता इसलिये सबसे अच्छा यह है कि स्टमक् पम्प या साइफन् के द्वारा आमाशय प्रक्षालन कराया जाय। सर्वप्रथम रोगी को २–४ र० पोटेशियम् परमैंग्नेट २ से ६ छ० जल के साथ पिला दें। फिर उसी के हलके घोल से आमाशय प्रक्षालन तब तक करें जब तक घोल का रंग उसी तरह नहीं रहता।

(२) श्वसन केन्द्र को उत्तेजित करने के लिये बार २ गरम कॉफी का क्वाथ पिलाना तथा ॲट्रोपीन, स्ट्रिक्नीन् $\frac{1}{60}$ ग्रेन, कोरामीन एवं लेप्टॅझॉल् आदि का सूचिकाभरण करना, कृत्रिम श्वसन कराना या श्वसन यन्त्रों का उपयोग करना, ऑक्सीजन तथा कार्बन डाइ ऑक्साइड् को सुंघाना आदि उपचार करना चाहिये। अफीम आदि के अवसादक तथा मादक विषैले प्रभाव को दूर करने के लिये उसके ठीक विरोधी कार्य करने वाली एक नई औषध नॅलोर्फीन हाइड्रोक्लोराइड् (Nalorphine Hydrochloride) ५–१० मि. ग्रा. की मात्रा में शिरा द्वारा दी जाती है। लेथिड्रोन (Lethidrone, Burr. & Well.) एवं नेलाइन हाइड्रोक्लोराइड् (Nalline hydrochloride, Merck) नाम से यह डाक्टरी दुकानों में मिलती है। बच्चों में ०·२५ मि. ग्रा. हर दो मिनट पर कई बार दी जाती है। अन्य औषधों में चन्द्रोदय, कस्तूरी, जुन्दबेदस्तर, हींग, जद्वार या जहरमोहरा पिष्टी आदि को शहद के साथ बार-बार चटाना चाहिये।

(३) रोगी को सोने न दें। बार-बार उस पर ठंडा एवं गरम जल छिड़कते रहें। रोगी को पकड़कर चलावें। तीक्ष्ण नस्य, सरसों का लेप, बार-बार हिलाना आदि क्रियाओं से रोगी को जगावें।

अफीम के व्यसन के दुष्परिणाम—कुछ दिन लगातार अफीम खाने से उसकी आदत पड़ जाती है तथा उससे लाभ होने के लिये प्रत्येक समय मात्रा भी बढ़ानी पड़ती है। अफीमची २$\frac{1}{2}$–१० र० तक बिना किसी तीव्र दुष्परिणाम के अफीम का सेवन कर सकता है। इसके व्यसन से नैतिकपतन, कृशता, पाण्डु, मांसपेशियों की दुर्बलता, मांसपेशियों के कार्य में असमन्वयता, थकावट, नाडी की दुर्बलता, कंप, अग्निमांद्य, पाचन की खराबी, विबंध, निद्रानाश, तन्द्रा, नपुंसकता, अनार्तव एवं आंखों की पुतलियों का संकुचित होना आदि लक्षण होते हैं। लेकिन यदि अफीमची की अफीम बंद कर दी जाय तो भी मानसिक उत्तेजना, बेचैनी, आमाशय में पीडा, जलन एवं कभी-कभी वमन, विरेचन, स्वेदाधिक्य, पुरुषों में वीर्यपात और स्त्रियों में प्रहर्ष आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। एकाएक बंद करने से दुर्बल या वृद्ध लोगों में कभी-कभी अत्यन्त दौर्बल्य, अवसाद एवं निपात होकर मृत्यु भी हो सकती है।

अफीम छुड़ाने के उपाय—बच्चों में या जो दिन भर में २$\frac{1}{2}$ रत्ती से कम अफीम सेवन करते हैं या जो दुर्बल एवं वृद्ध नहीं है तथा किसी तीव्र शारीरिक रोग से पीडित नहीं है उनमें एकाएक अफीम बंद की जा सकती है। ३ दिन तक तकलीफ रहती है लेकिन बाद में ठीक हो जाती है। यदि हृल्लास, अतिसार एवं मानसिक प्रक्षोभ आदि लक्षण हों तो क्षारीय मिश्रण तथा शामक औषधों का प्रयोग करना चाहिये। निपात आदि के लिये ॲड्रिनॅलीन का सूचिकाभरण तथा चाय, कोको एवं अमोनिया आदि का प्रयोग करें।

सबसे सरल उपाय यह है कि धीरे-धीरे अफीम की मात्रा कम की जाय। कुचला, चिरायता एवं मिरिच आदि के साथ अफीम की गोलियां बनाकर उसका उपयोग करें। गोलियों में धीरे-धीरे अफीम कम करें। आहार में लेसिथिन नामक प्रभूजिन का उपयोग भी लाभदायक है। यह अंडे तथा सोयाबीन आदि में होता है। अल्प मात्रा में मद्य एवं कुछ शामक औषधों का उपयोग भी किया जा सकता है।

मात्रा—अफीम $\frac{1}{2}$–२ र०; टिंक्चर ओपिआइ ५–३० बूंद, एक साल से कम उम्र के बच्चों को $\frac{1}{2}$–१ बूंद से अधिक नहीं।

अथ खाखसतिलाः । तेषां नाम गुणाँश्चाह

उच्यन्ते खसबीजानि ते खाखसतिला अपि ॥ २३१ ॥
खसबीजानि बल्यानि वृष्याणि सुगुरूणि च । जनयन्ति कफं तानि शमयन्ति समीरणम्॥

खसखस के दाने के नाम तथा गुण—पोस्ता के दाने के ही खसबीज तथा खाखसतिल ये दोनों नाम संस्कृत में होते हैं। **खसखस के दाने**—बलकारक, वृष्य (वीर्यवर्धक) और अत्यन्त गुरुपाकी होते हैं तथा ये कफ के उत्पन्न करने वाले एवं वायु को शमन करने वाले होते हैं ॥

८५ पोस्तादाना

हि०-पोस्तदाना, दाना, खसखस, खसखस के दाने, खसबीज। **बं०**-पोस्तदाना, पोस्तबीज। **म०-गु०**-खसखस। **ता०**-गशगश। **मला०**-कशकश। **फा०**-तुख्मे कोकनार। **अ०**-बजरुल् खरखाश। **अं०**-Poppy Seeds (पॉपी सीड्स)।

उक्त पोस्तवृक्ष के डोडें से निकले हुये बीज को पोस्तदाना कहते हैं। इसके स्वरूपादि का वर्णन पोस्ते की डोंडी के साथ किया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक प्रकार का अप्रक्षोभक तैल पाया जाता है। इसमें कोई क्षाराभ नहीं पाया जाता।

गुण और प्रयोग—अफीम की जानकारी के पूर्व इन बीजों का व्यवहार आहार द्रव्य के रूप में किया जाता था। यह स्नेहन, निद्राजनक, पोषक तथा साधारण ग्राही होते हैं। मिठाइयों के ऊपर इसको छिड़का जाता है। इसका हलवा बनाकर खाया जाता है। निद्रानाश, दौर्बल्य, शुष्क कास एवं बस्ति विकार आदि में इसको पीसकर शर्करा या मधु के साथ खिलाया जाता है। इसका बाह्यलेप वेदनाहर माना जाता है।

इसके तैल का ऑलिव्ह आइल की तरह ½-१ तो० की मात्रा में प्रयोग करते हैं। यह निद्राजनक है एवं शिरःशूल में इसको सिर पर लगाते हैं तथा कर्णशूल में इसे कान में डालते हैं।

अथ सैन्धवः। तस्य नामगुणानाह

सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं मणिमन्थश्च सिन्धुजम्। सैन्धवं लवणं स्वादु दीपनं पाचनं लघु।
स्निग्धं रुच्यं हिमं वृष्यं सूक्ष्मं नेत्र्यं त्रिदोषहृत्॥ २४१॥

सेंधानमक के नाम तथा गुण—सैन्धव (यह पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में होता है), शीतशिव, मणिमन्थ और सिन्धुज ये संस्कृत नाम सेंधा नमक के हैं। **सेंधानमक**-स्वादिष्ट, अग्निदीपक, पाचक, लघु, स्निग्ध, रुचिकारक, शीतवीर्य, वृष्य, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतों में भी प्रवेश करके प्रभाव दिखाने वाला), नेत्रों के लिये हितकारी तथा तीनों दोषों को दूर करने वाला होता है॥ २४१॥

८६ सेंधानमक

हि०-सेंधानमक, सेंधानोन, लाहौरीनमक। **बं०**-सैंधवलवण। **म०**-सैंधवमीठ। **गु०**-सिंधालुण **क०**-सैंधव, सैंधवलवण। **मा०**-सींधोलूण। **ते०**-सैंधवलवणं, सिंधु उपु। **पं०**-सेंधानमक। **ता०**-इन्दु उप्पु। **फा०**-नमकेसंग। **अ०**-मिलहे तबजर्द। **अं०**-Chloride of Sodium (क्लोराइड् ऑफ सोडियम्); Rock-salt (रॉक्साल्ट); Bay salt (बे साल्ट)। **ले०**-*Sodii chloridum* (सोडिआइ क्लोराइडम्)।

सेंधानमक एक सुप्रसिद्ध नमक सिन्ध देश की खानों से निकलता है। पत्थर के ढोंके के समान इसके बड़े-बड़े टुकड़े आते हैं। यह सब प्रकार के नमकों में शुद्ध नमक समझा जाता है। सिन्धु नदी के पूर्व में होने वाला नमक कुछ लाल रंग का होता है। इसमें पोटॅशियम् तथा मॅग्नेशियम् के कुछ लवण मिले रहते हैं। इन खानों में ऊपर का स्तर कुछ मटमैला होता है लेकिन नीचे का स्तर शुद्ध होता हैं। इस नमक को 'लाहोरी' नमक कहते हैं। सिन्धु नदी के

पश्चिम की खानों में नमक के स्तर के ऊपर गोदन्ती का एक स्तर रहता है। इसमें पोटेशियम् तथा मॅग्नेशियम् के लवण नहीं होते। इस नमक को 'कोहटी' या 'निमक सब्ज' कहते हैं। खानों से प्राप्त होने वाला एक और स्फटिक के समान पारदर्शक नमक होता है जिसे 'निमक शीश' (रसार्णव-मणिमंथ) और (अं) सल्जेम् (Salgem) कहते हैं।

उत्पत्ति—स्थानभेद से नमक की कई जातियां होती हैं लेकिन सबों में खाने का नमक रहता है। अन्य अशुद्धियों के कारण उनमें स्वाद, स्वरूप तथा गुणों में अंतर रहता है। सभी नमकों का मूल स्रोत समुद्र ही है। जहां आज पहाड़ है वहां भी किसी जमाने में समुद्र था और वहां का हिस्सा समुद्र से अलग होने से वहां का जल सूखकर नमक जम गया। कालान्तर से उस पर मिट्टी आदि जमती गई तथा यह पृथ्वी के अंदर नमक की खानों के रूप में रह गया।

भारत मे खाने का नमक ३ प्रकार से प्राप्त होता है।

(१) समुद्र के जल को सूर्य की उष्णता से या उबालकर जो नमक तैयार किया जाता है उसे 'सामुद्र' कहते हैं।

(२) खारे तालाब, खारे झरने तथा खारे कूओं का जल या खारी मिट्टी पानी में घोलकर उस घोल को उबाल कर या धूप में सुखाकर तैयार करते हैं।

(३) पृथ्वी के अन्दर रहने वाली नमक की खानों से प्राप्त जिसे सैंधव कहते हैं।

बंबई तथा मद्रास का समुद्र किनारा, पंजाब का पहाड़ी नमक, राजपूताना की झीलें तथा विभिन्न स्थानों की रेह इनसे बहुत नमक प्राप्त होता है लेकिन सबसे अच्छा नमक सैंधव होता है। यद्यपि भारतवर्ष में नमक बहुत पाया जाता है तथा और अधिक बनाया भी जा सकता है तो भी ब्रिटिशकाल में सरकारी नियंत्रण के कारण विदेशों से भी नमक का आयात होता था।

गुण और प्रयोग—नमक शरीर का एक अत्यन्त आवश्यक पदार्थ है तथा रक्त रस (Serum) का प्रधान खनिज द्रव्य है। यह रक्त में निश्चित अनुपात में रहता है तथा शरीर के जलीयांश एवं लवणों के नियन्त्रण में सहायक होता है। कुछ मात्रा में यह धातुओं में संचित भी रहता है लेकिन जितना भी अधिक होता है यह मूत्र एवं पसीना आदि द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। नमक की क्रिया ऑसमोटिक् दबाव के परिवर्तन से होती है। यह पूर्णतः एक भौतिक क्रिया होती है। यदि एक पात्र के बीच एक अर्ध प्रवेश्य परदा (Semi permeable membrane) लगाकर दोनों तरफ नमक के घोल भर दें जिसमें एक में नमक ज्यादा रहे और दूसरे में कम रहे तो कुछ देर बाद यह दिखलाई देगा कि जिसमें नमक अधिक रहा उस तरफ कम नमक वाले भाग से जल आकर्षित होकर धीरे-धीरे दोनों भाग के घोल एक ही समान हो जावेंगे। इस भौतिक परिवर्तन को 'ऑसमोटिक्' (Osmotic) क्रिया कहते हैं। रक्त के बराबर ऑसमोटिक् बल के लवण घोल को समबल लवणजल (Isotonic saline) कहते हैं। यह ०·९%नमक का घोल होता है। रक्त से अधिक बलवाले घोल को अतिबल लवणजल (Hypertonic saline) एवं रक्त से कम बलवाले घोल को हीनबल लवणजल (Hypotonic saline) कहते हैं। यदि अतिबल लवणजल का सिरा द्वारा सूचिकाभरण किया जाय तो रक्त का ऑसमोटिक् दबाव अधिक होगा जिससे समीपस्थ लसिका से जलापहरण होकर रक्त की मात्रा बढ़ेगी। रक्त के लाल कणों से भी द्रवापकर्षण होने से वे भी सिकुड़ जावेंगे। इसी प्रकार हीनबल लवणजल मे रक्त के लाल कण जल खींच कर फूल जावेंगे। शरीर में जब भी विभिन्न बल वाले घोल समीप आते हैं इसी प्रकार की क्रिया होती है।

सैंधव रूचिकारक, अग्निदीपक, पाचक, वातानुलोमक, नेत्र्य, व्रण रोपक एवं व्रण शोधक है। अल्प मात्रा से इससे पाचक स्रावों की वृद्धि होती है लेकिन अधिक मात्रा में आमाशयिक प्रक्षोभ होकर वमन एवं जलापकर्षण द्वारा कभी-कभी विरेचन होता है। अल्पबल लवणजल का प्रचूषण आसानी से हो जाता है लेकिन अन्यों का कम होता है। अतिबल लवणजल के सूचिकाभरण से ऑसमोटिक् क्रिया द्वारा रक्त की मात्रा बढ़ती है जिससे मूत्र एवं पसीना आदि की मात्रा बढ़ जाती है।

कुछ लोगों के मत से नमक का अधिक सेवन बहुत ही लाभदायक एवं आयु को बढ़ाने वाला होता है लेकिन आयुर्वेदानुसार नमक का अधिक उपयोग हानिकर है।

(१) कुपचन, आध्मान एवं शूल आदि में अन्य औषधों के साथ इसका उपयोग किया जाता है। विसूचिका में जब शरीर से वमन एवं विरेचन के कारण बहुत सा द्रव तथा लवण निकल जाते हैं और शरीर ठण्डा होकर रोगी मरणासन्न हो जाता है ऐसी अवस्था में अतिबल लवणजल का सिरा द्वारा सूचिकाभरण बहुत ही आश्चर्यजनक लाभदायक होता है। इससे फिर से रक्त प्रवाह शुरु होकर रोगी बच जाता है। इसके लिये जिस घोल का उपयोग किया जाता है। उसके १ पाइंट परिस्रुत जल में शुद्ध नामक १२० ग्रे., पोटेशियम् क्लोराइड् (Potassium chloride) ६ ग्रे. एवं कैल्शियम् क्लोराइड् (Calcium chloride) ४ ग्रे. रहता है। यदि शरीर में अम्लता अधिक हो तथा पोषण की भी आवश्यकता हो तो इसीमें सोडाबाईकार्ब (Soda bi carb) ४० ग्रे. एवं ग्लूकोज (Glucose) १४ ग्रे. मिलाया जाता है।

अतिसार, रक्तातिसार एवं अत्यधिक रक्त स्राव आदि में जलापहरण के कारण निपात (Collapse) एवं स्तब्धता (Shock) आदि होने पर समबल लवणजल के सिरा द्वारा सूचिकाभरण से बहुत लाभ होता है। इसी प्रकार मूत्र विषमयता (Uraemia), गर्भिणी विषमयता (Eclampsia) एवं कार्बन मॉनऑक्साइड (Carbon monoxide) नामक कोयले के धूएँ के विषैले प्रभाव आदि अवस्थाओं में इसी प्रकार के समबल लवणजल (०.९%) का उपयोग विष की तीव्रता कम करने के लिये किया जाता है। शरीर अत्यधिक दुर्बल हो गया हो तथा पोषण की त्वरित आवश्यकता हो तो ५% ग्लूकोज के साथ समबल लवणजल का उपयोग लाभदायक होता है।

इन उपर्युक्त अवस्थाओं में सिरा के अतिरिक्त चर्म के नीचे, मुख द्वारा एवं गुदा द्वारा लवणजल का उपयोग किया जा सकता है। गुदा द्वारा, २ माशे नमक करीब ५ छटांक जल में घोलकर रोगी को उत्तान लिटा कर तथा कूल्हों को कुछ ऊँचा करके रबर की नली द्वारा हर चार घण्टे पर दिया जाता है। घोल की उष्णता शरीर की उष्णता के बराबर या कुछ अधिक होनी चाहिये।

(२) डा. ब्रुक मलेरिया के लिये एक प्रयोग लिखते हैं। एक मुट्ठीभर नमक को कड़ाई में डालकर मन्द आंच पर कुछ बादामी रंग होने तक भूनते हैं। इसमें से १ तो. नमक जल के साथ सुबह खाली पेट रोगी को दिया जाता है। इसके पश्चात् प्यास बहुत लगे तो थोड़ा-थोड़ा जल पीने को दें। २, ३ घण्टे तक खाने को कुछ भी न दें। बाद में बहुत भूख लगने पर हलका पौष्टिक आहार दें। रोगी को ठण्डक से बच कर रहना चाहिये। डा० ब्रुक का कहना है कि इसके एक ही बार के प्रयोग से मलेरिया दूर हो जाता है या कभी २ दो बार प्रयोग करना पड़ सकता है।

(३) व्रण, नाडीव्रण एवं दूषित क्षत आदि के प्रक्षालन के लिये परमबल लवणजल का प्रयोग किया जाता है तथा विरल कपड़े (गॉज) की पट्टी इस घोल में भिगो कर व्रण पर रखी जाती है। इससे व्रणित भाग में लसिकास्राव एवं श्वेतकणों की वृद्धि होकर व्रण शुद्ध होकर जल्दी

अच्छा होता है। इस चिकित्सा में अन्य प्रतिदूषकों (Antiseptics) की तरह शरीर की कोषाओं को कुछ भी नुकसान नहीं पहुँचता।

(४) श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया) में नमक की पोटली बना कर उससे छाती को सेंका जाता है जिससे कफ ढीला हो कर निकलता है तथा वेदना शांत होती है। इसका आंतरिक प्रयोग ४ र. की मात्रा में जल के साथ किया जा सकता है। संधिवात, आमवात, गंडमाला एवं आमाशयिक पीड़ा आदि में भी पोटली से सेंकने से लाभ होता है।

(५) इन्फ्लुएंझा, प्रतिश्याय एवं शिरःशूल तथा स्वास्थ्य वृद्धि के लिये १ तोला नमक १ सेर जल में डाल कर उसका नस्य बहुत लाभदायक है।

(६) गले की खराबी में कदुष्ण जल में नमक डाल कर उससे गरारा करना चाहिये। गला एवं तालु की शिथिलता होने पर ठंडे पानी में नमक डाल कर कुल्ला कराने से लाभ होता है।

(७) यदि गलती से जोंक गले के अन्दर चली जाय तो लवण जल पिलाते हैं। इसी प्रकार सिल्वर नाइट्रेट (Silver nitrate) नामक चांदी के दाहक क्षार के विष को दूर करने के लिये इसको पिलाते हैं।

(८) जीर्ण आमवात, गृध्रसी तथा अन्य पीडायुक्त संधि विकारों में एवं बिच्छू के काटने पर २०% उष्ण लवण जल में अवगाह किया जाता है तथा लवण जल पिलाते भी हैं।

(९) सूत्रकृमि (Thread worm) में इसकी बस्ति दी जाती है।

(१०) वमन कराने के लिये यह अत्युत्तम औषध है। अल्प मात्रा (२%) में देने से यदि वमन होता हो तो रुक जाता है।

(११) मांसपेशियों की दुर्बलता में नमकयुक्त ठण्डे जल की धारा से बहुत लाभ होता है विशेषकर वर्धमान लड़कियों की पीठ की दुर्बलता में इसका अच्छा उपयोग होता है। करीब १५ सेर जल में १ सेर नमक डाल कर स्नान करने से रक्तप्रवाह बढ़ता है तथा स्फूर्ति मालूम होती है। मांसपेशियों की पीड़ा, चर्म रोग, मोच एवं मरोड़ आदि में भी स्नान से लाभ होता है।

निषेध—किसी भी प्रकार के शोफ, जलोदर तथा अन्य रोग जिनमें शरीर के अन्दर द्रव पदार्थों का संचय होता है उनमें नमक का प्रयोग नहीं करना चाहिये। रक्तभाराधिक्य, चर्मरोग एवं अत्यधिक प्यास आदि में भी इसका निषेध है। अधिक मात्रा में सिरा द्वारा लवणजल के प्रयोग से कभी-कभी इक्षुमेह (Glycosuria), साधारण ज्वर एवं क्वचित् मूत्र में ॲल्ब्यूमिन का निकलना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। फुफ्फुस शोफ (Oedema of lungs) तथा हृदय अधिक भार सहन करने में असमर्थ हो तब सिरा द्वारा लवणजल का प्रयोग न करें नहीं तो मृत्यु की सम्भावना रहती है।

अथ शाकम्भरीयम्। तस्य नामगुणानाह

शाकम्भरीयं कथितं गडाख्यं रोमकं तथा ॥ २४२ ॥
गडाख्यं लघु वातघ्नमत्युष्णं भेदिपित्तलम्।
तीक्ष्णोष्णं[१] चापि सूक्ष्मञ्चाभिष्यन्दिकटुपाकि च ॥ २४३ ॥

सांभर नमक के नाम तथा गुण—शाकम्भरीय के ही, गडाख्य (गडलवण) तथा रोमक पर्यायवाची शब्द हैं। सांभर नमक-लघु, वायुनाशक, अत्यन्त उष्णवीर्य, भेदी (मलादिक का भेदन

१. 'तीक्ष्णं व्यवायी'ति पाठान्तरम्।

करनेवाला), पित्तजनक, तीक्ष्णोष्णवीर्य, सूक्ष्म, अभिष्यन्दी तथा विपाक में कटुरस युक्त होता है ॥ ४२-४३ ॥

८७ साम्भरनमक ।

हि०-साम्हर नमक, साम्भरनोन, सांभर निमक। बं०-साभरलुण, शाम्भारि लवण । म०—सांबर मीठ, सांभर लोण। गु०-वडागरू मीठ, साम्भरमोह, सामरलून। क०-गाड़लवड, गाढ़ लवण । फा०-मिलहे अवकीर, नमक साम्भर । अ०-मलह उल् अवकर ।

राजपुताना की झीलों के जल को सुखा कर जो नमक प्राप्त किया जाता है वह सांभर नमक कहलाता है । राजपुताना में सांबर नामक एक २० मील लम्बी तथा ५ मील चौड़ी झील है । इसमें ४ नदियां बहती हैं । बरसात में उसमें पानी जमा होता है । गर्मी में जल सूख जाता है । इसके २० भाग नमक में १५ भाग खाने का नमक, १ भाग सर्जिका (सोडियम् कार्बोनेट) तथा ३ भाग खारोनोन (सोडियम् सल्फेट) तथा अल्प मात्रा में आयोडीन एवं सोरे के लवण रहते हैं । यहां के जल को क्यारियों में जमा करते हैं जिसके सूर्य की गरमी से सूखने से उसमें का नमक अलग हो जाता है । जलमें अन्य अशुद्धियां रह जाती हैं जिसे फिर से झाल में डाल देते हैं । नमकोन जलको सुखा कर बनाये हुए नमकों में यह सबसे अच्छा होता है । इसका स्वाद कुछ कटु होता है ।

गुण और प्रयोग—इसके गुण भी सैंधव की तरह होते हैं लेकिन वह उससे न्यून गुण वाला है ।

अथ सामुद्रं लवणं (पाङ्गा) तस्य नामगुणानाह

सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीवं वशिरञ्च तत् । समुद्रजं सागरजं लवणोदधिसम्भवम् ॥ २४४ ॥
सामुद्रं मधुरं पाके सतिक्तं मधुरं गुरु । नात्युष्णं दीपनं भेदि सक्षारमविदाहि च ॥
श्लेष्मलं वातनुत्तीक्ष्णमरूक्षं नातिशीतलम् ॥ २४५ ॥

समुद्रनोन (पांगा) के नाम तथा गुण—समुद्रलवण के ही अक्षीव, वशिर, समुद्रज, सागरज और लवणोदधिसम्भव ये संस्कृत नाम हैं । **समुद्र नमक—**पाक में मधुररस युक्त, स्वाद में तिक्तरस मिश्रित मधुररस युक्त और गुरु होता है । यह अत्यन्त उष्णवीर्य नहीं होता है । यह दीपक, भेदी, क्षारगुण युक्त, अविदाही (दाह नहीं पैदा करने वाला), कफकारक, वातनाशक एवं तीक्ष्ण होता है । यह रूखा तथा अत्यन्त शीतल भी नहीं होता है ॥ २४४-२४५ ॥

८८ समुद्रनमक

हि०-पांगनिमक, पंगानोन, समुद्रनिमक, समुद्रीनोन । **बं०**-पांगा । **म०**-मीठ । **गु०**-मीठुं, दरियाइ लूण । **ते०, ता०**-उप्पु । **फा०**-नमक, नमक दरिया । **अ०**-मिलह शोरी, मलहे उल् मुहीत । **अं०**-Salt (साल्ट) । **ले०**-*Sodii muras* (सोडिआइ मुरास्) ।

समुद्र के खारे पानी से बनाये हुए नमक को समुद्र नमक कहते हैं । भारत में आवश्यक नमक का ३७% भाग बंबई के समुद्री तट से निर्मित होता है । नमक निकालने के लिये विभिन्न देशों में हवा की उष्णता के अनुसार विभिन्न पद्धतियां काम में लाई जाती हैं । समुद्र के किनारे पर छोटे-छोटे गढ़े बनाते हैं जिसमें समुद्र का जल धीरे-धीरे भरता है । सूर्य की गरमी से उसमें

(१) तिक्तेति' पाठान्तरम् ।

का जलीय अंश सूखने लगता है । १०० भाग जल में ३७ भाग नमक घुलता है । नमक को घुलने के लिये जितने जल की आवश्यकता होती है उससे कम जल जब सूख कर रह जाता है तब उसमें का नमक अलग होकर नीचे जमने लगता है । जैसे-जैसे नमक जमता है वैसे-वैसे उसे निकल कर जमा करते जाते हैं । उस नमक की राशि में से मॅग्नेशियम् क्लोरायड (Magnesium chloride) निस्यंदित होकर निकल जाता है । समुद्री जल में खाने के नमक के साथ पोटॅशियम् क्लोराइड (Potassium chloride), मॅग्नेशियम् क्लोराइड् (Magnesium chloride), मॅग्नेशियम् सल्फेट् (Magnesium sulphate) एवं कॅल्शियम् सल्फेट् (Calcium sulphate) आदि द्रव्य रहते हैं जो खाने के नमक निकालने के बाद उस जल में रह जाते हैं । इस कड़वे जल में से इन पदार्थों को विभिन्न पद्धतियों से अलग कर लेते हैं । बाजारू समुद्री नमक कुछ आर्द्र रहता है उसका कारण यह है कि उसमें मॅग्नेशियम् एवं कॅल्शियम् क्लोराइड्स के कुछ अंश रह जाते हैं । शुद्ध नमक आर्द्र नहीं होता तथा इसका १ भाग २$\frac{1}{2}$ भाग जल में घुल जाता है ।

गुण और प्रयोग—सामुद्र लवण के गुण सैंधव के समान होते हुवे भी इसमें जो अन्य पदार्थ रहते हैं उनके कारण कुछ अंतर पड़ता है ।

(१) समुद्र में स्नान करने से जो चुमचुमाहट होती है उसके कारण शरीर का रक्त प्रवाह बढ़ जाता है तथा उससे शरीर में स्फूर्ति मालूम पड़ती है ।

(२) समुद्री जल का मांसपेश्यन्तर्गत सूचिकाभरण अजीर्ण, शोष, जीर्ण चर्मविकार तथा बच्चों के पचनसंस्थान के विकारों में लाभदायक माना जाता है ।

(३) समुद्री नमक में आयोडीन (Iodine) रहने के कारण गलगण्ड (Goitre) के प्रतिबंधन की दृष्टि से इसका उपयोग लाभदायक माना जाता है ।

(४) पाण्डु, आमाशयिक व्रण, प्रतिश्याय, वातनाडीशोथ, नाड्यवसन्नता एवं पचनसंस्थान की दुर्बलता में समुद्री जल का उपयोग रोगनाशकरूप में किया जाता है । फ्रांस में बच्चों की जीवनी शक्ति (Vitality) बढ़ाने के लिये इसका प्रयोग करते हैं ।

अथ बिडलवणम् (बिरियासंचर) । तस्य नामगुणानाह

बिडं पाक्यञ्च कृतकं तथा द्राविडमासुरम् ।
बिडं सक्षारमूर्ध्वाधःकफवातानुलोमनम् ॥ २४६ ॥

बिरिया संचर नमक के नाम तथा गुण—बिड, पाक्य, कृतक, द्राविड तथा आसुर ये सब बिरिया संचर नमक के संस्कृत नाम हैं । **बिरिया संचर नमक—**क्षार गुण युक्त (विकृत त्वचा मांसादिकों को गला कर दूर करने वाला) होता है, तथा ऊपर (मुखादि) के मार्ग से कफ एवम् नीचे (गुदादि) के मार्ग से वायु का अनुलोमन करने वाला अर्थात् कफ को मुखादि से निकालने वाला और अपान वायु को अधोगामी करने वाला होता है ॥ २४६ ॥

*** ऊर्ध्वं कफमधो वातं सञ्चारयेदित्यर्थः ॥ २४६ ॥**

यहां पर 'ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनम्' का—'ऊपर मुखादि की ओर कफ को एवं नीचे गुदादि की ओर अपान वायु को संचारित करने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २४६ ॥

दीपनं लघु तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रुच्यं व्यवायि च ।
विबन्धानाहविष्टम्भहृद्रुग्गौरवशूलनुत् ॥ २४७ ॥

बिरिया संचर नमक—अग्निदीपक, लघु (शीघ्र पच जाने वाला) तीक्ष्ण तथा उष्ण-वीर्य, रूक्ष, रुचिकारक, व्यवायि (परिपक्व होने के पहले ही शरीर में प्रभाव दिखाने वाला), विबन्ध, आनाह, विष्टम्भ, हृद्रोग, शरीर को गुरुता तथा शूल को नष्ट करने वाला भी होता है ॥

८९ बिरिया संचर नमक ।

हि०—बिरिया (आ) नमक, बिरिया संचर नमक, बिरिया सोंचर नमक, कटीला नमक, कालानमक । **बं०**—विट्नुन । **म०**—पादेलोण, बिडलोण । **गु०**—बिड लवण ।

बिडलवण क्या है इस विषय में विद्वानों में मतभेद है । श्रीयुत द० अ० कुलकर्णी जी ने अपनी रसरत्नसमुच्चय की टीका में इसका स्पष्टीकरण किया है । जो क्षार, अम्ल, गंधक तथा नमक आदि पदार्थ पारद में दिये हुवे ग्रास को जीर्ण करने के लिये प्रयुक्त होते थे उन्हें बिड कहा जाता था । बाद में इस शब्द का प्रयोग अन्य धातुओं को पारद में जीर्ण कराने के लिये एवं भिन्न-भिन्न धातुओं के शोधन अथवा द्रावण के लिये प्रयुक्त द्रव्यों के लिये किया जाने लगा । इसके पश्चात् रसशास्त्र की अवनति के काल में उपर्युक्त दोनों अर्थ भूल गये और बिड का प्रयोग नमक के साथ करके बिडनमक के रूप में कालानमक के लिये आजकल किया जा रहा है । यह कालानमक मनुष्य के खाये हुवे ग्रास अथवा गुरु भोजन को जीर्ण अथवा हजम कराने में समर्थ होने के कारण बिडनमक या कालानमक यह अर्थ ही अब व्यवहार में विशेष रूढ हो गया है ।

सुश्रुत की टीका में डल्हण लिखते हैं कि 'कृत्रिमं स्वनाम्ना ख्यातं, तच्च प्रसारिणी कल्कभक्त-लवणसंयोगादग्निदाहेन निवृत्तम्' अर्थात् प्रसारिणी का कल्क, भात तथा नमक आदि को जलाकर बनाया हुआ नमक । गुजरात की ओर उपर्युक्त चीजों को गड्ढे में डालकर जलाते हैं तथा १०, १५ दिन बाद उसमें से नमक के ढेले निकाल कर व्यवहार करते हैं ।

कुछ लोगों ने सौवर्चल लवण को कालानमक लिखा है ।

आजकल बिडलवण नाम से जिस काले नमक का व्यवहार किया जाता है उसके बनाने की निम्न विधि है । यह हिसार जिले में भिवानी नामक ग्राम में अधिक बनाया जाता है । १ मन सेंधानमक तथा हर्रा, आंवला तथा सज्जीखार (व्यापार का सोडियम् कार्बोनेट) प्रत्येक आधा सेर लेकर सब चीजों को कूट कर एवं मिलाकर मिट्टी की हांडियों में पकाते हैं । जब सब चीजें गलकर एक हो जाती हैं तब आंच को बन्द करके ठंडा होने पर नमक के ढोकों को निकाल लिया जाता है । एक अन्य विधि यह है कि २८ सेर सांभर नमक तथा ५० तो० आंवला चूर्ण को मिला कर उसका चतुर्थांश एक संकरे मुंह की हांडी में रखकर गरम करें तथा लाल होने पर बाकी चूर्ण में से थोड़ा थोड़ा उस हांडी में डालते जांय । करीब ६ घण्टे पश्चात् २४ सेर के लगभग काला नमक तैयार हो जावेगा ।

यह काला नमक गहरे लाल काले से चमकीले रंग का, नमकीन एवं विशिष्ट गंधयुक्त होता है ।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रधानतया (९५%) खाने का नमक तथा अत्यल्प मात्रा में खारी नोन (Sodium Sulphate–सोडियम् सल्फेट), ॲल्यूमिना, मॅग्नेशिया, फेरिक् ऑक्साइड् एवं आयर्न सल्फाइड् आदि पदार्थ पाये जाते हैं । इसकी गन्ध इसके आयर्न सल्फाइड् के कारण रहती है लेकिन इसमें यह बहुत अल्प (१०० में १ से कम) मात्रा में रहता है ।

गुण और प्रयोग—यह अग्निदीपक, वातानुलोमक, विरेचक एवं बल्य है । इसका प्रयोग प्लीहावृद्धि, यकृत विकार, आध्मान, शूल, अपचन एवं अन्य आंत्रिक विकारों में किया जाता है ।

मात्रा—२-८ रत्ती ।

अथ सौवर्चलं लवणम् । तस्य नामगुणानाह

सौवर्चलं स्याद् रुचकं मन्थपाकञ्च तन्मतम्[1] । रुचकं रोचनं भेदि दीपनं पाचनं परम् ॥ सस्नेहं वातनुन्नातिपित्तलं विशदं लघु । उद्गारशुद्धिदं सूक्ष्मं विबन्धानाहशूलजित् ॥२४९॥

काला नमक के नाम तथा गुण—सौवर्चल, रुचक और मन्थपाक ये सब काला नमक के संस्कृत नाम हैं । कालानमक—रोचक, भेदक, अग्निदीपक, अत्यन्त पाचक, स्नेहयुक्त, वातनाशक एवम् अत्यन्त पित्तजनक नहीं होता है । तथा यह विशद गुण युक्त, हलका, उद्गार (डकार) को शुद्ध करने वाला, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतोगामी), विबन्ध, आनाह तथा शूल का नाश करने वाला है ॥ २४८-२४९ ॥

९० सोंचर नमक ।

हि०—कालानमक, सोंचर नमक, चौहार कोड़ा, चोहार कोरानोन, चौहार कारा, चौहार काला । **बं०**—संचल लवण । **म०**—सोनचक मीठ । **गु०**—संचल । **क०**—चौवर्चल । **ते०**—नालु उपु । **फा०**—नमक सिया, नमक स्याह । **यू०**—नमक काला । **अ०**—माला अस्वद, मलह अस्वद । **अं०**—Black Salt (ब्लॅक साल्ट), Sochal Salt (सोंचल साल्ट) । **ले०**—*Unaqua Sodium Chloride* (अनकुआ सोडियम् क्लोराइड) ।

जिस प्रकार बिडलवण के सम्बन्ध में मतभेद है उसी तरह सौवर्चल लवण के सम्बन्ध में भी मतभेद है । कुछ लोगों ने इसे काललवण लिखा है । कुछ लोगों ने यह लिखा है कि जो सौवर्चल निर्गन्ध होता है वह काललवण है तथा वह दक्षिण समुद्र के समीप बनता है । डा० देसाई लिखते हैं 'रसग्रन्थों में सौवर्चल नाम शोरे को दिया गया है । सु = सुष्ठु, वर्चः = दीप्ति, अल् = प्राप्ति, सर्वथा अलति अनेन इति सौवर्चलं = जिसके कारण भली प्रकार प्रकाश पड़ता है अर्थात् 'वह्न्युत्तेजक' । श्रीयुत द. अ. कुलकर्णीजी लिखते हैं 'जिस मिट्टी से शोरा प्राप्त किया जाता है उसे लुनिया मिट्टी कहते हैं तथा उस मिट्टी में कुछ खाने का नमक भी रहता है जिसे अलग कर लिया जाता है । ऐसे नमक में कुछ शोरे का अंश रहता है । शोरे के साथ-साथ पैदा होने के कारण तथा शोरे की कुछ मात्रा इसमें रहने के कारण इसको सोंचर अथवा सौवर्चल कहते हैं ।

सोंचर नमक बनाने की निम्न विधि प्रचलित है । सज्जी माटी को जल में घोल दिया जाता है फिर उसमें थोड़ा थोड़ा खाने का नमक डालते जाते हैं और जितना घुलता है उतना घुलने देते हैं । फिर इस घोल को छानकर अग्नि से सुखाते हैं । यह कुछ गहरे रङ्ग का होता है ।

रासायनिक संगठन—इसमें खाने का नमक, खारी नोन (सोडा सल्फ) एवं सज्जीखार (कॉस्टिक् सोडा) रहता है लेकिन सोडियम् कार्बोनेट नहीं रहता ।

गुण और प्रयोग—इसका उपयोग बिड लवण के स्थान पर भी किया जाता है । यह अग्नि-दीपक, पाचक एवं विरेचक होता है । इसका उपयोग शूल, गुल्म, आन्त्रकृमि एवं संग्रहणी आदि में किया जाता है ।

मात्रा—२-८ रत्ती ।

अथ खानिजं लवणम् । तस्य नामगुणानाह

औद्भिदं पांशुलवणं यज्जातं भूमितः स्वयम् । क्षारं गुरु कटु स्निग्धं शीतलं वातनाशनम् ॥

खानिज लवण अर्थात् रेहगवा नोन के नाम, उत्पत्ति तथा गुण—औद्भिद तथा पांशुलवण

[1] 'अक्षपाकं च धातुमत्' इति पाठा० ।

ये दो नाम संस्कृत में उस नमक का है जो कि जमीन से स्वयम् उत्पन्न होता है। रेहगवा नोन—क्षार गुणयुक्त, गुरु, कटुरसयुक्त, स्निग्ध, शीतल और वातनाशक होता है ॥ २०५ ॥

९१ रेह का नमक

हि०—रेहगवा नोन, रेह का नमक, मटिया नोन, शोरा नोन। **बं०**—फूला लवण।

जांगल देश की खारी भूमि में रेह उत्पन्न होती है। उत्तरप्रदेश, पञ्जाब, बिहार एवं बंगाल आदि प्रान्तों की ऊसर जमीन में भी रेह होती है। उसी रेह से बना हुआ नमक रेहगवा नोन कहलाता है। जिस प्रकार की मिट्टी होगी उसी प्रकार का नमक प्राप्त होता है। जिस मिट्टी से शोरा अलग किया जाता है उससे प्राप्त नमक में शोरे का अंश रहता है। ऐसे नमक को कुछ लोग सौवर्चल लवण मानते हैं। तथा सज्जी मिट्टी से प्राप्त नमक में सज्जीखार की कुछ मात्रा रहती है। इसे वे औद्भिद लवण या रेहगवा नोन मानते हैं। कुछ भी हो जो ऊसर मिट्टी से नमक निकाला जाता है उसे रेहगवा नोन कहा जाता है। यह नमक कुछ तीता, कडवा एवं क्षारीय होता है।

रासायनिक संगठन—इस नमक में काफी मात्रा में खारी नोन (सोडा सल्फ) तथा अल्प मात्रा में सोडियम् कार्बोनेट एवं मॅग्नेशियम् सल्फेट रहते हैं।

गुण और प्रयोग—रोचक, दीपन एवं पाचन गुण के कारण सभी पाचन योगों में इसका व्यवहार किया जाता है। सामान्य मात्रा में मूत्रल भी होता है। योगों के अतिरिक्त स्वतन्त्ररूप में लवणों का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। वमन कराने के लिए प्रायः सैन्धव ही प्रयुक्त होता है।

मात्रा—४ रत्ती से १ माशा।

नोट—उपर्युक्त लवणों के अतिरिक्त चरक (वि. अ. ८) के लवण स्कन्ध में एवं सुश्रुत (सू. अ. ४६) में इतर विशिष्ट लवणों का उल्लेख किया गया है।

अथ चणकाम्लकम्। तस्य गुणानाह

चणकाम्लकमत्युष्णं दीपनं दन्तहर्षणम्। लवणानुरसं रुच्यं शूलाजीर्णविबन्धनुत् ॥ २५१ ॥

चनाखार के नाम तथा गुण—चनाखार को संस्कृत में चणकाम्ल कहते हैं। चणकाम्ल—अत्यन्त उष्णवीर्य, अग्निदीपक, दन्तहर्षण (दन्तहर्ष अर्थात् दांतों में खट्टापन लग जाने से चबाने में असमर्थ कर देने वाला), कुछ लवण रस युक्त, रुचिकारक, शूल, अजीर्ण तथा विबन्ध को दूर करने वाला होता है ॥ २५१ ॥

९२ चनाखार

हि०—चने का खारा, चनाखार, चनक लोनी, चने का सिरका। **म०**—हरभऱ्याची आंब। **गु०**—चणा नो खार।

मार्गशीर्ष के महीने में जब चने के क्षुप लवण युक्त हो जाते हैं तब मलमल का सफेद कपड़ा लेकर प्रतिदिन प्रातःकाल उक्त क्षुपों पर फेर, उन पर पड़े हुए ओस की बूँदों से उसको तर कर सुखा दे। इस प्रकार एक मास करके उस कपड़े को पानी में खूब मलकर उसका अम्ल पदार्थ निकाल ले। फिर उस पानी को ५–७ घण्टे स्थिर छोड कर उसका पानी नितार ले। नीचे जमे

हुए पदार्थ को सुखा ले और पानी को अग्नि पर औटा कर उसको भी सुखा ले। फिर दोनों को एक में मिला कर सुरक्षित रख दें। उपर्युक्त विधि के अतिरिक्त केवल रात में या सुबह मलमल का कपड़ा चने के क्षुपों पर डाल कर सुबह उसको निचोड़ लेते हैं। जो द्रव प्राप्त होता है उसे उसी द्रव रूप में या सुखा कर काम में लाया जाता है। कुछ लोग क्षार-निर्माण विधि की तरह चने का क्षुप जलाकर उससे क्षार निकालते हैं वह गलत है क्योंकि उसमें तो केवल क्षार (पोटॅशियम् कार्बोनेट) ही रहता है। यहां जो गुण दिये गये हैं वे अम्ल के हैं। इसलिये ऊपर दी हुई विधि से ही इसे बनाना चाहिये न कि क्षाररूप में।

रासायनिक संगठन—यद्यपि इसे चनाखार लिखा गया है लेकिन इसमें अम्ल द्रव्य होते हैं। इसमें ऑक्झॅलिक् (Oxalic), मॅलिक् (Malic) एवं ॲसेटिक् (Acetic) आदि अम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—चणकाम्ल का उपयोग उदरशूल, अजीर्ण, बच्चों के आमातिसार, अग्निमांद्य, विबन्ध तथा कष्टार्तव में किया जाता है। इसको जल में मिला कर लू लगने पर तथा ज्वर में देने से तृषा, दाह एवं सन्ताप कम होता है। अजीर्ण में इसको सिरका के साथ मिला कर पिलाते हैं। लौंग तथा मिश्री के साथ इसको जल में मिलाकर हैजे में देने से लाभ होता है। मधुमेह एवं पथरी में इसका प्रयोग हानिकारक है।

मात्रा—१–२ रत्ती या ५–१० बूंद।

अथ यवक्षारः स्वर्जिका सुवर्चिका च। तन्नामगुणानाह

पाक्यं क्षारो यवक्षारो यावशूको यवाग्रजः। स्वर्जिकाऽपि स्मृतः क्षारः कापोतः सुखवर्चकः ॥
कथितः स्वर्जिकाभेदो विशेषज्ञैः सुवर्चिका। यवक्षारो लघुः स्निग्धः सुसूक्ष्मो वह्निदीपनः ॥
निहन्ति शूलवातामश्लेष्मश्वासगलामयान्। पाण्ड्वर्शोग्रहणीगुल्मानाहप्लीहहृदामयान् ॥
स्वर्जिकाऽल्पगुणा तस्माद्विज्ञेया गुल्मशूलहृत्।
सुवर्चिका स्वर्जिकावद् बोद्धव्या गुणतो जनैः ॥ २५५ ॥

जवाखार, सज्जी तथा सोरा के नाम और गुण—पाक्य, क्षार, यवक्षार, यावशूक और यवाग्रज ये सब जवाखार के संस्कृत नाम हैं। स्वर्जिका, क्षार, कापोत और सुखवर्चक ये सब सज्जी के संस्कृत नाम हैं। जवाखार की भाँति इसका भी संस्कृत में क्षार नाम है। द्रव्यों की विशेषताओं के ज्ञाता वैद्य जन सोरा को सज्जी का ही भेद बतलाते हैं। इसे संस्कृत में सुवर्चिका कहते हैं। **जवाखार**—लघु, स्निग्ध, अत्यन्त सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतोगामी) तथा अग्निदीपक होता है एवम् यह शूल, वायु, आम, कफ, श्वास, गलरोग, पाण्डुरोग, बवासीर, संग्रहणी, गुल्म, आनाह, प्लीहा और हृद्रोग का नाश करता है। **सज्जी**—इसे जवाखार की अपेक्षा न्यून गुणवाली तथा विशेष करके गुल्म तथा शूल को दूर करने वाली समझना चाहिये। **सुवर्चिका** (सोरा)१—इसे लोग गुणों में सज्जी के समान ही समझें, ऐसा वैद्यों का मत है ॥ २५२–२५५ ॥

९३ जवाखार।

हि०—जवाखार, जवखार। **बं०**—यवक्षार। **म०**—झाडाचे मीठ, जवाखार। **गु०**—जवाखार, खारो। **ता०**—मरवप्पु। **ते०**—मानुवप्पु। **मल०**—कारम्। **क०**—मरदउप्पु। **अं०**—Impure carbonate of potash (इम्प्योअर कार्बोनेट ऑफ् पोटॅश्)। **ले०**—*Potasii carbonas* (पोटॅसाइ कार्बोनस्)।

जब यव क्षुपों पर बाल निकलने वाले हों तब पञ्चांग को संग्रह कर सुखा दें। और सुखाने पर आग लगा कर राख बना उसको २४ घंटे आठगुने पानी में भिगो दें। यदि पञ्चांग जलाने के बाद उसकी राख काली रहे तो जल में डालने के पूर्व उसे कढ़ाई में डाल कर राख सफेद होने तक पकाना चाहिए। फिर ऊपर का स्वच्छ जल नितार लें अथवा फिल्टर से पानी को छान लें। उस स्वच्छ जल को किसी कलईदार कड़ाही में अग्नि पर पकावें। पानी सूखने पर कड़ाही में जमे हुए क्षार को खुरच कर सुरक्षित रखें। इसी को जवाखार कहते हैं। यवक्षार नाम से औषध में उपर्युक्त विधि से तैयार किये हुए क्षार का व्यवहार करना चाहिये। इस क्षार में अधिकांश मात्रा पोटॅशियम् कार्बोनेट (Potassium carbonate) की रहती है तथा कुछ अन्य पदार्थ भी रहते हैं। इसी प्रकार अधिकांश वृक्षों की राख में भी पोटॅशियम् कार्बोनेट रहता है। तथा उनके अन्दर रहने वाले अन्य विभिन्न पदार्थों के कारण विभिन्न क्षारों के गुणों में अन्तर पाया जाता है। काष्ठमय झाड़ियों की अपेक्षा रसयुक्त वर्षायु क्षुपों में यह अधिक पाया जाता है।

व्यापार की दृष्टिसे पोटॅशियम् कार्बोनेट्, आर्टिमिसिआ या वर्मवुड् (Artemisia; Wormwood) नामक वृक्षों से, बीटरूट् (Beet-root) से, भेंड़ के बालों को धो कर उस घोल से, सोराखार से एवं पोटॅशियम् सल्फेट (Potassium sulphate) आदि से प्राप्त किया जाता है। भूमि में पोटॅशियम् के लवण रहते हैं। वृक्ष भूमि से इनका शोषण कर लेते हैं। इनके बिना वृक्षों की वृद्धि नहीं होती।

उपर्युक्त क्षार मृदुक्षार कहलाता है। तीक्ष्ण क्षार बनाने के लिये क्षारोदक (वृक्ष को जला कर बनाई राख के जलीय भाग) में चूना मिलाना चाहिये तथा बाद में उस घोल को सुखाना चाहिये। यह अत्यन्त दाहक होता है तथा इसमें पोटॅशियम् हाइड्रोऑक्साइड् रहता है। यवक्षार का स्वाद राखी के समान किन्तु कुछ नमकीन होता है।

गुण और प्रयोग—यवक्षार अग्निदीपक, मृदुविरेचक, अम्लतानाशक, रक्तशोधक, सौम्य मूत्रल, कफनिःसारक एवं कुछ स्वेदजनक है।

इसका उपयोग शूल, अजीर्ण, अम्लपित्त, अम्लोत्कर्ष, मूत्रकृच्छ्र, यकृत् प्लीहा एवं अन्यग्रन्थियों की वृद्धि, ज्वर, अर्श, कामला एवं गुल्म में किया जाता है।

(१) जीर्ण आमाशयशोथ तथा आमाशय में श्लेष्मा की अधिकता होने पर भोजन के २० मिनट पूर्व यवक्षार का उपयोग अन्य सुगन्धि एवं तिक्त औषधों के साथ किया जाता है जिससे श्लेष्मा कम हो कर पाचक स्रावों की उत्पत्ति होती है तथा पाचन ठीक होता है। परिणाम शूल एवं अम्लपित्त आदि विकारों में भोजन के २ घंटे पश्चात् इसके उपयोग से अम्लता की अधिकता से होने वाला शूल नहीं होता। नींबू के रस के साथ फेनायमान मिश्रण के रूप में लेने से आमाशय पर शामक प्रभाव होकर वमन में लाभ होता है।

(२) यकृत्, प्लीहावृद्धि एवं गुल्म आदि में बड़ाहर्रा, रोहितक की छाल एवं छोटी पीपल के क्वाथ के साथ इसका उपयोग किया जाता है। इसके उपयोग से आन्त्रिक श्लेष्मा कम होकर पित्त मार्ग का अवरोध दूर होने से कामला में लाभ होता है।

(३) इसके उपयोग से कफ पतला होकर निकलने लगता है। शुष्क कास तथा श्वसनिकाशोथ आदि में ४ रत्ती यवक्षार, १० बूंद अडूसा का रस तथा २ रत्ती लौंग का चूर्ण देने से लाभ होता है।

(४) ज्वर तथा अन्य अम्लोत्कर्ष की अवस्थाओं में इसका उपयोग किया जाता है। ज्वर में स्वेदल रूप में पसीना लाने के लिये नीम के रस या क्वाथ के साथ इसका उपयोग लाभदायक है।

(५) इससे वृक्कों को उत्तेजना मिलने से मूत्रोत्सर्ग अधिक होता है। मूत्रकृच्छ्रता में इससे प्रक्षोभ का शमन होकर पेशाब की जलन दूर होती है। मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय होने से यूरिक् एसिड (Uric acid) का उत्सर्ग अधिक हो कर आमवात, वातरक्त तथा यूरिक् एसिड से बनने वाली पथरी में लाभ होता है।

(६) इसके घोलका बाह्य प्रयोग शीतपित्त, उदर्द, खुजली, श्वित्र, विचर्चिका एवं कीटदंश पर किया जाता है। इससे त्वचा के ऊपर का तैलीय अंश घुल कर निकल जाता है जिससे सादे जल की अपेक्षा इसके घोल से त्वचा अधिक साफ हो जाती है।

अधिक मात्रा में इसके प्रयोग से अतिसार, शोथ, फॉस्फेट्स से बनने वाली पथरी आदि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा वृक्क भी विकार ग्रस्त हो जाते हैं।

मात्रा—१-२ रत्ती।

९४ सज्जी।

हि०—सज्जी, सज्जीखार, सज्जीमिट्टी। बं०—साजिखार, साजीमाटी, साजी खार। म०—सज्जीखार, साजी। मा०—साजीक्षार। गु०—साजीखार। क०—साजीखारं, साजी खार, सज्जीखार। ता०—सज्जीकारं। पं०—सज्जी, लोटा सज्जी, खगनखार। फा०—संजार कलिया, अशखार। अ०—कलिमास्कर, कलिवश्शुल असफर। अं०—Barilla (बॅरिला—खारे वृक्ष की राख); Impure Carbonate of Soda (इम्प्योअर कार्बोनेट ऑफ् सोडा)।

सज्जी—सफेदी लिए भूरे रंग का एक प्रसिद्ध खार है। औषध के अतिरिक्त कांच, साबुन एवं कागज आदि अनेक पदार्थों के निर्माण में इसका उपयोग किया जाता है। सज्जी कई प्रकार से बनाई जाती है जिनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

(१) समुद्र के किनारे तथा क्षारीय भूमि में उत्पन्न होने वाले कुछ वृक्ष होते हैं, उनकी राख में सज्जी होती है। समुद्र के सेवार में भी सज्जी होती है जिसकी राख को केल्प (Kelp) कहा जाता है। ये स्पंज के समान कड़े गट्ठे होते हैं तथा इनमें १-८% सज्जी होती है। खारे वृक्षों की राख को खार सज्जी (Barilla-बॅरिला) कहा जाता है जिनमें २५-४०% सज्जी होती है। भारतवर्ष में निम्न तीन वर्ग के खारे वृक्ष पाये जाते हैं—चिनोपोडिएसी (Chenopodiaceae), सॅलिकोर्निसी (Salicorniceae) एवं सॅल्सोलेसी (Salsolaceae)। पंजाब में अक्तूबर से जनवरी तक सज्जी बनाने के कारखाने काम करते हैं। खारे वृक्षों को सुखाकर ६ फीट गोल एवं ३ फीट गहरे गढ़े में डालकर धीरे-धीरे जलाते हैं। गढ़े में हांडियों को नीचे छेद कर उल्टे मुंह रखते हैं। कुछ समय बाद राख में से पतला द्रव निकल कर हांडियों में जमता है। ४ दिन वैसे ही अपने आप ठंडा होने देते हैं। हांडियों में जो सज्जी जमा होती है उसे वहां **लोटासज्जी** कहा जाता है। हांडियों के बाहर जो सज्जी जमती है वह अशुद्ध होती है। लोटासज्जी कॅरोक्साइलॉन् ग्रिफ़िथिआइ (Caroxylon Griffithii) नामक वृक्ष से बनाई जाती है। यह सबसे शुद्ध होती है तथा औषध में इसका व्यवहार किया जाता है। मांटगोमरी प्रांत में इसे खगनखार कहा जाता है। दूसरे वृक्षों से प्राप्त सज्जी जो हलके दर्जे की होती है उसे **भूलीसज्जी** कहते हैं। लोटासज्जी को औषध में व्यवहार में लाने के पूर्व शोधन कर लेना चाहिये। इसके लिये इसे दुगुने जल में बंद पात्र मे २ घंटे उबालते हैं तथा बार-बार हिलाते जाते हैं। फिर ऊपर के गरम तरल भाग को छान कर तामचिनी की कढ़ाईयों में मन्द आंच पर सुखाते हैं। बचे हुवे नीचे के भाग में फिर जल डालकर उबाल कर ऊपर का द्रव छान कर सुखाते हैं। इस

प्रकार प्राप्त हुई सज्जी को फिर उष्ण जल में घोल कर सुखाते हैं जिससे इसकेरवे बनते हैं। इन्हें बंद बोतलों में रखना चाहिये।

(२) भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में ऊसर अथवा रेहाल भूमि होती है। ऐसी भूमि में सज्जी, खारीनोन (सोडियम् सल्फेट), नमक एवं सोरा आदि मिले रहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों की रेह में इनकी मात्रा कम ज्यादा हुआ करती है तथा और भी कुछ पदार्थ उसमें रहते हैं। जिस रेह में सज्जी की अधिकता होती है उसे सज्जी माटी या धोबी की मट्टी कहा जाता है। उत्तरप्रदेश में गंगा और जमुना नदी के बीच के प्रदेश में रेह बहुत होती है। इसमें ८८% सज्जी होती है। जिस स्थान में रेह अधिक होती है वहां इसका जमीन पर बरफ की तरह सफेद स्तर स्पष्ट दिखलाई देता है। हिमालय से जो नदियां बहती आती हैं वे अपने साथ विभिन्न क्षार तथा लवणों को बहा ले आती हैं। ये आसपास की जमीन में जमा होते हैं। गरमी के दिनों में उष्णता से जब नीचे का जल ऊपर आता है तब उसके साथ ये क्षार ऊपर आकर जम जाते हैं। जिस रेह में सज्जी अधिक होती है उसे जल में घोल कर एवं नितार-छानकर सुखा लेते हैं।

(३) मध्यप्रांत में लोणार तालाब से भी सज्जी बनाई जाती है। यह रेह से प्राप्त सज्जी से शुद्ध होती है। इस तालाब में सज्जी के बड़े-बड़े टुकड़े भी मिलते हैं तथा उसके जल को सुखाकर भी सज्जी प्राप्त करते हैं। इस तालाब से सोडियम् बाइकार्बोनेट (Sodium bicarbonate, $NaHCO_3$), सं०-द्रोणलवण भी प्राप्त होता है। इसको दोने में लेकर जमाते हैं। इसलिये इसे द्रोण लवण कहा जाता है।

(४) उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त खाने के नमक एवं खारीनोन आदि से भी सज्जी बनाई जाती है।

शुद्ध सज्जी को इरतीखार कहा जाता है तथा बाजारी अशुद्ध सज्जी को बांगडखार कहते हैं। सर्वप्रथम लिखे हुए प्रकार की शुद्ध सज्जी का औषध में व्यवहार करना चाहिये। यह शुभ्र, गंधहीन, अस्वादु, कुछ नमकीन एवं ताजी अवस्था में रवेदार होती है। खुली हवा में रखने पर इस पर बुरादा जम जाता है। यह जल में विलेय लेकिन मद्यसार में अविलेय होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रधानतया सोडियम् कार्बोनेट (Sodium carbonate, $Na_2CO_3\,10H_2O$) रहता है।

गुण और प्रयोग—सज्जी के गुण यवक्षार के गुणों के समान ही हैं किन्तु उससे यह कुछ हीनगुण युक्त है। यह दीपन, पाचन, मूत्रल, कफनिःस्सारक, अम्लतानाशक एवं आध्मानहर है।

इसका उपयोग कास, श्वास, अजीर्ण, अम्लपित्त, शूल, आध्मान, मूत्रकृच्छ्र, आमवात एवं गुल्म आदि रोगों में किया जाता है।

(१) अग्निमांद्य, अजीर्ण एवं परिणामशूल में सज्जीखार, यवक्षार एवं पञ्चलवण सब समान मात्रा में लेकर नींबू के रस की भावना देकर १० रत्ती की मात्रा में दिया जाता है।

(२) सज्जीखार ५ भाग, यवक्षार ५ भा०, सोंठ ४ भा०, सोंचलनमक ४ भा० एवं छोटी पीपल ३ भा० इनका चूर्ण अजीर्ण एवं शूल आदि में गरम जल के साथ दिया जाता है।

(३) अनेक चर्म रोगों में इसके हल्के घोल में अवगाहन कराया जाता है एवं जले हुए भाग पर १०% घोल की पट्टी रखने से पीडा शांत होती है। सज्जीखार एवं यवक्षार दोनों को जल में मिलाकर फोड़े पर लगाने से फोड़ा जल्दी फूटकर बह जाता है।

मात्रा—१-२ र०

नोट—पाश्चात्य चिकित्सा में यवक्षार (पोटॅशियम् कार्बोनेट) एवं सज्जीखार (सोडियम् कार्बोनेट) की अपेक्षा आंतरिक प्रयोग के लिये पोटॅशियम् बाइकार्बोनेट एवं सोडियम् बाइकार्बोनेट का अधिक प्रयोग किया जाता है क्योंकि ये अधिक सौम्य होते हैं। इनमें भी पोटॅशियम् के लवण शरीर में एक निश्चित अनुपात में रहते हैं। जब तक इन्हें अत्यधिक मात्रा में या सिरा द्वारा प्रयोग नहीं करते तब तक इनके प्रभाव में विशेष अंतर दिखलाई नहीं देता। भारतवर्ष के लोणार तालाब की सज्जी में सोडियम् बाइ कार्बोनेट रहता है।

९५ सोरा (सुवर्चिका)

सं०-सौरक्षार, सूर्यक्षार, सौवर्चल, वह्न्युत्तेजक, सुवर्चिका, कर्पूर शिलाजतु। हि०-सोरा, कलमी सोरा, सोराखार। बं०-सोरा। गु०-सुरोखार। पं०-कलमीशोर। ता०-पोत्तिलुप्पु। अ०-अबकर। फा०-शोरा। अं०-Saltpetre (साल्टपीटर = पहाड़ी नमक); Potassium Nitrate (पोटॅशियम् नाइट्रेट)। ले०-*Potassii Nitras* (पोटॅसिआइ नाइट्रास्)।

भारतवर्ष में सोरे की जानकारी बहुत दिनों से है। शुक्रनीति एवं रसार्णव में इसे सौवर्चल लिखा है। माधवविरचित आयुर्वेद-प्रकाश में सोरे को 'कर्पूराभं शिलाजतु सोरकाख्यं तु पाण्डुरम्' ऐसा लिखकर अग्निबाण में इसका उपयोग होता है, ऐसा लिखा है। रसपद्धति में 'श्वेतं शिलाजतु वन्ह्युत्तेजकं' लिखा है तथा उचित रोगोपयोग भी दिया है। रसरत्नसमुच्चय में भी 'कर्पूर शिलाजतु' नाम से इसका उल्लेख है तथा गुण भी सोरे से मिलते हैं। इसका मारण अथवा सत्त्वपातन नहीं किया जाता' यह निर्देश ध्यान देने योग्य है। और भी अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है। मूल में यह आया है कि 'सुवर्चिका स्वर्जिकावद् बोद्धव्या गुणतो जनै:' यह बात भ्रमात्मक मालूम होती है। या तो सज्जी का ही कोई भेद होगा जिसके लिए सुवर्चिका शब्द का प्रयोग भावप्रकाशकार ने किया हो या डा० देसाई के कथनानुसार भावप्रकाशकार का कथन गलत हो। इसी प्रकार 'सौवर्चल' शब्द के विषय में भी मतभेद है जिसके संबन्ध में सौवर्चल लवण के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। यहां सोरे का वर्णन दिया जा रहा है।

प्राचीनकाल में भारतवर्ष से सोरे के निर्यात का व्यापार बहुत था लेकिन अंग्रेजों के नियन्त्रण के कारण इसका व्यापार बहुत कम हो गया। यहां उत्तर हिन्दुस्तान, पंजाब, सिंध एवं गङ्गा नदी के बीच के प्रदेश तथा बिहार में यह बहुत उत्पन्न होता है। बिहार में तो यह सबसे अधिक उत्पन्न होता है। वहां पर जमीन पर ओस की तरह जमा हुआ सोरे का पतला स्तर दिखलाई देता है।

लकड़ी, गोबर आदि की राख, जानवरों की विष्ठा, मूत्र, कुछ बरसात एवं उष्णता तथा एक प्रकार के कृमि इन सबकी सहायता से सोरा बनता है इसलिए इसे पूतिलवण और कृमिज क्षार ये नाम दिये गये हैं। बरसात के पूर्व गांव के आस पास की भूमि १ इञ्च तक खोदकर उसे जल में मिलाते हैं फिर ऊपर के जल को उबाल कर या सूर्यताप से सुखाकर सोरा निकालते हैं। फिर से अशुद्ध सोरे को साफ किया जाता है। कलमीशोरा काफी शुद्ध रहता है। इसमें ९०% शुद्ध सोरा रहता है। बिहार में सोरा निकालने वाले लोगों को लुनिया कहा जाता है। सोरे के साथ ही साथ उस मिट्टी में खारीनोन एवं खाने का नमक भी होता है जिसे अलग कर लिया जाता है। ऐसे नमक को पंजाब में 'कल्लरीनून' या 'निमकशोर' एवं बिहार में 'पकवानिमक' कहा जाता है जिसे कुछ लोगों ने सौवर्चल लवण माना है। सोरा, सोडियम् नाइट्रेट (Sodium Nitrate) तथा पोटॅशियम् क्लोराइड (Potassium Chloride) के परस्पर संयोग के द्वारा कृत्रिम रूप से भी बनाया जाता है।

शोधन—बाजारू सोरे में ४०-६४% शुद्ध सोरा होता है और बाकी नमक रहता है। कलमी-शोरा काफी शुद्ध होता है। शोरे को साफ करने के लिये एक तांबे के पात्र में शोरे के बराबर उबलते जल में उसे घोलते हैं तथा मोटे कपड़े से लकड़ी की थालियों में छानते हैं। जब घोल ठंडा होने लगता है तब उसे लकड़ी से हिलाते जाते हैं जिससे इसका दानेदार चूर्ण प्राप्त होता है। औषध-प्रयोग में लाने से पूर्व इलायची के क्वाथ से इसमें ३ बार भावना देनी चाहिये। अशुद्ध सोरे के प्रयोग से दाह, मूर्च्छा, रक्तपित्त, श्रम, अग्निमांद्य एवं विड्ग्रह आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। अशुद्ध के सेवन से उत्पन्न विकारों की शान्ति के लिए ३ माशा कालीमरिच का चूर्ण घृत के साथ ७ दिन तक प्रातःकाल में सेवन करना चाहिये।

शुद्ध सोरा रंगहीन दानेदार चूर्ण रूप में या षट्फलक स्फटिक रूप में होता है। इसका स्वाद शीतल एवं कुछ नमकीन होता है। अंगारे पर डालने से एकदम जलने लगता है। इसमें का है आक्सीजन अलग होने में समर्थ होने के कारण किसी गंधक आदि ज्वलनशील पदार्थ के साथ इसे मिलाकर गरम करने से एकाएक बहुत तीव्र उष्णता उत्पन्न होती है जिसमें चांदी का सिक्का तक गल जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें पोटॅशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate, KNO_3) रहता है। अल्प मात्रा में सोरे में कुछ नाइट्राइट्स (Nitrites) भी पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, तीक्ष्ण, मूत्रविरेचनीय, स्वेदजनन, श्लेष्महर एवं शोथहर है। इसका गाढा घोल आमाशय एवं आंत्र में तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न करता है जिससे रक्तवमन, रक्तातिसार तथा हृदयातिपात होकर मृत्यु भी हो सकती है। हृदय के लिए यह अवसादक होने के कारण हृदय की गति कम होती है तथा उसका बल भी कम हो जाता है। यह रक्त कणों के आक्सीजन ग्रहण करने की शक्ति को बढाता है एवं इससे रक्त जमने की क्रिया भी घट जाती है। इसका मूत्रल प्रभाव वृक्क द्वारा अधिक मूत्र के छनने (Filtration) से होता है तथा अधिकांश मात्रा में यह मूत्र द्वारा उत्सर्गित हो जाता है।

इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, ज्वर, शोथ, प्लीहावृद्धि, पाण्डु, कामला, प्रमेह एवं अग्निमांद्य आदि में किया जाता है।

(१) मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरी में इसको गोखरू के काढे के साथ पिलाते हैं तथा बड़ के पत्तों को पीस कर तथा उसमें सोरा मिला कर पेड़ू पर लेप करते हैं।

(२) पुराने सोजाक में सोरा ५, दालचीनी ४, हर्रा ३, पाषाणभेद ३, इलायची ५ एवं चीनी २० भाग, इसका अवलेह ४ माशा की मात्रा में उपयोगी है। सोरा ५ रत्ती को मात्रा में भिंडी के क्वाथ के साथ देने से भी सोजाक में लाभ होता है।

(३) श्वेत प्रदर (ल्यूकोरिया) में ५ र० सोरा तथा तथा २½ र० फिटकिरी का चूर्ण दिन में ३ बार दिया जाता है।

(४) तमक श्वास के आवेग को रोकने के लिये इसके २०% घोल में सुखाए हुए सोख्ते के कागज को जलाकर उसका धूआँ नाक से सूंघने से आवेग रुक जाता है।

(५) ज्वर में मधु, शर्करा एवं उष्ण जल के साथ १० र० सोरा देने से पसीना हो कर ज्वर कम हो जाता है।

(६) वातरक्त (गाउट) एवं मदात्ययजन्य शिरःशूल के निवारण के लिये सोरा १० र० एवं पोटॅशियम् बाइकार्बोनेट १५ र० एक बोतल सोडावाटर के साथ पिलाने से आवेग रुक जाता है। आमवात में अर्कमूल के चूर्ण के साथ या मांड के साथ इसको दिया जाता है।

(७) उरस्तोय (प्लूरिसी), सद्रव हृदयावरणशोथ (पेरीकार्डाइटिस्) एवं जलोदर आदि में पुनर्नवा, काली कुटकी, सोंठ आदि के क्वाथ के साथ इसका प्रयोग करते हैं।

(८) ५ साल से बड़े बच्चों की खांसी में सोरा ५, हीराकसीस ४, नौसादर ४ एवं गन्धक ४ भाग इनका चूर्ण ½ र० की मात्रा में देते हैं।

(९) शिरःशूल, शोथ, आमवातज सन्धिपीडा, मोच एवं चोट आदि पर नवसादर एवं सोरा जल में घोल कर उसमें कपड़ा भिगो कर उसकी पट्टी रखी जाती है।

(१०) औषध के अतिरिक्त सोरे का उपयोग बन्दूक की बारूद, तेजाब, रंगने का काम, मांस-मछली-संरक्षण, खाद, कांच के निर्माण में द्रावण के रूप में एवं आतिशबाजी आदि में किया जाता है।

अधिक मात्रा से—हृदय की दुर्बलता, आमाशय एवं आंत्र में प्रक्षोभ, वृक्कशोथ एवं वस्तिशोथ होता है। इन व्याधियों से पीडित व्यक्तियों में इसका उपयोग भी नहीं करना चाहिये।

हानिनिवारक—कतीरा एवं मधु।

मात्रा—२-१० र०

अथ टङ्कणक्षारः (सुहागाखार)। तस्य नामगुणानाह

सौभाग्यं टङ्कणं क्षारं धातुद्रावकमुच्यते। टङ्कणं वह्निकृद्रूक्षं कफघ्नं वातपित्तकृत्॥ २५६॥

सुहागा के नाम तथा गुण—सौभाग्य, टङ्कण, क्षार तथा धातुद्रावक ये नाम संस्कृत में सुहागा के हैं। सुहागा—अग्निकारक, रूक्ष, कफनाशक एवं वातपित्तकारक होता है॥ २५६॥

९६ सुहागा

हि०—सुहागा, सोहागा, टिंकाल। **बं०**—सोहागा। **तिब्बत**—चूतस्ले (साधारण), तरलेमेटांग (अच्छा), चूसल। **म०**—टांकणखार। **मा०**—सोगो। **काश्मी०**—बबुत। **गु०**—खडियाखार,टंकणखार। **क०**—विलिगार। **पं०**—सुहागा। **ता०**—वेंगा(का)रं। **ते०**—एलिगारम्, वेल्लिगारं। **फा०**—त(ति)न्कार। **अ०**—बोरक। **अं०**—Borax (बोरॅक्स); Sodium Borate (सोडियम् बोरेट); Biborate of Soda (बाइबोरेट ऑफ सोडा)। **ले०**—*Sodii Biboras* (सोडिआई बाइबोरास)।

सुहागा एक प्रसिद्ध खनिज द्रव्य है। भारतवर्ष में इसकी जानकारी बहुत प्राचीन काल से रही है कि लेकिन युरोप वालों को १७ वीं शताब्दी के अन्त तक इसकी अधिक जानकारी नहीं थी। सर्वप्रथम दक्षिण भारत से युरोप में इसका प्रचार हुआ। यह स्वाभाविक एवं कृत्रिम (रासायनिक विधि द्वारा बनाया) दो प्रकार का होता है। चूना, गोदन्ती एवं नमक आदि पदार्थों के साथ तथा स्वतन्त्र रूप में यह प्राप्त होता है। हिमालय की पर्वतश्रेणियां, काश्मीर, लङ्का एवं विशेष रूप से तिब्बत इसके उत्पत्ति-स्थान हैं। तिब्बत से आने वाले चौकोर स्फटिक होते हैं। इन्हें चौकिया सोहागा कहा जाता है जिसका औषधि के लिये व्यवहार करते हैं। इसी को संभवतः आयुर्वेद-प्रकाश में 'नीलकण्ठ' कहा गया है जिसमें नीली आभा रहती है। इन पर मिट्टी लगी रहती है। अंगुली से रगड़कर मिट्टी हटाने पर तेलिया स्पर्श मालूम होता है। खुली हवा में टङ्कण का जलीयांश निकल जाता है जिससे उसके ऊपर सफेद बुरादा जम जाता है। इसलिये इस पर घी या चर्बी लगा देते हैं।

शुद्ध टङ्कण स्फटिक सदृश, वर्णरहित, पारभासक, चमकीला, गन्धहीन, स्वाद में कुछ नमकीन एवं कसैला तथा अल्पक्षारीय होता है। इससे गरम करने पर इसका जलीयांश निकल जाता है

और यह फूलकर छिद्रयुक्त ढेला सा हो जाता है। यही इसकी शोधन की विधि भी है क्योंकि इस पर जो चर्बी आदि लगी रहती है वह गरम करने से जल जाती है। अशुद्ध सुहागे के सेवन से चर्बी आदि के कारण वांति और भ्रम आदि उत्पन्न होते हैं।

औषध के अतिरिक्त मिट्टी के बर्तनों पर चमक लाने में, मीना बनाने में, बनावटी रत्नों के निर्माण, वार्निश रंग के काम, धातुओं के शोधन एवं द्रावण आदि के लिये इसका उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—यह सोडियम् तथा बोरिक् एसिड के संयोग से बनता है। इसका रासायनिक सूत्र $Na_2 B_4 O_7, 10 H_2 O$ है।

गुण और प्रयोग—टङ्कण, उष्ण, रूक्ष, कफहर, दीपन, हृद्य, आध्मानहर, विषदोषहर, आर्तव-प्रवर्तक एवं व्रणरोपक है। इसका उपयोग अम्लपित्त, आध्मान, कफज्वर, प्लीहावृद्धि, रक्तप्रदर, अनार्तव, कष्टार्तव, प्रसव के समय आविवृद्धि के लिये तथा इसके सौम्य प्रतिदूषक होने के कारण बाह्य प्रयोग के लिये किया जाता है।

(१) बच्चों के कफयुक्त ज्वर, कास विशेषकर गले की खराबी से उत्पन्न होने पर, दुर्गन्धयुक्त अतिसार, अपस्मार तथा आक्षेप आदि में इसका प्रयोग किया जाता है। परिश्रुत जल में बनाया हुआ इसका १० प्रतिशत का घोल सिरा द्वारा सूचीवेध से देने पर अपस्मार में बहुत लाभकर होता है।

(२) इसका मूत्र के द्वारा शीघ्र उत्सर्ग होनें के कारण जल तथा यूरिया का अधिक उत्सर्ग होता है। यह मूत्र को क्षारीय करता है तथा इसी प्रतिक्रिया में मूत्र जननेन्द्रिय संस्थान के लिये अच्छा प्रतिदूषक है। इसके प्रयोग से दूषित मूत्र साफ हो जाता है।

(१) सौम्य प्रतिदूषक (Antiseptic) होने के कारण इसका बाह्य प्रयोग बहुत किया जाता है। प्रक्षोभकारक न होने के कारण कोमल श्लेष्मलकला के उपसर्ग में लाभदायक है। क्षत, व्रण, खुजली, विचर्चिका, दाद, जले हुये व्रण आदि के लिये व्रणप्रक्षालन एवं मलहम के रूप में इसका उपयोग किया जाता है। श्वेतप्रदर, सोजाक, दुर्गन्धयुक्त नासास्राव एवं कर्णस्राव आदि में इसके २½% घोल को पिचकारी के द्वारा प्रयोग करते हैं। नेत्राभिष्यन्द में फिटकिरी के साथ इसके घोल से अक्षिप्रक्षालन किया जाता है। दाह एवं शोथयुक्त मुखपाक में मधु के साथ इसका लेप किया जाता है तथा पारदविषजन्य लालास्राव तथा अन्य मुखविकारों में इसके घोल का उपयोग कुल्ला करने के लिये किया जाता है। स्वरभङ्ग में इसकी टिकिया मुख में रखकर चूसने से लाभ होता है। बोल के साथ इसका उपयोग मसूढ़ों के व्रणों पर लाभदायक है। २ छ० जल में ४ माशा सुहागा डालकर उससे प्रक्षालन से योनि एवं गुदकंडू दूर होती है।

उष्ण जल में इसके घोल में मोजे तर कर उसका उपयोग करने से पैरों के पसीने की दुर्गन्ध दूर होती है। अम्हौरी आदि में इससे युक्त पाउडर का उपयोग किया जाता है।

मात्रा—२-८ र०।

नोट—टङ्कण एवं गन्धक के तेजाब के संयोग से बोरिक् एसिड (Boric acid) बनता है जिसके गुण-धर्म एवं प्रयोग सब टङ्कण के समान ही हैं किन्तु यह कुछ अम्ल है। अन्नसंरक्षण (Food preservation) में पहले इसका बहुत प्रयोग किया जाता था लेकिन इसके विषैले परिणाम दृष्टिगोचर होने के कारण इस कार्य में अब इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

अधिक मात्रा में इनके प्रयोग से अग्निमान्द्य, वमन, विरेचन, मांसपेशी-दुर्बलता, मूत्र में ऑल्ब्यूमिन् एवं अत्यन्त थकावट आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। अधिक दिन तक बाह्य या आभ्यन्तर

प्रयोग से बालों का झड़ना, विचर्चिका, गजचर्म, त्वक्शोफ, त्वक्शोथ, मुख में प्रक्षोभ, मसूढ़ों पर एक धूसर रेखा तथा अन्य चर्मविकार आदि होते हैं। वृक्क रोगियों में विषैले परिणाम की अधिक सम्भावना रहती है।

अथ क्षारद्वयं क्षारत्रयं क्षाराष्टकं च तेषां लक्षणानि गुणांश्चाह

स्वर्जिका यावशूकश्च क्षारद्वयमुदाहृतम् ।
टङ्कणेन युतं तत्तु क्षारत्रयमुदीरितम् ॥ २५७ ॥
मिलितं तूक्तगुणकृद्विशेषाद् गुल्महृत्परम् ।
पलाशवज्रिशिखरिचिञ्चाऽर्कतिलनालजाः ॥ २५८ ॥
यवजः स्वर्जिका चेति क्षाराष्टकमुदाहृतम् ।
क्षारा एतेऽग्निना तुल्या गुल्मशूलहरा भृशम् ॥ २५९ ॥

क्षारद्वय, क्षारत्रय, तथा क्षाराष्टक का वर्णन और गुण—**क्षारद्वय**—सज्जी तथा जवाखार को क्षारद्वय कहते हैं। **क्षारत्रय**—क्षारद्वय (सज्जी तथा जवाखार) में यदि सुहागा मिला दिया जाय तो उसे क्षारत्रय कहते हैं। इन तीनों प्रकार के क्षारों के जो गुण ऊपर पृथक् पृथक् कह आये हैं वे ही सब एकत्र मिल जाने पर भी उपर्युक्त गुणवाले होते हैं किन्तु विशेषरूप से गुल्म दूर करने में उत्तम होते हैं।

पलाशक्षार, सेहुंडक्षार, चिचिड़ाक्षार, इमलीक्षार, मदारक्षार, तिलनालका क्षार, जवाखार तथा सज्जी इन सब क्षारों के योग को क्षाराष्टक कहते हैं। ये सब क्षार अग्नि के तुल्य हैं तथा गुल्म एवं शूल के नाश करने में उत्तम होते हैं ॥ २५७-२५९ ॥

९७ क्षारद्वय-क्षारत्रय-क्षाराष्टक

क्षार बनाने की क्रियाः—क्षार बनाने के लिये बड़े वृक्ष की छाल और गुल्म तथा क्षुप जाति की वनस्पति का पञ्चांग लेना चाहिये। इष्ट पदार्थ को जला कर उसकी सफेद भस्म (राख) संग्रहकर किसी मिट्टी के पात्र में रख उसमें चौगुना जल छोड़ भली प्रकार घोलकर एक सुरक्षित स्थान में रख दें। कुछ लोग राख को जल में डालकर कुछ देर उबालते हैं जिससे उसमें के क्षार आसानी से जल में घुल जाते हैं। दो-एक दिन के बाद ऊपर का जल नितार लें अथवा फिल्टर से छान लें। नीचे जमे हुए पदार्थ में फिर से चौगुना जल डालकर, उबालकर फिर ऊपर का जल नितार लें। फिर दोनों नितारे हुए जल को कड़ाही में छोड़ अग्नि पर चढ़ाकर जल औटावें। सूख जाने पर पात्र के पेंदे में जमा हुआ पदार्थ खुरचकर निकाल सुरक्षित रखें। उपर्युक्त विधि से जो क्षार तैयार होता है वह **मृदुक्षार** कहलाता है। इसमें प्रायः कुछ पदार्थों के साथ साथ सोडियम् एवं पोटेशियम् तत्वों के कार्बोनेट लवण हुआ करते हैं। यदि क्षारयुक्त जल को औटाते समय पूरी तरह न औटाकर आधा औटाने के बाद उस द्रव में चूना और शंखनाभि आदि पदार्थों की कुछ भस्म मूल राखी की चौथाई मात्रा में डालकर और थोड़ा उबालकर तथा छानकर प्राप्त द्रव को पूरी तरह औटावें तो **तीक्ष्णक्षार** प्राप्त होता है। इसमें थोड़ी बहुत मात्रा में प्रायः सोडियम् और पोटेशियम् तत्वों के हाइड्रोक्साइड्स रहते हैं जो अत्यन्त दाहक होते हैं। दाहजनक होने के कारण ही उन्हें **तीक्ष्णक्षार** (Caustic alkalies) कहा जाता है।

अथ चुक्रम् (चूक)। तन्नामगुणानाह

चुक्रं सहस्रवेधि स्याद्रसाम्लं शुक्तमित्यपि। चुक्रमत्यम्लमुष्णञ्च दीपनं पाचनं परम् ॥ २६० ॥
शूलगुल्मविबन्धाऽऽमवातश्लेष्महरं सरम्। वमितृष्णाऽऽस्यवैरस्यहृत्पीडावह्निमान्द्यहृत् ॥२६१॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
द्वितीयो हरीतक्यादिवर्गः समाप्तः ॥ २ ॥

चूक के नाम तथा गुण—चुक्र, सहस्रवेधि, रसाम्ल तथा शुक्त ये सब चूक के संस्कृत नाम हैं। चूक-अत्यन्त खट्टा, उष्णवीर्य, अग्निदीपक तथा अत्यन्त पाचक होता है और यह शूल, गुल्म, विबन्ध, आमवात तथा कफ का नाशक और दस्तावर होता है तथा वमन, प्यास, मुख की विरसता, हृदय की पीडा एवम् अग्नि की मन्दता को दूर करता है ॥ २६०–२६१ ॥

९८ चूक

हि०—चूक, चूका। मा०—चूका। गु०—चुका।

चूक—काले रङ्ग का एक तरल पदार्थ अत्यन्त खट्टा होता है। खट्टा अनार, नीबू, इमली, आमड़ा इत्यादि कितने ही खट्टे पदार्थों के रस से चूक बनाया जाता है। इन में अनार का बना हुआ चूक अच्छा समझा जाता है। चुक नाम से श्वेत, पारदर्शक स्फटिक भी मिलते हैं। जो खट्टे होते हैं।

यूनानी वाले कहते हैं कि चूक एक पहाड़ी फल का स्वरस है जिसको पहाड़ी मनुष्य खाते हैं। आगे शाकवर्ग में भी एक चुक्रिक नामक शाक का वर्णन आया है।

अथ कर्पूरादिवर्गः

अथ कर्पूरम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पुंसि क्लीबे च कर्पूरः सिताभ्रो हिमवालुकः। घनसारश्चन्द्रसंज्ञो हिमनामाऽपि स स्मृतः॥
कर्पूरः शीतलो वृष्यश्चक्षुष्यो लेखनो लघुः। सुरभिर्मधुरस्तिक्तः कफपित्तविषापहः ॥ २ ॥
दाहतृष्णाऽऽस्यवैरस्यमेदोदौर्गन्ध्यनाशनः। कर्पूरो द्विविधः प्रोक्तः पक्वापक्वप्रभेदतः।
पक्वात्कर्पूरतः प्राहुरपक्वं गुणवत्तरम् ॥ ३ ॥

अब कर्पूरादिवर्ग आरम्भ होता है, उसमें प्रथम कर्पूर के नाम तथा गुण—कर्पूर (यह पुंल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में होता है), सिताभ्र, हिमवालुक, घनसार, चन्द्रसंज्ञ (चन्द्रमा के जितने नाम हैं वे सभी इसके पर्यायवाचक शब्द हैं) और हिमनामा (जितने हिम के नाम हैं वे सभी इसके पर्यायवाची शब्द हैं) ये सब कपूर के संस्कृत नाम हैं। कपूर—शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक), नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, लघु, सुगन्धयुक्त, मधुर तथा तिक्त रस युक्त एवम्-कफ, पित्त, विष, दाह, प्यास, मुख की विरसता, मेदरोग तथा दुर्गन्ध को नष्ट करने वाला होता है। पक्व तथा अपक्व इन भेदों से कपूर दो प्रकार का होता है। पक्व की अपेक्षा अपक्व कपूर अधिक गुणकारी होता है ऐसा वैद्य लोग कहते हैं ॥ १–३ ॥

१ कपूर

हि०—कपूर, भीमसेनी कपूर, बरास कपूर। बं०—कर्पूर। मा०—कापूर। म०—कापूर। गु०—कपुर। ते०, ता०—कर्पूरम्। फा०—कापूर। अ०—काफ़ूर। यू०—रियाही काफ़ूर। अं०—Camphor (कॅम्फर); Borneo Camphor (बोर्निओ कॅम्फर)। ले०—*Camphora* (कॅम्फोरा)।

कपूर—यह एक उड़नशील जमा हुआ श्वेत तैलीय पदार्थ है। यह ४ प्रकार का होता है। (१) भीमसेनी या बरास कपूर, (२) चीनी या जापानी कपूर, (३) पत्री या नागी कपूर, ब्लूमिया कॅम्फर (Blumea Camphor), (४) रासायनिक विधि द्वारा निर्मित कृत्रिम (Synthetic-सिंथेटिक्) कपूर।

(१) **भीमसेनी कपूर** – इसके बहुत बड़े वृक्ष बोर्निओ तथा सुमात्रा में होते हैं। इसे ले०—Dryobalanops camphora Colebr.; Fam. Dipterocarpaceae (ड्रायोबॅलेनॉप्स कॅम्फोरा कोलेब्रु; फॅ० डिप्टेरोकार्पेसी) कहते हैं जो भारतीय साल से मिलता-जुलता है। इसके वृक्ष भारतवर्ष में नहीं पाये जाते। इधर कुछ वृक्षों को लगाने का प्रयत्न किया गया है। औषध में बहुत प्राचीन काल से कपूर नाम से इसका व्यवहार किया जाता है। प्राचीनों ने कर्पूर का अपक्व भेद जो कहा है वह संभवतः यही है क्योंकि यह, वृक्ष में जहां पोल हो अथवा चीरे पड़े हों, वहां जमा हुआ ही प्राप्त होता है। इसको चीनी कपूर की तरह पकाकर बनाना नहीं पड़ता। इस वृक्ष से एक तरल द्रव्य भी प्राप्त होता है जिसे कर्पूर तैल (Camphor oil of Borneo) कहा जाता है।

यह कपूर चीनी कपूर की अपेक्षा भारी होने के कारण जल में डूब जाता है। यह हवा की उष्णता से उड़ता नहीं। इसे बोतलों में रखने पर इसके कण बोतल पर जमा नहीं होते। यह

चीनी कपूर की अपेक्षा अधिक उष्णता से जलता है। इसमें कपूर के अतिरिक्त कुछ अम्बर आदि की मिश्रित गन्ध आती है। इसके छोटे, बड़े, गोल स्फटिक होते हैं जो सफेद, चमकीले, चिकने, कुछ कड़े, चूर्ण करने में चीनी कपूर की अपेक्षा देर में चूर्ण होने वाले एवं वायु से आर्द्रता को न सोखने वाले होते हैं। यह कपूर बहुत महंगा होता है। इसका **रासायनिक संगठन** $C_{10}H_{18}O_1$ है। इसके **गुण एवं प्रयोग** आदि सब चीनी कपूर के समान ही हैं लेकिन यह त्वचा की रक्तवाहिनियों का अधिक विस्फार करता है तथा चीनी कपूर की अपेक्षा बाह्य प्रयोग में कम दाहजनक है। यह मस्तिष्क के लिये अधिक अवसादक है तथा चीनी कपूर की अपेक्षा अधिक मात्रा में दिया जा सकता है। इसके गुणधर्मों का वर्णन आगे चीनी कपूर के साथ ही दिया गया है।

भीमसेनी कपूर के अभाव में निम्न विधि से बनाये हुये कपूर का व्यवहार किया जाता है। दूब, शीतल मिरच इलायची और जौ हरड इनको समान मात्रा में पीसकर एक बटलुई में बिछा दें और उस पर कपूर के छोटे छोटे टुकड़े पानी में भिगो कर रख दें तथा कुछ घी भी डाल दें। उस बटलुई पर केले का पत्ता ढाक कर उस पर एक दूसरा पीतल का कटोरा रख दें। इस कटोरे में थोड़ा जल डाल दें। फिर बटलुई को जलयुक्त पात्र में रखकर मन्द आंच पर गरम करें। ऊपर के कटोरे का पानी गरम होने पर उसे निकाल कर ठण्डा पानी डालते रहें। जब सब कपूर उड़कर ऊपर जम जाय तब उसे निकालकर व्यवहार करें।

(२) **चीनी या जापानी कपूर**—यह तमाल जाति के वृक्षों से बनाया जाता है। इसका विशेष वर्णन आगे किया गया है।

(३) **पत्री या भाभी कपूर**—वस्तुतः भारतीय कपूर यही है। यद्यपि इसके क्षुप भारतवर्ष में बहुत होते हैं जिनसे बहुत कपूर निकाला जा सकता है तथापि अपने यहां इससे कपूर नहीं निकाला जाता। भारत में जितना भी कपूर आवश्यक होता है वह विदेशों से ही आता है। पत्री कपूर कुकरौंधा जाति के क्षुपों से प्राप्त होता है। इस क्षुप के कई भेद हैं जिनमें ये प्रधान हैं—Blumea balsamifera, DC., B. lacera, DC., B. densiflora, B. DC., malcolmii Hook. f. (ब्ल्यूमिया बाल्समीफेरा, ब्ल्यू. लॅसेरा, ब्ल्यू. डेन्सिफ्लोरा, ब्ल्यू. मालकोल्माइ । यह Compositae (काम्पोझिटी) वर्ग के क्षुप हैं। यह हिमालय में नेपाल से सिक्किम तक तथा दक्षिणी पठार के पश्चिमी भाग में १७००–२५०० फीट तक पाये जाते हैं। ब्ल्यू. डेन्सिफ्लोरा का छोटा क्षुप आसाम, खासिया पहाड़, चटगांव एवं अन्य स्थानों में पाया जाता है। ब्ल्यू. बाल्समीफेरा के क्षुप बर्मा में इतने अधिक उत्पन्न होते हैं कि वह आधे संसार की कपूर की पूर्ति कर सकता है। ब्ल्यूमिया के अतिरिक्त तुलसी की जाति में ऑसिमम् किलिमॅन्डसूचॅरिकम् (Ocimum kilimandscharicum) तथा 'कपूर' (बं.) (Limnophila gratioloides R. Br. लिम्नोफाइला ग्रॅटियोलॉइडीस्) आदि अन्य अनेक वनस्पतियों में कपूर की गन्ध आती है जिनसे कपूर प्राप्त किया जा सकता है। पत्री कपूर का रासायनिक संगठन भीमसेनी कपूर से मिलता-जुलता है।

(४) **कृत्रिम कपूर**—भारतवर्ष में यद्यपि ब्ल्यूमिया से काफी कपूर निकाला जा सकता है तथापि अब रासायनिक विधि द्वारा कृत्रिम कपूर बनाया जाने लगा है जो वृक्षों से प्राप्त कपूर से सस्ता होता है। औषध की अपेक्षा कपूर का अन्य सेल्यूलाइड आदि बनाने में बहुत उपयोग होता है।

नोट—राजनिघण्टु में रस, गुण, वीर्य के अनुसार कपूर के पोतास, भीमसेन, शीतकर, शंकरावास, प्रांशु, पिंज, अब्दसार हिमयुता, वालुका, जूटिका, तुषार, हिम, शीतल एवं पक्किका (पिचका) ये १४ भेद लिखे हुये हैं। फिर शिर, मध्य और तल, इन भेदों से तीन प्रकार का

माना है। स्तम्भ के अग्रभाग में होने वाला कपूर शिरसंज्ञक, मध्य में—मध्यम और पत्तों के तले होने वाला तलसंज्ञक है। प्रकाशवान्, स्वच्छ और फूला हुआ शिर; सामान्य फूला हुआ और स्वच्छ मध्यम और तल में होने वाला चूर्णवत् कुछ पीला सा होता है। अन्य प्रकार से—स्तम्भ के गर्भ में स्थित कपूर उत्तम; स्तम्भ के बाहर होने वाला मध्यम जो निर्मल, कुछ पीलापन युक्त एवं चमकीला होता है; तथा कड़ा, सफेद, रूखा और फूला हुआ बाह्य कपूर कहलाता है। आगे खाने योग्य कपूर के ये लक्षण दिये हैं—साफ, भंगरइया के पत्तों के समान छोटे २ टुकड़ों वाला, बहुत हलका, बिलकुल सफेद, स्वाद में तिक्त रस वाला, शीतल, हृदय को प्रिय, घन, आह्लादकारक सुगन्ध युक्त, स्नेहहीन, कड़े परतों से युक्त तथा चमकीला कपूर राजयोग्य होता है और अन्य प्रकार के कपूर के खाने से व्रण एवं स्फोट आदि उत्पन्न होते हैं। इन्होंने 'चीनक' नाम से एक अन्य कृत्रिम भेद भी माना है।

धन्वन्तरि निघण्टु में कपूर के भेद नहीं लिखे हुए हैं। कपूर का चरक में दशेमानि में उल्लेख नहीं है लेकिन सू. अ. ५ में 'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता।······तथा कर्पूरनिर्यासं·········' ऐसा उल्लेख है। सुश्रुत सू. अ. ४५ में तिक्त, सुगन्धि, शीतल, लघु, लेखन आदि इसके गुण लिखे हैं एवं तृष्णा, मुखशोष तथा अरुचि आदि में उपयोगी लिखा है। अष्टांगसंग्रह (वृद्धवाग्भट) में लिखा है—'रुचिवैशद्यसौगन्ध्यमिच्छन् वक्त्रेण धारयेत्। जातीलवंग कर्पूर—'। चक्रदत्त, वृन्द आदि ने कास, श्वास, प्रमेह एवं ग्रहणी की चिकित्सा में कपूर का उपयोग नहीं लिखा है लेकिन रसचिकित्सा वालों ने इसका प्रयोग उपर्युक्त रोगों में किया है।

अथ चीनाककर्पूरः [चिनिया]। तस्य नामानि गुणांश्चाह

चीनाकसंज्ञः कर्पूरः कफक्षयकरः स्मृतः। कुष्ठकण्डूवमिहरस्तथा तिक्तरसश्च सः ॥ ४ ॥

चीनिया कपूर के गुण—चीनिया कपूर को संस्कृत में चीनक कर्पूर कहते हैं। यह—कफ को नष्ट करने वाला तथा कुष्ठ, खुजली और वमन को भी दूर करने वाला एवम् तिक्त रस से युक्त होता है ॥ ४ ॥

२ चीनिया कपूर

हि०-चीनिया कपूर, चीनी कपूर, जापानी कपूर, फारमोसा कपूर। **बं०**-चीनेर कर्पूर।
म०-चीनी कापूर। **गु०**-चिनाई कपूर। **यू०**-कैसूरी कपूर। **ले०**-*Cinnamomum camphora Nees & Eberm.* (सिनॅमोमम् कॅम्फोरा नीज, एब.)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

इसके वृक्ष कोचीन चाइना से लेकर शंघाई तक तथा हैनाम से दक्षिणी जापान तक पाये जाते हैं। भारत में देहरादून, कलकत्ता, मैसूर एवं नीलगिरी पर्वत आदि स्थानों में इसके वृक्षों को लगाया गया है। दक्षिण की जलवायु इसके लिये अधिक उपयुक्त है लेकिन भारत में लगाये वृक्षों में कपूर कम निकलता है।

इसका **वृक्ष** देखने में सुन्दर, ऊँचा तथा सदाहरित होता है। **पत्ते**–अण्डाकार, चिकने, चमकीले, नोंक की ओर संकुचित, २ से ४ इञ्च लम्बे, एकान्तर एवं पीताभ हरित होते हैं। **छाल**–यह बाहर से खुरदरी और अन्दर से चिकनी होती है। **फूल**–छोटे-छोटे पीताभ श्वेत या रक्ताभ-

श्वेत बौर के समान आते हैं। **फल**–गहरे हरे रंग के मटर के समान तथा गुच्छों में आते हैं। **बीज**–छोटे तथा कपूर की गन्धयुक्त होते हैं।

इस वृक्ष के सभी भागों में विशेष कोशाएं होती हैं जिनमें कपूर बनता है। कपूर निकालने के लिये इसकी लकड़ी को टुकड़े-टुकड़े करके भपके के द्वारा गरम करते हैं जिससे लकड़ी में का कपूर उड़कर ऊपर जम जाता है। उस कपूर को फिर से ऊर्ध्वपातन विधि द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है। प्राचीनों ने कपूर का जो **पक्व** भेद कहा है वह यही है क्योंकि इसे लकड़ी को पकाकर निकालते हैं। इसके पत्तों से भी कुछ कपूर प्राप्त होता है।

यह कपूर रंगहीन, सफेद या पारदर्शक, स्फटिकों में, बेडौल डलियों में, चौकोर टिकियों में तथा चूर्णरूप में होता है। यह जल पर तैरता है तथा इसका विशिष्ट गुरुत्व ०·९९५ है। इसकी गन्ध तीक्ष्ण एवं विशिष्ट प्रकार की होती है तथा स्वाद कड़ुवा एवं तीता होता है। एवं बाद में ठंडक मालूम होती है। यह जलाने से तुरत जलता है तथा हवा की उष्णता से धीरे-धीरे उड़ जाता है। इसका १ भाग ७०० भाग जल में, १ भाग मद्यसार (९०%) में, ४ भाग तैल में, ½ भाग क्लोरोफॉर्म में घुलता है तथा ईथर में यह बहुत घुलता है। अजवाइन का सत्त्व या पेपरमिंट के साथ इसको मिलाने से पतला द्रव बनता है। भीमसेनी कपूर से इसका भेद पीछे लिखा गया है।

रासायनिक संगठन—यह एक प्रकार का घन उड़नशील तैल (स्टियरोप्टेनस्–Stearoptenes) है। इसका रासायनिक सूत्र $C_{10}H_{16}O$ है। ऊर्ध्वपातन द्वारा कपूर के अतिरिक्त एक तैल भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—कपूर वातहर, दीपन, कफघ्न, कासहर, ज्वरघ्न, स्वेदजनन, कामोत्तेजक (अल्पमात्रा में), कामवासना कम करने वाला (अधिक मात्रा में), स्तन्यनाशन तथा मस्तिष्क, हृदय एवं श्वसन के लिये उत्तेजक, उद्वेष्टन-निरोधी, सौम्य-प्रतिदूषक, स्थानिक त्वग्रागकारक (प्रारंभ में), स्वापजनन (बाद में), शोथहर तथा वेदनाहर है। अधिक मात्रा में यह दाहजनक एवं मादक विष है।

(१) यह आमाशय में पहुँच कर वहां रक्ताभिसरण क्रिया की वृद्धि करता है जिससे पाचक रसों की वृद्धि होती है तथा वायु का अनुलोमन होता है। इसके कारण अतिसार, उष्णकालीन अतिसार, वमन, विसूचिका की प्रारंभिक अवस्था, आध्मान, शूल एवं भूतोन्माद के कारण उत्पन्न वमन आदि में इससे बहुत लाभ होता है। विसूचिका के प्रारम्भ में कर्पूरासव (भै० र०) बताशे के साथ बार बार देने से लाभ होता है। कपूर, अजवाइन का सत्त्व तथा पेपरमिंट तीनों समान मात्रा में मिलाकर उस द्रव को १–२ बूंद बताशे में रख कर देने से भी उपर्युक्त विकारों में लाभ होता है। कर्पूररस (भै० र०) अतिसार, प्रवाहिका एवं संग्रहणी में दस्त कम करने के लिये दिया जाता है। बच्चों के आध्मान एवं शूल में कर्पूराम्बु का उपयोग एवं बड़ों में कर्पूरासव का उपयोग लाभदायक है।

(२) इसके सेवन से त्वचा की रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है तथा पसीना अधिक होता है जिससे ज्वर में यह ताप को कम करता है। मसूरिका, रोमान्तिका, आन्त्रिकज्वर एवं ग्रन्थिज्वर आदि में कर्पूराम्बु का उपयोग १–२ औंस की मात्रा में किया जाता है जिससे हृदय को बल मिलता है एवं ताप भी कम हो जाता है। कर्पूराम्बु बनाने के लिये कपूर को महीन कपड़े में बांधकर जल में डुबोते हैं तथा बाद में उस जल का प्रयोग करते हैं।

(३) श्वसन, हृदय तथा रक्ताभिसरण के लिये कपूर उत्तेजक माना जाता है। स्वस्थ हृदय की अपेक्षा दुर्बल, अवसादित तथा अनियमित गति युक्त हृदय पर इसका प्रभाव अधिक होता है।

इसका प्रभाव प्रत्यक्षतया हृदय के ऊपर तथा श्वसन के उत्तेजित होने से अप्रत्यक्षतया होता है। ज्वर, फुफ्फुसपाक एवं सन्निपात आदि में यदि हृदय की दुर्बलता से नाडी दुर्बल हो जाय, हृदयातिपात के लक्षण हों तो कर्पूरहिंगुवटिका ४–४ घंटे पर या १ भाग कपूर आठ भाग दूध में घोंट कर ½ चम्मच ४–४ घंटे पर देने से लाभ होता है। कर्पूरहिंगुवटिका बनाने के लिये १ भाग कपूर, १ भाग हींग तथा थोड़ा सा मधु एक साथ घोंटकर २ र० की गोली बनावें तथा आर्द्रक रस के साथ खिलावें। रोगी गोली निगलने में असमर्थ होने पर आर्द्रक रस में घोंट कर आवश्यक होने पर ½ र० कस्तूरी मिलाकर चटावें। कर्पूर का तैलीय सूचिकाभरण हृदय एवं श्वसन को उत्तेजित करने के लिये प्रयोग किया जाता है।

(४) अवसादक तथा नशीली औषधियों के दुष्परिणाम से जब श्वसन क्रिया अवसादित होती है तब कपूर के प्रयोग से उत्तेजना आकर श्वास की गति तथा उसकी गहराई बढ़ती है। कुकास, तमकश्वास एवं जीर्ण श्वसनिकाशोथ आदि कफविकारों में इसके प्रयोग से श्लेष्मलकला का रक्तप्रवाह बढ़कर कफ पतला होकर निकलने लगता है। तमकश्वास में कर्पूरहिंगुवटिका ४–४ घंटे पर जब तक दमे का जोर रहता है, देते हैं। प्रतिश्याय में कर्पूरासव या समान मात्रा में कपूर एवं मद्यसार को मिलाकर ५ बूंद की मात्रा में दिया जाता है एवं कपूर को सुंघाया भी जाता है।

(५) यह मस्तिष्क को उत्तेजित करता है जिससे प्रारंभ में संपूर्ण शरीर में उत्तेजना, चक्कर, विचारों में असंगति, गति में असहयोग तथा विषैली मात्रा में आक्षेप एवं बेहोशी आदि लक्षण होते हैं। किसी-किसी में हँसने-नाचने की प्रवृत्ति होती है तो किसी में तन्द्रा आती है। वातिक हृदय की धड़कन, कम्पवात, अपस्मार, योषापस्मार एवं उन्माद आदि में कपूर को थोड़े से मद्यसार के साथ घोंट कर गोली बनाकर १–२ र० की मात्रा में ३–४ बार देते हैं।

(६) अत्यधिक कामोत्तेजना, सुजाक से उत्पन्न पीडायुक्त शिश्नोत्थान एवं वीर्यपात आदि में कपूर का अधिक मात्रा में उपयोग किया जाता है। वीर्यपात में सोते समय २ र० कपूर की गोली खुरासानी अजवाइन के साथ खिलाते हैं। स्त्रियों में अत्यधिक कामवासना, जननेन्द्रिय-कण्डू, गर्भाशय पीडा एवं कष्टार्तव में १ से २ र० कपूर दिन में २ बार खिलाते हैं। स्त्रियों में दुग्ध कम करने के लिये इसको खिलाते हैं तथा स्तनों पर इसका लेप करते हैं।

(७) कपूर का स्थानिक एवं **बाह्य प्रयोग** बहुत किया जाता है। इससे स्थानिक रक्तवाहिनियों की उत्तेजना से उष्णता एवं रक्तिमा उत्पन्न होती है। प्रारम्भ में इससे सांवेदनिक वातनाडियां उत्तेजित होती हैं लेकिन बाद में अवसादित होने के कारण शीतलता का अनुभव होता है तथा पीडा दूर होती है। इसका प्रतिदूषक गुण बहुत अल्प है। यह त्वग्रागकारक एवं प्रतिक्षोभक होने के कारण ४ गुने तेल में मिला कर जीर्ण आमवात, मोच, मरोड़, चोट, मांसपेशियों में ऐंठन होने से उत्पन्न पीडा, कटिशूल, पार्श्वशूल एवं जीर्ण कास, बच्चों की खांसी, फुफ्फुसपाक एवं फुफ्फुसावरणशोथ आदि में इसकी मालिश की जाती है। जननेन्द्रिय कण्डू एवं विचर्चिका में जसद भस्म एवं कपूर तैल में मिलाकर लगाते हैं। दांत में गढा होने के कारण दर्द होता हो तो कपूर का मद्यसार में घोल बनाकर उसका फाहा गढे में रखते हैं। मुखदुर्गन्धि में खदिरवटिका (भै० र०) अथवा कपूर, कबावचीनी एवं टंकणक्षार की गोली मुख में रखने से लाभ होता है। दन्तमंजनों में कपूर का उपयोग किया जाता है। जीर्ण व्रणों में तथा कण्डू में इसका अवचूर्णन किया जाता है।

विषैला प्रभाव—अत्यधिक मात्रा में कपूर के सेवन से आमाशयोर्ध्व भाग में पीडा, हृल्लास, कभी-कभी वमन, चक्कर, दृष्टिमान्द्य, प्रलाप, उन्माद, अपस्मार के समान आक्षेप, श्यावता, अंगघात, शीतलप्रस्वेद, मूत्रकृच्छ्र, संन्यास एवं मृत्यु होती है।

विष चिकित्सा—वामक द्रव्यों का प्रयोग एवं शीत तथा उष्ण निरूहण बस्ति का क्रम से बारंबार प्रयोग तथा प्रतिक्षोभक, विरेचक एवं उत्तेजक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। कुचीलु सत्व का सूचिकाभरण आवश्यकतानुसार किया जाता है। मद्यसार एवं तैलीय पदार्थों का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि कपूर उनमें घुल जाता है।

जीर्ण विषैला प्रभाव—कुछ युवा स्त्रियों में सौन्दर्य वृद्धि के लिये कपूर खाने की आदत पड़ जाती है जिसको छुड़ाना कठिन होता है। इसके कारण साधारण मानसिक उत्तेजना, तन्द्रा, अत्यधिक दौर्बल्य एवं पाण्डुता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

नोट—कपूर का चूर्ण बनाने के लिये खरल में घोटते समय रेक्टिफाइड स्पिरिट से कपूर आर्द्र कर लेने से आसानी से चूर्ण बन जाता है तथा खरल में चिपकता नहीं।

मात्रा—१-२ र०; आसव—५-२० बूंद; कर्पूराम्बु—१-२ औं०।

अथ कस्तूरी। तस्या नामभेदगुणानाह

मृगनाभिर्मृगमदः कथितस्तु सहस्रभित्। कस्तूरिका च कस्तूरी वेधमुख्या च सा स्मृता॥
कामरूपोद्भवा कृष्णा नैपाली नीलवर्णयुक्। काश्मीरी कपिलच्छाया कस्तूरी त्रिविधा स्मृता॥
कामरूपोद्भवा श्रेष्ठा नैपाली मध्यमा भवेत्। काश्मीरदेशसम्भूता कस्तूरी ह्यधमा मता॥
कस्तूरिका कटुस्तिक्ता क्षारोष्णा शुक्रला गुरुः। कफवातविषच्छर्दिशीतदौर्गन्ध्यशोषहृत्॥

कस्तूरी के नाम, भेद तथा गुण—मृगनाभि, मृगमद, सहस्रभिद्, कस्तूरिका, कस्तूरी, और वेधमुख्या ये सब कस्तूरी के संस्कृत नाम हैं। वर्णभेद से कस्तूरी तीन प्रकार की होती है जैसे—१ कामरूप (कामरूदेश) में उत्पन्न होने वाली कस्तूरी कृष्णवर्ण की (काली) होती है। २ नेपाल देश में उत्पन्न होनेवाली नीले रङ्ग की होती है। ३ कश्मीर देश में उत्पन्न होने वाली कपिल वर्ण की होती है। इनमें से कामरू देश की कस्तूरी उत्तम, नेपाल देश की मध्यम एवम् कश्मीर देश की अधम गुण वाली होती है। कस्तूरी-कटु तथा तिक्त रस युक्त, क्षार गुण विशिष्ट, उष्णवीर्य, वीर्यजनक और गुरु होती है। यह कफ, वायु, विष, वमन, शीत, दुर्गन्ध और शोष को दूर करने वाली होती है॥ ५-८॥

३ कस्तूरी।

हि०-कस्तूरी, मृगनाभि, मृगनाफा। **बं०**-मृगनाभि। **ते०**-कास्तूरी। **म०-गु०-क०-ता०**-कस्तूरी। **फा०**-मुश्क। **अ०**-मिस्क। **अं०**-Musk (मस्क)। **ले०**-*Moschus* (मोस्कस्)।

हिरन की कई जातियाँ होती हैं किन्तु सब जाति के हिरनों से कस्तूरी नहीं निकलती। जिस हिरन से कस्तूरी निकलती है उसको संस्कृत में 'कस्तूरीमृग', यूनानी में 'हिरनमुश्की' और लेटिन में मोस्कस् मोस्कीफेरस् (Moschus moschiferus; Fam. Cervidae) कहते हैं। यह मृग उत्तरी भारत, नेपाल, आसाम, कश्मीर, मध्य एशिया, तिब्बत, भूटान, चीन एवं रूस आदि स्थानों में ७०००-८००० फीट ऊंची पहाड़ी चोटियों पर सघन जंगलों में पाया जाता है। यह विशेष कर तिब्बत में अधिक होते हैं। यह हिरन की जाति का बहुत सुहावना और सुन्दर मृग होता है किन्तु न इसके सींग होते हैं न दुम। यह मृग करीब २० इंच ऊँचा, लौह के समान गहरे धूसर वर्ण का, अत्यन्त सशंक स्वभाव का प्राणी होता है। इसके ऊपरी जबड़े में दो लंबे दंष्ट्र

होते हैं जो बाहर नीचे की ओर हुक की तरह निकले रहते हैं। इसका मुंह लंबा, पैर पतले तथा सीधे एवं बाल रूखे और लम्बे होते हैं। इसके लिंगेन्द्रिय के मणि को ढांकने वाले चमड़े के प्रवर्धन से बनी हुई एक थैली होती है जिसके सूखे हुये स्राव को 'कस्तूरी' कहते हैं। नर हिरन में ही यह पायी जाती है। यह थैली नाभि के पास, नाभि एवं शिश्नावरण के बीच में स्थित रहती है। यह अंडाकार, १½-२ इञ्च लम्बी एवं १-२ इञ्च चौड़ी होती है। इसके अग्रभाग में केशयुक्त एक छोटासा छिद्र होता है तथा पिछले भाग में एक सिकुड़न सी होती है जो शिश्नाग्रचर्म के मुख से मिल जाती है। इसके अन्दर के चिकने आवरण की अनियमित तहों के कारण यह कई अपूर्ण विभागों में बटी होती है। कस्तूरी, युवावस्था के मृगों में उनके मदकाल (Rutting season) में अधिक मात्रा में होती है तथा उसी समय उसकी शक्ति एवं गन्ध अधिक रहती है। यह काल करीब १ महीने का होता है। रा० नि० में भी लिखा है कि—'बाले जरति च हरिणे क्षीणे रोगिणि च मन्दगन्धयुता। कामातुरे च तरुणे कस्तूरी बहलपरिमला भवति॥' बालक, वृद्ध, क्षीण और रोगी हिरन की कस्तूरी मन्द गन्ध वाली होती है तथा कामातुर और तरुण हिरन की कस्तूरी अत्यन्त सुगन्धित होती है। जब उक्त हिरन की नाभि में कस्तूरी बन जाती है तब उसमें से कस्तूरी की गन्ध आती है और वह मृग किसी दूसरे पदार्थ की गन्ध समझ कर इधर-उधर घूम-घूम कर वृक्षों को सूंघा करता है जिससे बहेलिये आसानी से पहचान कर उसको मार डालते हैं और नाभि को काट लेते हैं। स्वस्थ वयस्क प्राणी में करीब २½ तो० कस्तूरी पाई जाती है। १ साल के बच्चे में कस्तूरी नहीं होती तथा २ साल के बच्चे में करीब ६-७ माशे होती है जो दुधिया रहती है। वृद्ध प्राणि में भी ७ माशे से अधिक नहीं होती। इसमें सुगन्ध ही एक मनोहर गुण है जो बहुत तीव्र स्वतन्त्र प्रकार की और शीघ्र फैलने वाली होती है। इसका स्वाद सुगन्ध युक्त कड़ुआ होता है।

कस्तूरी के प्रकार[1]—मृग के शिकार के बाद इन नाभों को निकाल कर धूप एवं हवा में सुखाते हैं। फिर इन नाभों को मृग के बालों में लपेट कर चमड़े की थैलियों मे बन्द किया जाता है तथा बाद में सीलबन्द डब्बों में या अन्दर से टीन का अस्तर लगे हुवे लकड़ी के बक्सों में बन्द कर बाहर भेजा जाता है।

व्यापार की कस्तूरी ३ प्रकार की होती है। (१) रूस की कस्तूरी—इसमें गन्ध बहुत कम होती है (२) आसाम की कस्तूरी—यह बहुत अच्छी तथा तीव्र गन्ध युक्त होती है तथा इसका रंग काला होता है। सम्भवतः प्राचीनों ने कामरूप कस्तूरी इसी को कहा है। (३) चीन की कस्तूरी-यह सबसे मंहगी होती हैं क्योंकि अन्य हीन श्रेणी की कस्तूरी में जो कभी कभी अमोनिया आदि की अप्रिय गन्ध होती है वह इसमें बिलकुल नहीं होती। यह कस्तूरी तिब्बत से ही चीन को जाती है। एक अन्य तीक्ष्ण अप्रिय गन्ध वाली कस्तूरी कॅबर्डाइन् नामक होती है जो मंगोलिया एवं मंचूरिया के उत्तरी भाग तथा पूर्वी साइबेरिया से आती है।

उत्तम कस्तूरी—रक्ताभश्याम वर्ण की, गोल बड़े दानेवाली, तीक्ष्ण गन्ध वाली, स्वाद में तिक्त, हलकी एवं मुलायम कस्तूरी उत्तम होती है। इसकी गन्ध बहुत स्थायी रहती है तथा ३०००

---

१. कपिला पिङ्गला कृष्णा कस्तूरी त्रिविधा क्रमात्। नेपालेऽपि च काश्मीरे कामरूपे च जायते॥ साऽप्येका खरिका ततश्च तिलका ज्ञेया कुलित्थाऽपरा, पिण्डाऽन्यापि च नायिकेति च परा या पञ्चभेदाभिधा। सा शुद्धा मृगनाभितः क्रमवशादेषा क्षितीशोचिता पक्षत्र्यादिदिनत्रयेषु जनिता कस्तूरिका सूयते॥ चूर्णाकृतिस्तु खरिका तिलका तिलाभा, कौलत्थबीजसदृशी च कुलित्थिका च। स्थूला ततः कियदियं किल पिण्डिकाख्या तस्याश्च किंचिदधिका यदि नायिका सा॥ रा. नि.।

गुना विरल (Dilute) करने पर भी गन्ध मालूम हो जाती है। यह कहा जाता है कि शिकार के समय इसकी तीव्र गन्ध से शिकारियों के वातनाडी संस्थान, आंख एवं कान पर बुरा असर पड़ता है। चीनी व्यापारियों का कहना है कि मदकाल में जब मृग में कस्तूरी की गन्ध तीव्र हो जाती है तब उसके प्रक्षोभ के कारण वह अपने खुरों से उसे खुरच खुरच कर निकाल देता है। ऐसी कस्तूरी मृगों के आवास स्थानों में पड़ी हुई पाई जाती है। लेकिन ऐसी कस्तूरी बहुत कठिनाई से ही मिलती है।

असली कस्तूरी की पहचान—कस्तूरी की मांग बहुत होने के कारण तथा कठिनाई से मिलने के कारण इसमें मिलावट की जाती है। असली कस्तूरी मिलना बहुत कठिन है। व्यापारी लोग सूखा हुआ रक्त, यकृत तथा दाल, गेहूँ एवं जव के दाने आदि मिला देते हैं। केवल गन्ध से कस्तूरी की पहचान करना कठिन है क्योंकि इसके सम्पर्क में आये पदार्थ को यह सुगन्धित कर देती है।

चीन तथा तिब्बती व्यापारियों के यहाँ पहचान की कुछ पद्धतियाँ प्रचलित हैं जो वैज्ञानिक न होते हुये भी कुछ हदतक उपयोगी हैं।

(१) कस्तूरी के दानों को जल में डालने पर यदि दाने वैसे ही रहें तो असली और यदि वे घुल जाँय तो मिलावटी। रा० नि० में भी लिखा है 'यदप्सु न्यस्ता नैव वैवर्ण्यमीयात्कस्तूरी सा राजभोग्या प्रशस्ता'। जिस कस्तूरी को जल में डालने पर उसके वर्ण में परिवर्तन नहीं होता वह उत्तम होती है।

(२) जलते लकड़ी के अंगारे पर कस्तूरी के दाने डालने पर यदि वह पिघल कर उसमें से बुद्बुदे निकलें तो असली और यदि वह एक दम कड़ी होकर कोयला बन जाय तो नकली। रा० नि० में भी लिखा है कि 'दाहं या नैति वह्नौ शिमिशिमिति चिरं चर्मगन्धा हुताशे, सा कस्तूरी प्रशस्ता वरमृगतनुजा राजते राजभोग्या।

(३) असली कस्तूरी को गाड़ दें तब भी उसकी गन्ध में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(४) असली कस्तूरी मुलायम होती है तथा मिलावट होने पर वह कड़ी होती है।

(५) पंजाब की तरफ एक परीक्षा प्रचलित है कि हींग में एक तागे को डालकर निकालते हैं फिर उसे नाभे में डालकर निकालते हैं। यदि हींग की गन्ध उस तागे में रहे तो कस्तूरी नकली मानते हैं।

(६) कागज में रखने पर इससे कागज में पीला दाग पड़ जाता है तथा जलाने पर इसमें मूत्र की गन्ध आती है।

(७) कपूर, हॅलेरियन, लहसुन, हाइड्रोसाइनिक् एसिड एवं अर्गट का चूर्ण आदि के सम्पर्क में आने पर कस्तूरी की गन्ध नष्ट हो जाती है।

कृत्रिम कस्तूरी (Artificial or synthetic musk)—कस्तूरी की मांग बहुत होने के कारण तथा मृग का शिकार करते, करते कहीं उनकी जाति ही नष्ट न हो जाय इस डर से कृत्रिम रूप से कस्तूरी बनाने की तरफ वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ तथा रासायनिक विधि से कृत्रिम कस्तूरी

१ या स्निग्धा धूमगन्धा वहति विनिहिता पीततां पाथसोऽत निःशेषं या निविष्टा भवति हुतवहे भस्मसादेव सद्यः। या च न्यस्ता तुलायां कलयति गुरुतां मर्दिता रूक्षतां च ज्ञेया कस्तुरिकेयं खलु कृतमतिभिः कृत्रिमा नैव सेव्या ॥ रा. नि.।

अब बनाई जाने लगी है। कृत्रिम कस्तूरी पीताभश्वेत रंग की तथा रवेदार होती है। इनमें बहुत तीव्र तथा स्थायी गन्ध होती है जो कस्तूरी से मिलती-जुलती होते हुये भी प्राकृतिक कस्तूरी से अलग मालूम होती है। मस्क क्झाइलेन् [Musk xylene, $C_6 (CH_3)_2 (C_4H_9) (NO_2)_3$]—यह परिवर्तनशील दो स्थायी एवं अस्थायी रवेदार स्वरूपों में प्राप्त होती है। मस्क कीटोन् [Musk ketone, $C_6 (CH_3)_2 (C_4H_9) (COCH_3) (NO_2)_2$]—इसकी गन्ध प्राकृतिक कस्तूरी से मिलती जुलती होती है लेकिन मस्क क्झाइलेन के इतनी तीव्र नहीं होती। मस्क ॲम्ब्रेट्टी [Musk ambrette, $C_6H (C_4H_9) (CH_3) (OCH_3) (NO_2)_2$]—यह कृत्रिम कस्तूरी में सबसे अच्छी मानी जाती है। इनके अतिरिक्त ॲल्डिहाइड् मस्क (Aldehyde musk), साइनो मस्क (Cyano musk) एवं ॲझिमिडो मस्क (Azimido musk) आदि कृत्रिम कस्तूरी होती हैं जिनका क्वचित प्रयोग होता है। कृत्रिम कस्तूरी विषैली नहीं होती तथा सुगन्धि के लिये अधिकतर व्यवहार में लाई जाती है लेकिन प्राकृतिक कस्तूरी की अपेक्षा यह हीन श्रेणी की होती है।

अन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों में कस्तूरी—कस्तूरी की गन्ध के समान गन्धवाले पदार्थ विभिन्न देशों में पाये जानेवाले अनेक प्रकार के प्राणियों एवं वनस्पतियों में पाये जाते हैं। 'अमेरिकन कस्तूरी' नाम से एक प्रकार के चूहे से प्राप्त द्रव्य का उपयोग सुगन्धि के लिये किया जाता है। कुछ प्राणियों के नाम आगे दिये जा रहे हैं—ॲण्टीलोप डॉरकस् (Antilope dorcas) नामक एक प्रकार का हिरन, कॅप्रा आइबेक्स् (Capra ibex) नामक बकरा जिसके रक्त में गन्ध होती है, मस्टेला फॉइना (Mustela foina) नामक नेवले के समान जानवर जिसकी विष्ठा में गन्ध होती है, ओव्हिबोस मॉसकॅटस् (Ovibos moschatus) नामक बैल जिसके मांस को भारतवर्ष में खाया जाता है, बॉस इण्डिकस् (Bos indicus) नामक एक बैल, डाइकॉटिलिज टॉरकटस् (Dicotyles torqatus) नामक सूअर की जाति का प्राणी, ॲनस् मॉस्कॅटा (Anas moschata) नामक बत्तख, क्रोकोडाइलस् वल्गॅरिस् (Crocodilus vulgaris) नामक मगर, वाइवेरा सिवेट्टा (Viverra civetta) नामक गन्धमार्जार, कॅस्टर फाइबर (Castor fibre) नामक ऊद बिलाव तथा अनेक प्रकार के समुद्री कछुवे एवं सर्प।

संसार के विभिन्न स्थानों में पाई जाने वाली अनेक वनस्पतियों में कस्तूरी की गन्ध पाई जाती है जिनमें से भारत में लताकस्तूरी के बीज, कुजई (Rosa moschata Herrm.-रोझा मास्कॅटा), कद्दू, झूफह्-यविस् (Hyssopus officinalis Linn.-हाइस्सोपस् ऑफिसिनॅलिस्), सीलोन में पाया जानेवाला बड़ा गोखरू तथा हींग की जाति का वृक्ष आदि अपने यहां पाये जाते हैं। यद्यपि उपर्युक्त अनेक जान्तव एवं वानस्पतिक द्रव्यों में कस्तूरी से मिलती जुलती गन्ध आती है तथापि व्यापार में कस्तूरी का स्रोत कस्तूरी मृग ही है।

रासायनिक संगठन—कस्तूरी को बाष्प के साथ आसवन (Distill) तथा शुद्ध करने से एक गाढा रंगहीन तैल प्राप्त होता है जिसमें कस्तूरी की बहुत तेज गन्ध होती है। यह तैल एक प्रकार का कीटोन (Ketone) है जिसे मस्कोन कहा जाता है। एक अन्य कीटोन भी इसमें होता है जिसके विषय में अभी अधिक ज्ञान नहीं है। इनके अतिरिक्त कस्तूरी में वसा, मोम, कोलेस्टेरिन, ओलीन, जिलेटिन एवं ॲल्ब्यूमिन सदृश पदार्थ, राल एवं अमोनिया आदि पदार्थ पाये जाते हैं। गन्धक के तेजाब की बाष्प पर इसको सुखाने से इसकी गन्ध बिलकुल चली जाती है जो फिर से हवा एवं आर्द्रता के सम्पर्क में आने से आ जाती है। कस्तूरी में ८% राख पाई जाती है जिसमें सोडियम्, पोटॅशियम् एवं कॅल्शियम् के क्लोराइड्स रहते हैं। कस्तूरी मद्यसार में

१०–२०% एवं जल में करीब ५०–७५% घुल जाती है। सौ डिग्री उष्णता पर सुखाने से २०–३०% इसका तौल कम हो जाता है।

गुण और प्रयोग—कस्तूरी कटु, तिक्त, उष्ण, वृष्य, बल्य, विषघ्न, सौमनस्यजनन, हृदय एवं मस्तिष्क के लिये बलप्रद, आक्षेपहर, उद्वेष्टननिरोधी तथा कफविकार, वातविकार, शीत, दुर्गन्ध एवं शोथ को दूर करने वाली होती है।

यह सुषुम्नाशीर्ष के लिये अत्यन्त तीव्र उत्तेजक तथा निपात (Collapse) में बहुत लाभदायक मानी जाती है। इससे रक्तप्रवाह की वृद्धि होती है तथा नाडियों में तनाव (Tension) बढ़ता है। यह मूत्रजननेन्द्रिय एवं श्वसन केन्द्र के लिये उत्तेजक है। इससे प्रथम रक्तवह संस्थान एवं मस्तिष्क को उत्तेजना मिलती है तथा बाद में इसका मादक एवं स्वेदजनक प्रभाव दिखलाई देता है। वातप्रकृति के लोगों में यह ज्यादा प्रभावशाली होती है। इसका उत्सर्ग मूत्र, स्वेद एवं दुग्ध के द्वारा होता है। मुदालियर, डेविड एवं रेड्डी (१९२९) के प्रयोगों से यह देखा गया कि जिन लोगों में श्वेतकणापकर्ष (Leucopenia–ल्यूकोपेनिया) हुआ रहता है उनमें कस्तूरी के टिंक्चर के १०–२० बूंद १ औंस जल के साथ पिलाने से ½–१ घण्टे में श्वेत कणों की वृद्धि होती है। स्वस्थ व्यक्ति में कम प्रभाव दिखलाई देता है। डा. कर्नल चोपरा लिखते हैं कि उपर्युक्त तथ्य गलत हैं। उनके प्रयोग में स्वस्थ एवं कालज्वर पीडित रोगियों में जिनमें श्वेतकणापकर्ष हुआ रहता है, ½ र. कस्तूरी भोजन के २½ घण्टे पश्चात् खिला कर उसके २, ३ घंटे बाद उन लोगों की तथा उनके रक्त की परीक्षा की गई। सात दिन तक यह प्रयोग किया गया। उनके मत से नाडी की गति, रक्त का दबाव, तनाव, श्वेतकणों की संख्या आदि किसी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ लोगों ने कस्तूरी खाने के बाद आमाशय में कुछ उष्णता तथा अच्छेपन का अनुभव किया जो प्रभाव किसी वातानुलोमक मिश्रण (Carminative mixture) की तरह मालूम होता था। कर्नल चोपरा के मत से कस्तूरी का हृदय, श्वसन एवं वातनाडीसंस्थान के लिये उत्तेजक एवं वृष्य प्रभाव कस्तूरी की तीव्र गंध के कारण नासिका द्वारा प्रत्यावर्त्तन क्रिया (Reflex–action–रिफ्लेक्स ऍक्शन) के कारण एवं आमाशय में कुछ प्रक्षोभ के कारण है लेकिन अपस्मार, कंपवात एवं बच्चों के आक्षेप में इसकी उपयोगिता का कोई आधार नहीं है। अपतन्त्रक आदि अन्य आक्षेपयुक्त रोगों में हींग, वलेरियन आदि तीव्र गन्धयुक्त औषधों की तरह एवं कुकास तथा शूल आदि में अन्य सुगन्धि तैलों की तरह इसका प्रभाव पड़ता है। कर्नल चोपरा का कहना है कि कस्तूरी को वृथा अधिक महत्त्व दिया गया है और उसमें कोई विशेष औषधीय गुण नहीं है। उनका कहना है कि अधिकतर कस्तूरी मिलावटी होने के कारण अत्यन्त विश्वस्त स्थानों से प्राप्त कस्तूरी का ही प्रयोग किया गया था। कस्तूरी को थोड़े से यवक्षार में घोंटकर फिर उसमें जल मिलाकर २४ घण्टे रख कर, छान कर प्रयोग किया गया। इसमें करीब ७०–७५% भाग घुल जाता है।

कस्तूरी का उपयोग योषापस्मार, हिक्का, उद्वेष्टनयुक्त तमकश्वास, हृदय एवं मस्तिष्क की दुर्बलता, हृदय की धड़कन, वातिक उन्माद, अपस्मार, संन्यास, विस्मृति, पक्षाघात, अर्दित, शून्यता, कंपवात, कुकास, शूल, बच्चों के आक्षेप आदि वातिक तथा श्लैष्मिक विकारों में एवं उत्तेजक तथा हृद्य औषध के रूप में आन्त्रिक ज्वर, फुफ्फुसपाक, श्वसनिका शोथ, प्लेग एवं मस्तिष्कावरण शोथ आदि में किया जाता है। हृदय की दुर्बलता के लिये चन्द्रोदय, बृहत् कस्तूरीभैरव का उपयोग बलामूल के साथ लाभदायक है।

उद्वेष्टन निरोधि प्रभाव के कारण हनुस्तम्भ, जलसंत्रास, तीव्र श्वसनावरोध एवं कुकास आदि में इसका प्रयोग किया जाता है। अन्य औषधों के साथ वाजीकरण के लिये इसका बहुत उपयोग करते हैं। दक्षिण के वैद्य बच्चों के आक्षेप में अफीम के साथ कस्तूरी का प्रयोग करते हैं। मन्दज्वर, जीर्णकास, दुर्बलता, वातरक्त एवं विसूचिका आदि में यह लाभदायक है।

कस्तूरी का प्रयोग मधु के साथ अथवा मृगमदासव (भै. र.) के रूप में तथा मकरध्वज के साथ किया जाता है। उष्ण प्रकृति वालों के लिये यह हानिकारक तथा शिरःशूलजनक होती है तथा इसके दुष्परिणाम को दूर करने के लिये गुलाबजल एवं वंशलोचन का प्रयोग करना चाहिये।

मात्रा—१–४ र०, आसव या टिंक्चर—१०–३० बूंद।

अथ लताकस्तूरी (मुष्कबीज)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

लता कस्तूरिका तिक्ता स्वाद्वी वृष्या हिमा लघुः।
चक्षुष्या छेदिनी श्लेष्मतृष्णाबस्त्यास्यरोगहृत् ॥ ९ ॥

लता कस्तूरी के गुण—लताकस्तूरी–तिक्त रसे युक्त, सुस्वादु, वृष्य (वीर्यवर्धक), शीतवीर्य, लघु, नेत्रों के लिये हितकर, छेदक (गाढे कफादि का छेदन करने वाली), कफ, प्यास, बस्ति तथा मुखसम्बन्धी रोग को दूर करने वाली होती है ॥ ९ ॥

४ लता कस्तूरी

हि०, बं०–लताकस्तूरी, कस्तूरी दाना, मुष्कदाना। **म०**–कस्तूरीभेंडा। **मा०**–मुष्कदाणा। **गु०**–लता कस्तूरी। **ते०**–कर्पूरीबेंड। **ता०**–वेत्तिलै कस्तूरी, कट्टुक कस्तूरी। **पं०**–भोनार कस्तूरी। **अ०**–हब्बुलमि(मु)श्क। **फा०**–मुश्कदाना। **अं०**–Musk-mallow (मस्क-मॅलो)। **ले०**–*Hibiscus abelmoschus, Linn.* (हिबिस्कस् एबेल्मोस्कस्, लिन.)। Fam. Malvaceae (माल्वॅसी)।

यह बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश तथा विशेषकर इस देशके गरम प्रदेशों में उत्पन्न होती है। इसको बागों में लगाते हैं और यह आपही आप जंगली भी उत्पन्न होती है।

इसका क्षुप—२–३फुट तक ऊँचा, रोमश तथा जंगली भिंडी के क्षुप के आकार वाला होता है किन्तु कहीं-कहीं इससे भी ऊँचा क्षुप देखने में आता है। **पत्ते**–भिंडी के पत्तों के आकारवाले, गोलाकार गहरे कटे किनारीदार एवं ३ से ५ भागों में विभक्त रहते हैं। **फूल**–भिंडी के फूलों के समान ही ३–४ इञ्च के घेरे में घंटाकार चमकीले पीले रंग के होते हैं। **फली**–२॥–३ इञ्च लम्बी, पहलदार रोमश किंचित् नुकीली भिंडी की ही तरह होती है और **बीज**–भिण्डी के बीजों के समान किन्तु वृक्काकार, कुछ चिपटे तथा काले रंग के होते हैं।

इन बीजों को मसलने से कस्तूरी की तरह गंध आती है। इसके पत्र, मूल तथा बीजों का औषध में व्यवहार किया जाता है।

लताकस्तूरी के नाम से यह बोध होता है कि इसकी लता होती है। 'निघण्टुरत्नाकर' में लिखा है कि इसकी लता दक्षिण में पाई जाती है परन्तु लता देखने में नहीं आती, इसका क्षुप ही होता है जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। श्रीविश्वनाथजी द्विवेदी अपनी भावप्रकाश की टीका में लताकस्तूरी का पर्याय वेदमुश्क लिखते हैं। वास्तव में वेदमुश्क लताकस्तूरी से अलग है

तथा उसका लेटिन नाम सॅलिक्स कॅप्रिया (Salix caprea Linn.) है। चरक-सुश्रुतादि ग्रन्थों में मुखशुद्धि के लिये एवं मुख में रुचि तथा सुगन्धि लाने के लिये मुख में धारण करने के लिये जातीफल, कटुक, पूग, कंकोल, ताम्बूल, सूक्ष्मैला, लवङ्ग एवं कर्पूर का उपयोग लिखा है। टीकाकारों ने कटुक शब्द का अर्थ लताकस्तूरी किया है। कुछ लोगों ने कटुक का अर्थ लघुकक्कोल (छोटी कबाबचीनी) किया है तथा कक्कोल का अर्थ बृहत्कक्कोल (बड़ी कबाबचीनी) किया है।

रासायनिक संगठन—इसमें गोंद, एक रवेदार पदार्थ, सुगन्धद्रव्य, राल, अल्ब्यूमिन एवं एक उड़नशील तैल रहता है। यह तैल हरापन लिये पीला होता है तथा वायु में खुला रखने पर गाढ़ा हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज शीतल, दीपन, वाजीकर, बल्य, वातानुलोमक, नेत्र्य, रोचक, बस्तिशोधक, तृषाशामक एवं उद्वेष्टननिरोधी हैं।

इनका उपयोग कफरोग, बस्तिविकार, मुखरोग, अपतन्त्रक, दुर्बलता, स्नायुदौर्बल्य, कुपचन, अग्निमान्द्य एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) इसके फाण्ट को २ से ४ तो० की मात्रा में कफविकार, तमकश्वास एवं ज्वर में दिया जाता है। इससे श्वासमार्ग में स्निग्धता उत्पन्न होकर श्वासनलिकाओं का उद्वेष्टन दूर होता है। उत्तेजक होने के कारण इससे हृदय को भी बल प्राप्त होता है।

(२) इसको मुख में रखकर चबाने से मुख स्वच्छ एवं सुगन्धित होता है तथा खाने पर रुचि बढ़ती है। स्वरभङ्ग एवं मुखशोष में इसका धूम्रपान उपयोगी है।

(३) २½ औंस बीज तथा २० औंस मद्यसार में इसका टिंक्चर बनाकर १-२ ड्रा० की मात्रा में उत्तेजक, उद्वेष्टननिरोधी एवं वातानुलोमक रूप में अपतंत्रक, दुर्बलता तथा अन्य वातिक विकारों में दिया जाता है।

(४) सूखी खुजली में दूध में पीसकर इसके उबटन का प्रयोग किया जाता है। सर्पदंश पर इसके चूर्ण को मद्यसार में भिगोकर लगाते हैं तथा आन्तरिक प्रयोग भी करते हैं। महीन चूर्ण को नेत्र में लगाने से लाभ होता है।

(५) इसके मूल तथा पत्तों का लुआब निकाल कर मिश्री मिलाकर सोजाक, रतिजन्य रोग एवं बस्तिविकारों में दिया जाता है। शुक्रमेह में बीजों का चूर्ण खिलाते हैं।

(६) औषधीय तैलों को सुगन्धित करने के लिये इसके बीजों का उपयोग किया जाता है।

(७) कॉफी के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

अधिक मात्रा—२ ड्रा० से अधिक टिंक्चर के प्रयोग से शिरःशूल एवं चक्कर आते हैं।

मात्रा—चूर्ण २-४ मा०; टिंक्चर—१-२ ड्रा०।

अथ गन्धमार्जारवीर्यम् (जबादकस्तूरी)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

गन्धमार्जारवीर्यन्तु वीर्यकृत्कफवातहृत्। कण्डूकुष्ठहरं नेत्र्यं सुगन्धं स्वेदगन्धनुत्॥ १०॥

गन्धमार्जार का वीर्य अर्थात् जबादकस्तूरी के गुण—**गन्धमार्जारवीर्य**—वीर्यजनक, कफवातनाशक, खुजली तथा कुष्ठ को दूर करने वाला, नेत्रों के लिये हितकर, सुगन्धयुक्त तथा पसीने की दुर्गन्ध को दूर करनेवाला होता है॥ १०॥

५ जबाद कस्तूरी

हि०—जबाद कस्तूरी, जबाद, बेट अजीर, मुश्क बिलाव कस्तूरी, गन्ध ओतु। **गु०**—जवादियां कस्तूरी। **ता०**—पुनुगु, जबादी। **अ०**—ज(जु)ब्बाद, ज(जु)बाद। **अं०**—Civet (सिव्हेट)। **प्राणिनाम—हि०**—मुश्क बिल्ली, खटास। **ने०**—भ्रान। **बं०**—माचभोंदर, बगदास, पूडोगंद। **ता०**—पुनुगु पूने। **फा०**—गुर्बए जबाद। **अं०**—Civet cat (सिव्हेट कॅट)। **ले०**—*Viverra zibetha, Linn.* (वाइवेर्रा झिबेथा, लिन.)।

यह सुगन्धिपदार्थ गन्धमार्जार नामक एक प्रकार की बिल्ली के पूंछ के नीचे की थैली से प्राप्त द्रव्य है। यह प्राणी अफ्रिका, दक्षिण एशिया एवं भारतवर्ष के मालाबार प्रान्त में पाया जाता है। इसका कद बिल्ली का सा किन्तु दुम बड़ी लम्बी होती है। शरीर पर गहरे रंग के धब्बे होते हैं। गुदा और जननेन्द्रिय के बीच में पूंछ के नीचे एक बड़ी थैली होती है जो दो भागों में विभक्त रहती है। इस थैली में जो द्रव पदार्थ बनता है उसको भी सिव्हेट ही नाम दिया जाता है। प्राकृतिक दशा में सिव्हेट की गन्ध अत्यन्त तीक्ष्ण या असह्य होती है, किन्तु जब वह अन्य वस्तुओं के साथ मिलाकर तैयार की जाती है, तो उसमें कस्तूरी की सी सुगन्ध आने लगती है। इस बिल्ली को एक तंग पिंजरे में खड़ाकर देते हैं और थैली में से द्रव पदार्थ को निचोड़ लेते हैं।

मलाबार की तरफ कृषक लोग खेतों में बांस गाड़ देते हैं। यह मार्जार उस पर अपना शिश्न घर्षण करके वीर्य निकाल देता है जो बांस पर लग जाता है। कृषक लोग उसे संग्रह करके बेच देते हैं।

कई लोग इस मार्जार को मारकर उसका अण्डकोष उलटा करके ग्रन्थियां फेंक देते हैं और उल्टे हुवे कोष में तृण भरकर शुष्क करके बेच देते हैं। कलकत्ता में यह शुष्क कोष 'खट्टाशी' नाम से मिलता है। बंगाली वैद्य नारायण तैल आदि को सुगन्धित करने के लिये खट्टाशी उसमें छोड़कर मन्द अग्नि से पकाते हैं।

गन्धमार्जारवीर्य नया होने पर पीताभ श्वेत वर्ण का, नरम और प्रायः मधु के समान गाढ़ा होता है। पुराना होने पर रंग में कुछ श्यामता आ जाती है। यह श्वेत रंग का निकृष्ट समझा जाता है। दक्षिण भारत के बंगलोर, मैसूर, मदुरा आदि शहरों में यह पुनुगु या जबादी नाम से सुगन्धि द्रव्य बेचने वालों के यहां मिलता है। इसमें छोटे बाल, तन्तु, लकड़ी तथा अमोनिया आदि मिले रहते हैं।

परीक्षा—'गंजबादावर्द' में जबाद की परीक्षण विधि इस प्रकार लिखी है—

इसे सुतली के सिरे पर लगाकर अग्नि के समीप रखने से पिघल कर तेल हो जाय तो कृत्रिम और यदि एकत्रीभूत होकर सिरे पर लगा रहे तो असली समझे। इसे अग्नि पर गरम करें या दोनों हाथों से इतना मलें कि गरमी पैदा हो जाय, उस समय सूंघने से जो चीज उसमें मिली होगी वह व्यक्त हो जायगी।

रासायनिक संगठन—इसमें स्वतन्त्र अमोनिया, राल, वसा, कार्यकारी सत्त्व एवं उड़नशील तैल आदि पदार्थ पाये जाते हैं जिनके कारण इसमें सुगन्ध होती है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, वृष्य, नेत्र्य, सुगन्धि, उत्तेजक, सौमनस्यजनन, आविजनन, हृदय एवं ज्ञानेन्द्रियों के लिये बलकारक, उद्वेष्टननिरोधी तथा कफ, वायु, कण्डू और स्वेद की दुर्गन्ध को दूर करने वाला एवं स्थानिक पीडाशामक है। इसका प्रयोग अपतन्त्रक, वातनाडी दुर्बलता-

जन्य शैथिल्य, नपुंसकता एवं सुखप्रसूति के लिये किया जाता है। सुगन्धि के काम में तथा धूपों में इसका औषध की अपेक्षा अधिक प्रयोग किया जाता है। नीचे कुछ यूनानी प्रयोगों को दिया जाता है।

(१) मद्य या अन्य औषधों के साथ २ र० की मात्रा में देने से मन उल्लसित होता है एवं मूर्च्छा, हृदय की धड़कन एवं उदासीनता आदि में लाभ होता है।

(२) १॥ माशा जवाद, थोड़ा सा केशर एवं मुर्गे का मांसरस प्रसव के समय पिलाने से सुखपूर्वक प्रसव होता है।

(३) प्रतिश्याय, शिरःशूल और अर्धावभेदक में इसको सूंघने से लाभ होता है।

(४) बादाम के तेल में घिसकर कान में डालने से श्रवणशक्ति बढ़ती है।

(५) शिश्न पर लेप करके संभोग करने से अधिक आनन्द होता है तथा गर्भधारणा नहीं होती।

(६) इसके मर्दन से दर्द दूर होता है। व्रणशोथ पर लेप करने से वह पककर जल्दी अच्छा होता है।

मात्रा—१-२ माशा।

नोट—एक अन्य सुगन्धि, जान्तव द्रव्य का प्रयोग यूनानी चिकित्सा में किया जाता है, जिसे जुंदबेदस्तर कहते हैं। यह कॅस्टर फाइबर (Castor fiber) नामक उदबिलाव की जाति के एक प्राणी के जननांगकोश में संचित पदार्थ है। यह कोश २॥ इञ्च लंबे, भारी तथा खाकी श्यामवर्ण के होते हैं। इसके भीतर कालासा या पीलापन लिये हुये एक लाल रंग का राल जैसा पदार्थ होता है जिसमें कस्तूरी जैसी गंध होती है एवं इसका स्वाद कुछ तीता होता है। इसका सुगंधि के अतिरिक्त वातकफ-विकारों में अगद के रूप में तथा तिलाओं में उपयोग करते हैं।

मात्रा—२ से ४ रत्ती।

अथ चन्दनम्। तस्य नामान्याह

श्रीखण्डं चन्दनं न स्त्री भद्रश्रीस्तैलपर्णिकः। गन्धसारो मलयजस्तथा चन्द्रद्युतिश्च सः॥११॥

चन्दन के नाम—श्रीखण्ड, चन्दन (यह पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में होता है), भद्रश्री, तैलपर्णिक, गन्धसार, मलयज और चन्द्रद्युति ये सब चन्दन के संस्कृत नाम हैं॥ ११॥

अथोत्तमचन्दनस्य लक्षणमाह

स्वादे तिक्तं कषे पीतं छेदे रक्तं तनौ सितम्। ग्रन्थिकोटरसंयुक्तं चन्दनं श्रेष्ठमुच्यते॥१२॥

श्रेष्ठ चन्दन के लक्षण—जो चन्दन स्वाद में तिक्त रस युक्त, घिसने में पीले वर्ण का, टुकड़े करने पर लाल वर्ण का एवम् देखने में श्वेत वर्ण का हो तथा गांठ और कोटर (खोड़रा) से युक्त हो तो श्रेष्ठ कहलाता है॥ १२॥

अथ चन्दनस्य गुणानाह

चन्दनं शीतलं रूक्षं तिक्तमाह्लादनं लघु। श्रमशोषविषश्लेष्मतृष्णापित्तास्रदाहनुत्॥ १३॥

चन्दन के गुण—**चन्दन**—शीतवीर्य, रूक्ष तिक्त रस युक्त, चित्त को आह्लादित करने वाला और लघु होता है तथा श्रम, शोष, विष, कफ, प्यास, पित्तविकार, रक्तदोष और दाह को दूर करने वाला होता है॥ १३॥

६ चन्दन

हिं०—चंदन, सफेद चंदन। बं०-म०—चंदन। क०—श्रीगन्धमर। गु०—सुखड़। ता०—चंदन मरं। ते०—गंधपु चेक्का। फा०—संदले सफेद। अ०—संदले अब्यज। अं०—Sandalwood (सॅन्डलवुड)। ले०—*Santalum album, Linn.* (सॅन्टॅलम् ॲल्बम्)। Fam. Santalaceae (सॅन्टॅलेसी)।

यह मैसूर, कुर्ग, कोयम्बटूर एवं मद्रास के दक्षिणी भागों में ४००० फीट की ऊँचाई तक उत्पन्न होता है तथा इसकी उपज भी की जाती है। करीब ६००० वर्ग मील का क्षेत्र इससे व्याप्त है जिसमें से ८५%भाग मैसूर एवं कुर्ग में है। कहीं कहीं वाटिकाओं में भी रोपण करते हैं।

इसका वृक्ष सदाहरित, २०-३० फीट ऊँचा एवं अर्धपराश्रयी स्वरूप का होता है क्योंकि यह दूसरे आस-पास के घास, झाड़ी, क्षुप एवं वृक्षों से कुछ अंशों में पोषक द्रव्यों का शोषण करता है। उद्भेद के कुछ महीने पश्चात् ही इसके मूल आस पास के पेड़-पौधों के मूल में घुस जाते हैं तथा उनसे खाद्य द्रव्यों का शोषण करते हैं। छोटे पौधों को बहुत सावधानी के साथ इतर पोषित (Host) वृक्षों के साथ पुनः रोपण किया जाता है। यदि सावधानी के साथ रोपण न किया जाय और पास २ रोपण किया जाय तो स्पाइक (Spike) नामक रोग से ये बहुत जल्दी नष्ट हो जाते हैं। इसकी छाल-कालापन युक्त भूरे रंग की, अन्तर छाल-लाल, लकड़ी-तैल युक्त दृढ़ और सार भाग-पीलापन युक्त भूरे रंग का तथा सुगन्धित होता है। पत्ते-विपरीत, २-३ इञ्च लम्बे, अंडाकार-लट्वाकार एवं उपपत्र रहित होते हैं। फूल-छोटे, निर्गन्ध, जामुनी रंग के तथा गुच्छों में आते हैं। फल-मांसल, गोल एवं कृष्णाभ बैंगनी रंग के होते हैं। इसका केवल काष्ठसार ही सुगंधित होता है।

कठिन, पहाड़ी तथा लाल भूमि में उत्पन्न वृक्षों में तैल अधिक होता है। उपजाऊ भूमि में तैल की मात्रा कम होती है। इसके वृक्षों को यद्यपि अन्य स्थानों में रोपित करने का प्रयत्न किया गया तथापि उसमें बहुत कम सफलता मिली। इसके वृक्ष १८-२० वर्षों में परिपक्व होते हैं तब तक इसमें काष्ठसार सतह से २ इञ्च अंदर तक विकसित हो जाता है। इस अवस्था में वृक्षों को काटते हैं। बाहर की छाल एवं बाहरी रसकाष्ठ (Sapwood-सॅपवुड) तथा डालियां जो गंधहीन होती हैं उन्हें फेंक दिया जाता है। अंदर के काष्ठसार (Heart wood-हार्टवुड) को करीब २½ फीट लंबे टुकड़ों में काटकर बंद गोदामों में सूखने के लिये रख दिया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि इससे इसकी सुगन्ध और अच्छी हो जाती है। वृक्ष का तिहाई भाग करीब काष्ठसार होता है।

काष्ठसार के टुकड़ों तथा बुरादे से आसवन (Distillation-डिस्टिलेशन) के द्वारा तैल निकालते हैं। इसकी उड़नशीलता कम होने के कारण एवं इसका काष्ठ अधिक सघन होने के कारण तैल बहुत धीरे धीरे निकलता है तथा इसमें व्यय भी अधिक होता है। इसके मूल से भी तैल निकाला जाता है जो काष्ठ की अपेक्षा अधिक मात्रा में एवं अधिक अच्छा होता है। औसतन १ टन (२८ मन) काष्ठ से १०५-११० पौण्ड तैल निकलता है। अधिकांश वृक्षों पर राज्य का अधिकार है तथा बंगलौर एवं मैसूर में इसके तैल निकालने के कारखाने हैं। राज्य को अमेरिका आदि देशों में इसके निर्यात से बहुत आमदनी होती है।

अन्य देशों में कुछ ऐसे वृक्ष पाये गये हैं जिनसे भारतीय चन्दन तैल सदृश तैल प्राप्त होता है लेकिन वह उतना अच्छा नहीं होता। पूर्वी जावा से चन्दन के ही वृक्ष से निकाला हुआ मॅकेस्सर सॅन्डलवुड् ऑइल (Macassar sandalwood oil) आता है लेकिन उसमें भारतीय

तैल जैसी सुगंध नहीं होती। वेस्ट इन्डियन सॅन्डलवुड् ऑइल (West Indian sandalwood oil) यह चंदन के वृक्ष से नहीं निकालते वरन् फ्यूसॅनस् ॲक्यूमिनेटस् (Fusanus acuminatus) से निकालते हैं तथा ईस्ट अफ्रिकन सॅन्डलवुड् ऑइल (East African sandalwood oil) ऑसिरिस् टेनुइफोलिया (Osyris tennuifolia) से निकालते हैं। वेस्ट ऑस्ट्रेलियन् सॅन्डलवुड् ऑइल (West Australian sandalwood oil) यह फ्यूसॅनस् स्पाइकॅटस् (Fusanus spicatus) से निकालते हैं जो कुछ परिवर्तन करने के पश्चात् भारतीय तैल जैसा बन जाता है एवं व्यापार में भारतीय तैल की प्रतिद्वन्द्विता कर सकता है।

चन्दन के भेद—प्राचीन निघण्टुकारों ने चन्दन के कई भेद लिखे हैं। ध. नि. में चन्दन (श्वेतचन्दन), रक्त चन्दन कुचन्दन, कालीयक और वर्बरीक ये पांच प्रकार के चन्दन के भेद लिखे हैं। रा नि. में बेट्ट और सुक्कडि नामक (श्वेत) चन्दन के दो भेद एवं रक्त चन्दन, पतंग (कुचन्दन), कालीयक, वर्बरक तथा हरिचन्दन ये सब मिलाकर ७ प्रकार लिखे हैं। भावप्रकाश में चन्दन, रक्तचन्दन, कालीयक (पीतचन्दन) एवं कुचन्दन (पत्रांग) ये ४ भेद लिखे हैं। ध. नि. ने हरिचन्दन का स्वतन्त्र उल्लेख न करके रक्तचन्दन के पर्याय में हरिचन्दन लिखा है तथा भावप्रकाशकार ने कालीयक (पीतचन्दन) के पर्याय में हरिचन्दन को लिखा है।

श्वेतचन्दन—रा. नि. ने श्वेतचन्दन के दो भेद किये हैं। आर्द्र अवस्था में वृक्ष को काटने पर प्राप्त चन्दन को बेट्ट संज्ञा दी है। अपने आप वृक्ष के सूख जाने पर काटे हुवे चन्दन को सुक्कडि कहा है। कुछ लोगों का मत है कि मलय पर्वत के पास के बेट्ट नामक पर्वत से प्राप्त चन्दन 'बेट्टचन्दन' है। इसी प्रकार 'बर्बर' नामक चन्दन का जो भेद लिखा है वह भी श्वेत ही होता है तथा वह बर्बर नामक पहाड़ पर उत्पन्न होता है। ध. नि. इसे निर्गन्ध एवं रा. नि. सुगन्धि युक्त मानते हैं। श्वेतचन्दन के जो अन्य पर्याय भद्रश्री, तैलपर्ण एवं गोशीर्ष आदि दिये गये हैं वे मलय पर्वत, तिलपर्ण तथा गोशीर्ष पर्वत पर पाये जाने वाले चन्दनों के नाम हैं, ऐसा मानते हैं।

चन्दन के प्रयोग के संबन्ध में लिखा है—'**उक्ते चन्दनशब्दे तु गृह्यते रक्तचन्दनम्। चूर्णस्नेहासवा लेहाः साध्याः धवलचन्दनैः॥ कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्॥**' योग में सामान्य चन्दन शब्द से रक्तचन्दन का ग्रहण करना चाहिये। चूर्ण, तैल, घृतादि, आसव-अरिष्टादि एवं लेह में चन्दन से श्वेत चन्दन का ग्रहण करना चाहिये तथा कषाय स्वरस आदि एवं लेप के लिये रक्तचन्दन का ग्रहण करना चाहिये। चरक के कई गणों में चन्दन का उल्लेख एवं सुश्रुत के कई गणों में चन्दन तथा कुचन्दन का प्रयोग आया है। सालसारादि गण में कालीयक का भी उल्लेख है। डल्हण ने सालसारादिगण एवं पटोलादिगण में कुचन्दन का अर्थ रक्त चन्दन किया है। जब कुचन्दन से रक्त चन्दन एवं चन्दन से भी रक्त चन्दन लिया जावेगा तो दो अलग लिखने का क्या अभिप्राय है? सु० सू० अ० ३८ में प्रियंग्वादिगण में कुचन्दन का अर्थ रक्त चन्दन न करके मलयाद्रि चन्दन किया है तथा चन्दन का अर्थ रक्त चंदन किया है। गुडूच्यादिगण में चन्दन से रक्तचन्दन लिया है। इस प्रकार '**चन्दने रक्तचन्दनम्**' यह उचित नहीं मालूम पड़ता तथा चूर्णादि में श्वेत एवं कषायादि में रक्तचन्दन का प्रयोग भी ऋषि सम्मत नहीं मालूम पड़ता। जिस प्रकार का प्रयोग हो वैसा अर्थ लेना चाहिये। सुगन्धि आदि के लिये श्वेत चन्दन एवं रक्तपित्तादि में रक्त चन्दन का प्रयोग उचित है।

रासायनिक संगठन—इसके काष्ठसार में २·५–६% तक एक उड़नशील तैल, राल एवं टॅनिक एसिड आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

चन्दन का तैल हलके पीले रंग का, गाढ़ा, चिपचिपा, स्वाद में कडवा एवं किंचित् तीता तथा तीव्र विशिष्ट गन्धवाला होता है। यह २०° से. उष्णता पर ५ भाग मद्यसार (७०%) में घुल जाता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ०.९७३—०.९८५ होता है। इस तैल में ९०% तक ॲल्फा-सॅण्टेलॉल एवं बीटा-सॅण्टेलॉल (a-santalol and B-santalol, $C_{15}H_{24}O$) नामक दो समाजिक (Isomeric-आइसोमेरिक्) सेस्क्विटर्पेन् ॲल्कोहोल्स (Sesquiterpene alcohols) पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इस तैल में ॲल्डिहाइड्स (Aldehydes) एवं कीटोन (Ketone) द्रव्य पाये जाते हैं।

इस तैल में देवदार का तैल (Cidarwood oil) १० % तक एवं रेंडी का तेल आदि अन्य तैलों की मिलावट की जाती है जिनकी पहचान इसके भौतिक परिवर्तन से की जा सकती है।

गुण और प्रयोग—श्वेत चन्दन कड़वा, शीतल, रूक्ष, दाहशामक, पिपासाहर, ग्राही, हृदय-संरक्षक, विषघ्न, वर्ण्य, कण्डूघ्न, वृष्य, आह्लादकारक, रक्तप्रसादक, मूत्रल, दुर्गन्धहर एवं अंगमर्द-शामक है।

इसका उपयोग ज्वर, रक्तपित्त, पैत्तिक विकार, तृषा, दाह, वमन, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, रक्तमेह, श्वेतप्रदर, रक्तप्रदर, उष्णवात (सोजाक), रक्तातिसार तथा अनेक चर्मरोगों में किया जाता है।

(१) पित्तज्वर, तीव्रज्वर एवं जीर्णज्वर में चंदन के प्रयोग से दाह एवं तृषा की शांति होती है तथा स्वेद उत्पन्न होकर ज्वर भी कम होता है। ज्वर के कारण हृदय पर जो विषैला परिणाम होता है वह भी इसके देने से नहीं होता।

(२) नारियल के जल में चन्दन घिसकर २ तो० की मात्रा में पिलाने से प्यास कम होती है।

(३) चन्दन को चावल की धोवन में घिस कर मिश्री एवं मधु मिलाकर पिलाने से रक्तातिसार, दाह, तृष्णा एवं प्रमेह आदि में लाभ होता है। इसी प्रकार मूत्रदाह, मूत्राघात, रक्तमेह एवं सोजाक में चन्दन को चावल की धोवन में घिस कर मिश्री मिलाकर पिलाते हैं।

(४) आंवले के रस के साथ चन्दन देने से वमन बंद होता है।

(५) दुर्गंध युक्त श्वेतप्रदर, रक्तप्रदर एवं प्रमेह आदि में चंदन का क्वाथ उपयोगी है।

(६) ग्रीष्मऋतु में शीतल, आह्लाददायक पेय के रूप में चन्दन पानक (शरबत) का उपयोग किया जाता है। इससे आमाशयगत उष्णता कम होती है। हृदय, यकृत तथा आमाशय को बल प्राप्त होता है एवं दाह, तृष्णा शांत होती है।

(७) त्वक् शोथ, विसर्प, फोड़े-फुन्सी, कण्डू, अत्यधिक स्वेद एवं अम्हौरी आदि में चंदन एवं कपूर, गुलाब जल में घिसकर लगाते हैं। ज्वर में शरीर में पीडा हो तब इसको लगाने से लाभ होता है। शिरःशूल में लगाने से शिरःशूल दूर होता है।

चन्दन का तैल—यह उत्तम मूत्रजनन, मूत्रमार्ग के लिये प्रतिदूषक, वृक्कोत्तेजक, त्वग्दोषहर, कृमिघ्न, कफनिःसारक एवं स्नेहन है। इससे वृक्क को कोई नुकसान नहीं होता। इसका उत्सर्ग मूत्रजननेंद्रिय संस्थान तथा फुफ्फुसों द्वारा होता है और उत्सर्ग के समय इनके स्रावों की वृद्धि होती है तथा जीवाणुनाशन भी होता है। सेवन के पश्चात् गले में खुश्की एवं प्यास तथा अधिक मात्रा में शूलवत् वेदना एवं कटिप्रदेश में भारीपन मालूम होता है।

इसका प्रयोग सोजाक, बस्तिशोथ, गवीनीमुखशोथ, जीर्णकास, विषम ज्वर एवं खुजली (पामा) में तथा सुगन्धि के लिये किया जाता है।

(१) नये अथवा पुराने सोजाक में इसको १५–२० बूंद दिन में ३ बार देने से बहुत लाभ होता है। यदि जलन अधिक हो तो ५-१० बूंद हर घंटे पर दें। कोपाइबा (Copaiba) की तरह

इससे मूत्रादि में दुर्गन्ध नहीं आती। इसे पूयस्राव बंद होने के २ हफ्ते बाद तक देना चाहिये जिससे फिर से न हो। इसमें इलायची एवं वंशलोचन के साथ या सोंठ या अजवायन के फांट के साथ भी इसका प्रयोग किया जाता है।

(२) जीर्ण बस्तिशोथ (Cystitis), गवीनीमुख शोथ (Pyelitis-पाइलाइटिस्), बस्ति के राजयक्ष्मा उपसर्ग से यदि बार बार पेशाब होती हो एवं मूत्रकृच्छ्र में इसको बताशे में डालकर दूध के साथ देते हैं। यह क्षारीय मूत्र में ही प्रतिदूषक का कार्य करता है इसलिये साथ में क्षारीय औषधों का प्रयोग आवश्यक है।

(३) दुर्गन्धित कफयुक्त कास में २-३ बूंद बताशे पर डालकर देते हैं।

(४) खुजली (पामा-Scabies) में इसको लगाने से लाभ होता है। कर्णशूल, दंतशूल एवं शोथ आदि पर तथा अनेक चर्मरोगों में इसका स्थानिक उपयोग किया जाता है। नाक पर की फुन्सियों पर दुगुने सरसों के तेल में मिलाकर इसे लगाते हैं।

चन्दन के बीज—पेसरी के रूप में गर्भपात के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २-४ मा०, तैल ५-१५ बूंद।

अथ पीतचन्दनम्। (कलम्बक इति लोके)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कालीयकं[1] तु कालीयं पीताभं हरिचन्दनम्॥ १४॥
हरिप्रियं कालसारं तथा कालानुसार्यकम्। कालीयकं रक्तगुणं विशेषाद् व्यङ्गनाशनम्॥१५॥

पीत चन्दन अर्थात् जिसे लोक में 'कलम्बक' कहते हैं उसके नाम तथा गुण—कालीयक, कालीय, पीताभ, हरिचन्दन, हरिप्रिय, कालसार तथा कालानुसार्यक ये सात पीले चन्दन के संस्कृत नाम हैं। पीलाचन्दन—गुणों में रक्तचन्दन के समान ही होता है किन्तु विशेषता यह है कि यह विशेष रूप से व्यङ्ग (मुख की झाँई) को भी दूर करने वाला होता है॥ १४-१५॥

७ पीतचन्दन

हि०-पीतचन्दन, पीला चन्दन, कलंबक। बं-कलंबा। म०-पिंवळे चन्दन। फा०-संदल अबियज।

नवीन औद्भिदी विज्ञों के अनुसार पीत चन्दन का स्वतन्त्र कोई वृक्ष नहीं पाया जाता। ध० नि० एवं भावप्रकाश में उत्तम श्वेत चन्दन के विषय में लिखा है कि 'कषे पीतम्', अर्थात् घिसने पर जो पीतवर्ण का हो वह उत्तम श्वेत चन्दन होता है। इसी प्रकार ध० नि० में 'मलयोत्थम् पीतकाष्ठम् चतुर्थं हरिचन्दनम्', लिखा है जिससे ज्ञात होता है कि पीतचन्दन मलयपर्वत पर ही होता है। श्वेत चन्दन का उत्पत्ति स्थान भी मलय पर्वत दिया हुआ है। इस प्रकार उत्पत्ति स्थान एवं घिसने पर पीतवर्ण दोनों चन्दनों के एक ही हैं केवल ऊपर से देखने में पीत चन्दन कुछ अधिक पीला तथा श्वेत चन्दन पीताभ श्वेत होता है। इसलिये यदि उत्तम पीतवर्ण के काष्ठसार को पीतचन्दन एवं कुछ श्वेत वर्ण के काष्ठसार को श्वेत चन्दन मान लिया जाय तो पीत चन्दन की संगति लग सकती है।

---

१. कलम्बकं इति पाठा०।

दूसरा द्रव्य जिसके तरफ ध्यान जाता है वह है कलंबा (Calumba)। यह अफ्रीका में होनेवाली एक लता जेटिओहाइझा पामेटा (Jateorhiza palmata Miers; Fam. Menispermaceae) के पीतवर्ण के मूल के टुकड़े हैं जिनका आधुनिक चिकित्सा में तिक्त पौष्टिक एवं दीपन द्रव्य के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह भारत में भी लगाई हुई मिलती है एवं इसका भारतीय प्रतिनिधि है 'झाड की हलदी' (पृष्ठ १२२) जिसको दक्षिण में दारुहरिद्रा के स्थान पर व्यवहार करते हैं। इस भारतीय द्रव्य को सीलोन कलंबा या नकली कलंबा भी कहा जाता है। दारुहरिद्रा के पर्यायों में भी 'कालीयक' आता है। इन बातों से ऐसा आभास होता है कि संभवतः 'झाड़ की हलदी' (नकली कलंबा) या कलंबा पीतचन्दन हो।

अथ रक्तचन्दनम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

रक्तचन्दनमाख्यातं रक्ताङ्गं क्षुद्रचन्दनम्। तिलपर्णं रक्तसारं तत्प्रवालफलं स्मृतम्॥ १६॥
रक्तं शीतं गुरु स्वादुच्छर्दितृष्णाऽस्रपित्तहृत्। तिक्तं नेत्रहितं वृष्यं ज्वरव्रणविषापहम्॥ १७॥

लाल चन्दन के नाम तथा गुण—रक्तचंदन, रक्ताङ्ग, क्षुद्रचंदन, तिलपर्ण, रक्तसार और प्रवालफल ये सब लाल चंदन के संस्कृत नाम हैं। लाल चन्दन—शीतवीर्य, गुरु, स्वादु तथा तिक्त रस युक्त तथा वमन, प्यास और रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है। यह नेत्रों के लिये हितकर, वृष्य और ज्वर, व्रण तथा विष को दूर करने वाला होता है॥ १६-१७॥

८ लालचन्दन

हि०—लाल चंदन, रक्तचंदन। बं, म०—रक्तचंदन। गु०—रतांजली। ते०—रक्तचंदनम्। ता०—शेन् चंदनम्। पं, मा०—लाल चंदन। मला०—रक्तशंदनम्। फा०—संदले सुर्ख। अ०—संदले अहमर। अं०—Red Sanders Wood (रेड सॅण्डर्स वुड); Red Sandal Wood (रेड सॅण्डल वुड)। ले०—*Pterocarpus santalinus, Linn. f.* (प्टेरोकार्पस् सॅन्टॅलिनस्, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह दक्षिण भारत में विशेष कर कुडापा, उत्तर आरकोट, कर्नूल के दक्षिण भाग एवं चिंगलपुट में १५०० फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है। यह दक्षिण भारत तथा फिलीपाइन द्वीपों में नैसर्गिक रूप में उत्पन्न होता है।

इसका **वृक्ष**—२५ फुट तक ऊँचा होता है। **छाल**—कालापन युक्त भूरे रङ्ग की, **लकड़ी**—दृढ़ तथा **काष्ठसार**—अत्यंत कठिन एवं कालापन युक्त लाल रंग का होता है। **पत्ते**—संयुक्त, प्रायः पत्रक तीन, १½-२ इञ्च लम्बे, गोलाई युक्त अंडाकार एवं कुण्ठिताग्र होते हैं। पत्तों के अधोपृष्ठ हलके वर्ण के एवं मृदु रोमश होते हैं। **फूल**—अल्प, पीताभ श्वेत एवं सवृंतकाण्डज गुच्छों में आते हैं। **फलियाँ**—करीब १½ इञ्च व्यासकी, टेढ़ी, आधार की तरफ कम चौड़ी एवं छोटे से डंठल से युक्त होती हैं।

इसके **काष्ठसार** का औषध में व्यवहार किया जाता है। यह गहरे काले से लाल रंग का, अत्यंत कठोर, वजन में भारी एवं रेशेदार होता है। यह लम्बाई में आसानी से टूट जाता है। इसके सफाई से कटे हुये अनुप्रस्थ विच्छेद में (Transverse section) में वार्षिक चक्र (Annual rings) नहीं होते किन्तु गहरे रंग की घन काष्ठतंतुओं (Wood fibres) की स्पर्श समतलीय (Tangential) पट्टियाँ (Bands) होती हैं जो कम चौड़ी, हलके रंग की काष्ठ तंतुमित्तिक (Wood parenchyma) की करीब करीब संतत पट्टियों से एकांतरित रहती हैं। इन

पट्टियों के अन्दर के किनारों पर महावाहिनियाँ (Vessels) दूर-दूर पर विन्यस्त रहती हैं। इन पट्टियों को समकोण में काटती हुई अत्यंत महीन, हलके रंग की मज्जक किरणें (Medullary rays) होती हैं जो १० गुना बड़ा करके ही देखी जा सकती हैं। इसका बुरादा बाजार में मिलता है। इससे मद्यसार का रंग गहरा लाल हो जाता है लेकिन जल में बहुत कम इसका भाग घुलता है। इसमें गन्ध नहीं होती तथा स्वाद कुछ कसैला होता है।

नोट—यद्यपि इसे रक्तचंदन कहा गया है तथापि इसमें चंदन के समान सुगंध नहीं होती। रा. नि. में एक सुगंधि युक्त लालचंदन का उल्लेख 'हरिचंदन' नाम से किया है लेकिन यह भी लिखा है कि यह दिव्य होता है एवं दुर्लभ होता है। कुछ लोगों ने रक्तचंदन से पतंग का ग्रहण किया है क्योंकि वह भी रक्तचंदन से मिलता-जुलता होता है लेकिन वह इस वृक्ष से अलग वृक्ष है जिसका आगे वर्णन दिया गया है। 'निघण्टुआदर्श' में कुचंदन का ले० नाम अॅडेनेन्थेरा पॅहोनिना लिन. (Adenanthera pavonina Linn.) बं०-रक्तकंबल; बम्ब०-थोरलीगुञ्ज, वाल; हि०-बड़ी गुमची, रक्तचंदन लिखकर 'वनौषधि दर्पण' से उद्धृत उसकी टीका में लिखा है कि 'कुचंदन यह रा. नि. का पतंग है जिसका रक्तचंदन के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।' लेकिन पतंग का वृक्ष अलग होता है जिसे सिझलिपिनिआ सप्पन कहते हैं। बड़ी घुमची को रक्तचंदन अथवा पतंग मानना उचित नहीं। इस प्रकार रक्तचंदन एवं पतंग के अलग अलग वृक्ष पाये जाते हैं। केवल रा. नि. का सुगंध युक्त लालचंदन (हरिचंदन) अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है। संभव है वनस्पतियों का व्यापक अनुसंधान होने पर इस विषय का अंतिम निर्णय किया जा सके।

रासायनिक संगठन—इसमें सॅन्टॅलिन् (सॅन्टॅलिक् एसिड) [Santalin (santalic acid)] नामक एक रञ्जक द्रव्य तथा डेस्ऑक्सि सॅण्टलिन् नामक एक अन्य पदार्थ पाया जाता है। सॅन्टॅलिन् से मद्यसारमें रक्त के समान लाल रंग, ईथर में पीला, अमोनिया एवं दाहक क्षार में नीललोहित रंग आता है। यह जल में नहीं घुलता। इसके अतिरिक्त लालचन्दन में प्टेरोकार्पिन (Pterocarpin), होमो-प्टेरोकार्पिन (Homo-pterocarpin) एवं सॅन्टाल् ये तीन रंगहीन रवेदार पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें मद्यसार में घुलनशील पदार्थ २% से कम एवं राख २% से अधिक न होनी चाहिये। इसके मद्यसारीय घोल से इसके रंग को खनिज अम्लों (Mineral acids) के द्वारा निस्सादित (Precipitated) किया जा सकता है।

गुण और प्रयोग—रक्तचन्दन शीतल, बल्य, सौम्य एवं ग्राही है। इसका बाह्य लेप शीतल, शोथघ्न एवं व्रणरोपक है।

इसका प्रयोग पैत्तिक विकार, रक्तदोष, रक्तार्श, रक्तपित्त, अतिसार, संग्रहणी एवं शिरःशूल, शोथ तथा त्वचा के रोगों में किया जाता है। रंजक द्रव्य के रूप में इसका अधिक उपयोग किया जाता है।

(१) शोथ, फोड़े, व्रण, अम्हौरी तथा शिरःशूल में इसको शीतल प्रलेप के रूप में जल में घिसकर लगाते हैं। पलकों की सूजन पर इसे लगाने से सूजन दूर होती है।

(२) ग्राही होने के कारण अन्य औषधों के साथ इसका क्वाथ अतिसार एवं संग्रहणी आदि में प्रयोग किया जाता है।

(३) रक्तार्श में इसे दूध में पीसकर पिलाते हैं एवं जल में घिसकर लेप भी करते हैं।

(४) इसके मद्यसारीय घोल से खनिज अम्लों के द्वारा इसके रंजक द्रव्य को निस्सादित कर लिया जाता है जिसका उपयोग रंजन के लिये करते हैं। कंपाउण्ड टिंक्चर ऑफ् लहेण्डर में इसी का रंग होता है।

मात्रा—४ र०-८ र०।

बड़ी गुमची

Adenanthera pavonina Linn ; Fam. Leguminosae (अॅडेनेन्थेरा पॅहोनिना लिन, लेग्यूमिनोसी)—यह पूर्वी हिमालय तथा पश्चिमी पेनिन्सुला में पाया जाता है। इसके बीजों का प्रयोग फोड़े तथा सूजन आदि पर किया जाता है तथा छाल का उपयोग आमवात एवं रक्तष्ठीवन में किया जाता है।

अथ पतङ्गम् (बकम्)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पतङ्गं रक्तसारञ्च सुरङ्गं रञ्जनं तथा। पट्टरञ्जकमाख्यातं पत्तूरञ्च कुचन्दनम् ॥ १८ ॥
पतङ्गं मधुरं शीतं पित्तश्लेष्मव्रणास्रनुत्। हरिचन्दनवद्वेद्यं विशेषाद्दाहनाशनम् ॥ १९ ॥

पतङ्ग के नाम तथा गुण—पतङ्ग, रक्तसार, सुरङ्ग, रञ्जन, पट्टरञ्जक, पत्तूर और कुचन्दन ये सब पतङ्ग के संस्कृत नाम हैं। पतङ्ग-मधुररस युक्त, शीतवीर्य एवम् पित्त-कफ, व्रण और रक्तदोष को दूर करने वाला होता है। यद्यपि पतङ्ग का गुण पीले चन्दन के समान ही होता है तथापि इसे विशेष करके दाहनाशक समझना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

९ पतङ्ग

हि०-पतङ्ग, बक, बकम काठ, आल। बं०-बकम काष्ठ, बोकोम। म०, गु०-पतङ्ग। ते०-बुक्कपुचेट्टु। ता०-वरतंगि, शप्पङ्गु। मला०-चप्पनम्। फा०, अ०-बकम। अं०-Sappan Wood (सॅप्पन वुड)। ले०-*Caesalpinia sappan Linn.* (सिझल्पिनिया सॅप्पन)। Fam. Caesalpiniaceae (सिझल्पिनिएसी)।

यह पूर्व और पश्चिम प्रायद्वीप एवं मद्रास प्रान्त में अधिक पाया जाता है। बंगाल और बिहार के किसी किसी स्थान में देखने में आता है।

इसका **वृक्ष**-छोटा एवं कांटेदार होता है। लकड़ी-दृढ़, सारभाग-नारङ्गी या चमकीले लाल रङ्ग का होता है। **पत्ते**- संयुक्त, उपपक्ष ८ से १२ जोड़े; **पत्रक**-१० से १८ जोड़े, ¾ इञ्च तक लंबे, आयताकार, न्यूनाधिक विनाल, गोलाग्र एवं मध्य शिरा के दोनों तरफ के भाग असमान होते हैं। **फूल**—किंचित् पीताभ रंग के आते हैं। **फलियां**-चिपटी, ३-४ इञ्च×१½-२ इञ्च बड़ी होती हैं। प्रत्येक में ३-४ बीज होते हैं। इसके **काष्ठसार** का उपयोग किया जाता है। यह लालचन्दन जैसी, फीके लाल रंग की, कड़ी एवं निर्गन्ध होती है। बाजार में सिंगापुरी, धुनसरी और सिलोनी इन तीन नामों से इसकी लकड़ी मिलती है।

रासायनिक संगठन—इसमें सॅप्पन रेड (Sappan red) नामक एक लाल रंग, गॅलिक एवं टॅनिक् एसिड तथा उड़नशील तैल आदि पाये जाते हैं। इसमें का रंग हीमॅटोक्साइलिन (Haematoxylin) से मिलता-जुलता होता है तथा ईथर, मद्यसार एवं जल में घुल जाता है। पतंग का कार्यकारी सत्त्व हीमॅटीन (Haematin) से मिलता-जुलता तथा ब्रॅसिलिन (Brasilin) के समान होता है। इसकी राल में एक रवेदार पदार्थ पाया जाता है जो यदि आस्रुत करके पोटॅश के साथ गलाया जाए तो रीसॉर्सिन (Resorcin) प्राप्त होता है।

गुण और प्रयोग—यह ग्राही, रक्तसंग्राहक, गर्भाशय के लिये उत्तेजक एवं संकोचक, श्लेष्मघ्न एवं व्रणरोपक है।

(१) फुफ्फुस, गर्भाशय एवं आन्त्र आदि स्थानों से रक्तस्राव होने पर इसका क्वाथ पिलाने से लाभ होता है।

(२) पुराने व्रणों पर इसके महीन चूर्ण का अवचूर्णन करने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं तथा स्थानिक रक्तस्राव भी बन्द होता है। इसके क्वाथ की पट्टी रखने से स्थानिक रक्तस्राव रुक जाता है। श्वेत प्रदर में इसके क्वाथ की बस्ति दी जाती है। पतंग एवं बनफ्शा के क्वाथ से मांसार्बुदों का प्रक्षालन करने से पीडा एवं दुर्गन्धि कम हो जाती है। लिचेन (Lichen) नामक त्वग्रोग में इसे पीस कर इसका लेप करते हैं।

मात्रा—१-२ माशा।

अथ सर्वेषां चन्दनानां मध्ये मलयजस्य श्रेष्ठतामाह

चन्दनानि तु सर्वाणि सदृशानि रसादिभिः। गन्धेन तु विशेषोऽस्ति पूर्वः श्रेष्ठतमो गुणैः॥

सभी प्रकार के चन्दनों में मलयागिरी चन्दन की उत्तमता—यद्यपि रसादिकों में प्रायः सभी प्रकार के चन्दन समान ही होते हैं, उनमें विशेषता केवल गन्ध की ही रहती है। तथापि उनमें सर्वप्रथम जो मलयागिरी चंदन है, वही गुणों में सर्वश्रेष्ठ होता है॥ २०॥

अथागुरु कृष्णागुरु च (अगर, काला अगर) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

अगुरु प्रवरं लोहं राजार्हं योगजं तथा। वंशिकं कृमिजं चाऽपि कृमिजग्धमनार्यकम्॥ २१॥
अगुरूष्णं कटु त्वच्यं तिक्तं तीक्ष्णञ्च पित्तलम्। लघु कर्णाक्षिरोगघ्नं शीतवातकफप्रणुत्॥२२॥
कृष्णं गुणाधिकं तत्तु लोहवद्वारि मज्जति। अगुरुप्रभवः स्नेहः कृष्णागुरुसमः स्मृतः॥ २३॥

अगर तथा काले अगर के नाम और गुण एवं अगर के तेल के गुण—अगुरु, प्रवर, लोह, राजार्ह, योगज, वंशिक, कृमिज, कृमिजग्ध और अनार्यक ये सब अगर के संस्कृत नाम हैं।

अगर—उष्णवीर्य, कटु तथा तिक्त रस युक्त, त्वचा के लिये हितकारी, तीक्ष्ण, पित्तजनक, लघु एवम् कान व नेत्र संबंधी रोगों को दूर करने वाला तथा शीत, वात व कफ को नष्ट करने वाला होता है।

काला अगर—यह अगर की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है तथा पानी में डालने से लोहे की भांति डूब जाने वाला होता है।

अगर का तेल—अगर से निकाला हुआ तेल गुणों में काले अगर के समान ही समझा जाता है॥ २१-२३॥

१० अगर

हिं०-अगर, काला अगर। बं०-अगर काष्ठ, अगरु चन्दन। म०, गु०-अगर। पं०-ऊद, ऊदफारसी। क०, ता०, ते०-कृष्णाअगरु। अ०-ऊद खाम। अं०-Eagle-wood (ईगल वुड)। ले०-*Aquilaria agallocha Roxb.* (एक्विलेरिया एगेलोचा राक्स.) Fam. Thymelaeaceae (थाइमेलिएसी)।

यह पूर्व हिमालय, आसाम, भूटान, खासिया पहाड़ एवं सिलहट आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष—बड़ा, ६०-७० फीट ऊँचा, ५-८ फीट व्यास का धारीदार एवं सदाहरित रहता है। काष्ठ—लकड़ी मुलायम, हलकी, लचीली, श्वेत या हलकी पीताभ श्वेत, एवं इसमें कोई विशेष गंध नहीं होती। इसमें वार्षिक वृद्धि के वलय नहीं होते तथा मध्यम या छोटे आकार की ३ से ४ अरीय (Radial) वाहिकाओं (Vessels) की कतारें एवं इनके बीच तन्तुगुच्छों का फ्लोएम (Phloem) रहता है। काष्ठसार अलग नहीं दिखलाई देता। पत्ते—विपरीत, २-४·५×·८-२ इञ्च बड़े, आयताकार भालाकार, या कुछ दीर्घवृत्ताकार, चिकने, तथा बहुत छोटे नाल से युक्त होते हैं। पुष्प—श्वेत रंग के गुच्छों में आते हैं। फल—१·५-२ इञ्च लंबे, अभिअंडाकार एवं मृदु रोमावृत होते हैं।

अगर—यह सुगन्धित द्रव्य पुराने वृक्षों के काष्ठ में कहीं कहीं पाया जाता है। यह एक विशेष प्रकार के फफूंद (Fungi Imperfecti) के द्वारा निर्मित विकृतिजन्य परिणाम है। प्राचीनों ने संभवतः इसीलिये इसे 'कृमिज' कहा है। विकृत भाग कालासा तेलिया हो जाता है। जिस वृक्ष में इस प्रकार परिवर्तन हुआ रहता है उन्हें दूर से देखने से ही पता लग जाता है। जहां शाखाएँ विभक्त होती हैं वहां यह अधिक होता है।

सिलहट का अगर अच्छा होता है। इसमें के तैलीय अंश के अनुसार इसका रंग हलका या गहरा काला होता है। इसके कोमल काष्ठ के छिद्रों में राल जैसा पदार्थ जमा रहता है।

यद्यपि अन्य निघंटुकारों ने इसके कई भेद लिखे हैं तथापि जो अगर देखने में काले रङ्ग का, वजन में भारी, चबाने पर चिपचिपाहट युक्त और पानी में डालने से डूब जाय तथा दियासलाई जला कर लगा देने से जलने लगे वह अगर उत्तम है। इसका स्वाद कड़वा, कसैला तथा तेलिया मालूम होता है। इसमें हलकी मधुर गन्ध होती है जो इसे जलाने पर चारों तरफ फैलती है। सिलहट की तरफ अगर का इत्र बहुत निकाला जाता है। यह निम्न श्रेणी के मुलायम तथा पीताभ श्वेत अगर से निकालते हैं जो करीब ०·७५ से २·५% निकलता है।

नोट—भारतवर्ष में प्राचीन कालसे अगर का उपयोग सुगन्धि, धूप तथा शीतहर प्रलेप[1] के रूप में किया जा रहा है। अगर तिक्त होते हुए भी उष्ण होता है।[2] सुश्रुत इसके तेल को 'दुष्टव्रणशोधन, कृमिकफकुष्ठानिलहर एवं तिक्त, कटु, कषाय मानते हैं (सू. अ. ४५)। सुश्रुत के अनुसार जिसके व्रण में अगरु की गन्ध आती हो उस मनुष्य को मुमूर्षु समझाना चाहिये (सू. अ. २८)। वाग्भट इसे रसायन मानते हैं। धूप तथा अगरबत्ती बनाने में इसका उपयोग किया जाता है। इसकी छाल से आसाम में कागज भी बनाया करते थे।

रासायनिक संगठन—इसमें ईथर में घुलने वाला एक उड़नशील तैल (इत्र) होता है तथा मद्यसार में घुलने वाली एक राल होती है जो ईथर में नहीं घुलती। मद्यसार में ४८% घुलनशील भाग होता है।

गुण और प्रयोग—अगर उष्ण, सुगन्धि, उत्तेजक, वातनाडी संस्थान के लिये उत्तेजक, वाजीकर, श्वास एवं कफ हर, वातानुलोमक, शीत प्रशमन, रसायन एवं त्वक् रोगों में लाभदायक है।

(१) वातरक्त तथा आमवात में इसको देते हैं तथा सन्धिशोथ पर लेप भी करते हैं।

(२) ज्वर में इसका फांट पिलाने से प्यास कम होती है एवं रोगी को स्फूर्ति मालूम पड़ती है।

---

१. रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम्। (च. सू. अ. २५)
२. अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते। (च. सू. अ. २६)

(३) चक्कर आना, अंगघात तथा अन्य वातविकारों में इसको खिलाते हैं एवं बाह्य लेप भी करते हैं।

(४) हिचकी में मधु के साथ इसके चूर्ण को खिलाया जाता है।

(५) अग्निमान्द्य, अरुचि, वमन, अतिसार तथा आंव आदि में इसका चूर्ण खिलाया जाता है।

(६) अगर एवं ईश्वरमूल को पीस कर शिरःशूल में एवं बच्चों की खांसी में छाती पर उसका लेप किया जाता है। इससे खुजली एवं दाह कम होने के कारण रक्त त्वचा (Erythema), त्वक् शोथ, विचर्चिका, गजचर्म एवं फोड़े आदि में इसको जल में घिस कर लगाते हैं। वातिक पीडा में भी इससे लाभ होता है। इससे जूं आदि में भी लाभ होता है।

(७) **अगर का इत्र**—१-२ बूंद इत्र पान पर लगा कर खिलाने से तमकश्वास में आराम मिलता है। वाजीकरण के लिये इसके पुराने इत्र को पान के साथ खिलाते हैं।

मात्रा—चूर्ण ५-१५ र०; इत्र १-२ बूंद।

अथ देवदारु। तस्य नामानि गुणांश्चाह

देवदारु स्मृतं दारुभद्रं दार्विन्द्रदारु च। मस्तदारु द्रुकिलिमं किलिमं सुरभूरुहः॥ २४॥
देवदारु लघु स्निग्धं तिक्तोष्णं कटुपाकि च। विबन्धाध्मानशोथामतन्द्राहिक्काज्वरास्रजित्।
प्रमेहपीनसश्लेष्मकासकण्डूसमीरनुत्॥ २५॥

देवदारु के नाम तथा गुण—देवदारु, दारुभद्र, दारु, इन्द्रदारु, मस्तदारु, द्रुकिलिम, किलिम और सुरभूरुह ये सब देवदारु के संस्कृत नाम हैं। देवदारु-लघु, स्निग्ध, तिक्त रसयुक्त, उष्णवीर्य, विपाक में कटुरसयुक्त, एवम् विबन्ध, आध्मान, शोथ, आम, तन्द्रा, हिचकी, ज्वर, रक्तदोष, प्रमेह, पीनस, कफ, खांसी, खुजली तथा वायु को नष्ट करने वाला होता है॥ २४-२५॥

११ देवदारु

हि०, म०, गु०-देवदार। **बं०**-देवदारु। **पहाड़ी**-केलोन। **ते०**-देवदारि चेट्टु। **पं०**-केलु। **ता०**-देवदारु चेडि। **फा०**-देवदार। **अं०**-Himalayan cedar (हिमालय सिडार); Pinus deodar (पाइनस् देवदार। **ले०**-*Cedrus deodara (Roxb.) Loud.* (सेड्रस् देवदार)। Fam. Pinaceae (पिनेसी)।

पश्चिमोत्तर हिमालय में कुमाऊँ से पूर्व की ओर यह पाया जाता है। जौनसार और गढवाल में ७ से ८॥ हजार फीट के बीच का भाग देवदारु वृक्षमाला का प्रधान उत्पत्ति स्थान है। इसका **वृक्ष**-बहुत विशाल, चिरायु, सुन्दर, १६० से १८० फीट तक ऊँचा तथा कहीं कहीं इससे अधिक ऊँचा होता है। **शाखाएं**-दिगन्तसम फैली हुई परन्तु शाखाग्र कुछ नीचे की ओर झुके हुये रहते हैं। **पत्ते**-त्रिकोण युक्त, सूच्याकार, १-१॥ इञ्च लम्बे, लम्बी टहनियों पर एकाकी और पेचदार क्रम से निकले हुये और छोटी टहनियों पर गुच्छों में निकले हुये रहते हैं। **फल**—शाखाग्रों पर, एकाकी, ४-५ इञ्च लम्बे और ३-४ इञ्च मोटे होते हैं। **बीज**-½ इञ्च तक लम्बे, त्रिकोणाकार या अर्धचन्द्राकार और पक्ष युक्त होते हैं। बीजपत्र लगभग १० होते हैं

देवदार की सुगन्ध युक्त लकड़ी (काष्ठसार) पीताभ बादामी रंग की तथा तैल से भरी होती है। लकडी को जलाकर एक तैल निकालते हैं जिसे केलोन का तेल कहा जाता है। यह तैल बहुत पतला होता है।

औषध में काष्ठसार, तैल, पत्र एवं कोमल शाखाओं का व्यवहार किया जाता है। दक्षिण तथा गुजरात की तरफ देवदार नाम से सरल (चीड़ की) की लकड़ी बिकती है।

नोट—चरक एवं सुश्रुत में इसका अनेक रोगों में उपयोग किया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें केलोन का तैल नामक एक तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—देवदार स्वेदजनन, मूत्रजनन, वातानुलोमक, वात-कफहर एवं त्वग्दोषहर है। इसका तैल टर्पेण्टाइन के समान गुण वाला होता है लेकिन उससे यह कुछ न्यून गुण वाला है।

देवदार का प्रयोग ज्वर, जीर्ण आमवात, शिरःशूल, श्लीपद, जलोदर, कास, श्वास, अतिसार, वातिक विकार, शोथ, अश्मरी तथा व्रण में किया जाता है। इसके तैल का प्रयोग कुष्ठ, कफ, कास एवं त्वचा के रोगों में किया जाता है।

(१) ज्वर में इसको देने से काफी पसीना निकलता है तथा मूत्र की मात्रा भी बढ़ती है। ज्वर चाहे शोथ से हो या कफजन्य हो इसके प्रयोग से शोथ कम होता है तथा कफ की दुर्गंध दूर होकर कफ कम होता है।

(२) जलोदर में देवदार, सहिजन की छाल तथा अपामार्ग प्रत्येक ½ तो० गोमूत्र में पीसकर देने से मूत्र द्वारा जल निकल जाता है तथा रोगी को स्फूर्ति मालूम पड़ती है।

(३) सोजाक, फिरंग, वातरक्त एवं आमवात में देवदार्वादि क्वाथ का रसायन के रूप में प्रयोग करते हैं।

(४) श्लीपद में इसको सरसों के तैल के साथ खिलाते हैं तथा चित्रक के साथ गोमूत्र में पीस कर लगाते हैं।

(५) वातिक हृद्रोग में देवदार एवं सोंठ को पीसकर पिलाने से हृदय की धड़कन तथा शूल आदि दूर होते हैं।

(६) हिक्का तथा श्वास में इसका क्वाथ पीने से लाभ होता है।

(७) शिरःशूल में इसे जल में घिस कर कपाल पर लगाते हैं। पुराने शोथ पर हल्दी एवं गुग्गुलु के साथ इसका लेप किया जाता है।

(८) इसका तैल-कुष्ठ में बहुत लाभदायक माना जाता है। इसको अधिक मात्रा में देना पड़ता है। जीर्ण त्वचा के रोगों में इसको खिलाते है तथा बाह्य लगाते भी हैं। इससे पुराने तथा दुर्गन्ध युक्त व्रण अच्छे हो जाते हैं। कर्णशूल में इसका तैल डालने से आराम मिलता है। कफज कास में त्रिकटु एवं यवक्षार के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ३-६ माशा; तैल १०-४० बूंद।

अथ सरलः (धूप)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

सरलः पीतवृक्षः स्यात्तथा सुरभिदारुकः। सरलो मधुरस्तिक्तो कटुपाकरसो लघुः॥ २६॥
स्निग्धोष्णः कर्णकण्ठाक्षिरोगरक्षोहरः स्मृतः। कफानिलस्वेददाहकासमूर्च्छाव्रणापहः॥ २७॥

सरल (धूप) अर्थात् चीडके नाम तथा गुण—सरल, पीतवृक्ष और सुरभिदारुक ये सब संस्कृत नाम चीडके हैं। चीड-मधुर तथा तिक्तरस युक्त, विपाक में कटुरस युक्त, लघु, स्निग्ध तथा उष्ण वीर्य होता है एवम् कर्ण, कण्ठ तथा नेत्र सम्बन्धी रोग, रक्षोग्रह, कफ, वायु, स्वेद (पसीना), दाह, खाँसी, मूर्च्छा तथा व्रण को दूर करने वाला होता है॥ २६-२७॥

१२ धूप सरल।

हि०—धूप सरल, चिर, चीढ, चीड। **बं०**—सरलगाछ, तार्पीन तैलेर गाछ। **म०**—सरल। **गु०**—सरल देवदार, तेलियो देवदार। **ता०**—शिरसाल। **नेपा०**—धूप सल्सी। **अ०**—शज्रतुल् बक, सनोबर हिन्दी। **फा०**—दरख्ते वसक। **अं०**—Long-leaved Pine (लॉंग लीव्ह्ड पाइन); Chir Pine (चीर पाइन)। **ले०**—*Pinus longifolia Roxb.* (पाइनस् लॉंगिफोलिया रॉक्स.)। Fam. Pinaceae (पिनॅसी)।

इसके वृक्ष हिमालय में अफगानिस्तान से लेकर काश्मीर, पञ्जाब, उत्तर प्रदेश, भूटान तथा आसाम एवं बर्मा में २०००-६००० फीट की ऊंचाई तक प्रायः समूहबद्ध होकर उगे हुए पाये जाते हैं। इसकी ४, ५ जातियाँ भारतवर्ष में पाई जाती हैं जिनमें से पा. एक्सेल्सा वाल. (P. excelsa Wall.) तथा पा. खास्या रायली (P. khasya Royle) मुख्य हैं।

चीड के प्रकाशप्रिय विशाल वृक्ष बहुत सीधे (सरल) तथा १००-१५० फीट ऊंचे होते हैं। **स्तम्भ**—सीधा, गोल एवं घेरा ५-७ फीट या १२ फीट तक होता है। **छाल**—खुरदरी, ऊंची नीची, गढेदार एवं १-२ इञ्च मोटी होती है। **काष्ठ**—स्निग्ध तथा तीक्ष्णगन्धी होता है। **पत्ते**—छोटी छोटी टहनियों के अन्त में ९-१२ इञ्च लम्बे, पतले, कुछ कुछ त्रिकोणयुक्त, हलके हरे रंग के एवं तीन तीन के समूह में पाये जाते हैं। माघ से चैत्र तक फूलों के गुच्छे लगते हैं। एक वर्ष के उपरान्त में इसके फल या ढोडे पकते हैं। नरमञ्जरी प्रायः ½ इञ्च लम्बी और सामूहिक शंकाकार फल (Cone) एकाकी अथवा ३-५ तक एक साथ रहते हैं जिनमें प्रत्येक ४-८ इञ्च लम्बा और ३-५ इञ्च मोटा लट्वाकार होता है। बीजवाहक पत्रों का अग्र मुड़ा हुआ, मोटा, प्रायः एक तीक्ष्ण काले नोक और पृष्ठ पर ४-५ कोणों से युक्त होता है। चैत्र वैशाख में फल फट जाते हैं जिनमें से बीज निकलते हैं तथा फल वृक्ष पर ही लगे रहते हैं। बीज ½ इञ्च से कुछ कम लम्बा, चिपटा, पंखयुक्त (पंख बीज से बड़ा और पतला) और ऊपर से भालाकार होता है।

पा० एक्सेल्सा (चील या कैल) नामक इसकी उपजाति ६-१० हजार फीट के बीच उत्तरप्रदेश एवं पञ्जाब में पाई जाती है। इसके पत्ते नीलहरित और ५-६ तक प्रतिगुच्छे में होते हैं। सामूहिक फल लम्बगोल होते हैं और बीजवाहक पत्रों के अग्र बहुत मोटे नहीं होते।

रासायनिक संगठन—इसके बहिःकाष्ठ (Sapwood) से सहज अथवा क्षत करने से एक प्रकार का तेलिया निर्यास निकल कर जम जाता है जिसे **गन्धाबिरोजा** कहते हैं। पहले यह सफेद कुछ पतला और गाढ़ा होता है। इसके बाद उत्तरोत्तर अधिक गाढ़ा एवं पीला फिर गहरा पीला हो जाता है। यह चिपचिपा, मुलायम तथा उग्रगन्धयुक्त होता है। पा० एक्सेल्सा में निर्यास कम निकलता है पर अधिक अच्छा होता है।

गन्धाबिरोजा को बिना जल के ऊर्ध्वनलिका यन्त्र में गरम करके एक गाढ़ा तथा लाल रंग का तैल निकालते हैं जिसे **खन्नुतेल** या (पं०) **सतबिरोजा** कहते हैं। इसमें गन्धाबिरोजा की गन्ध रहती है।

बिरोजे का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने के लिये निम्नलिखित विधि से शुद्ध किये हुये बिरोजे का व्यवहार करना चाहिये। समभाग दूध और जल भरे हुवे पात्र पर कपड़ा बांध, उस पर गन्धाबिरोजा डाल कर नीचे आंच देते हैं, जिससे बिरोजा कपड़े से टपक कर नीचे के पात्र में जम जाता जाता है। इसको निकाल कर सुखा कर रख लें।

गन्धाबिरोजा को बाष्प के साथ ऊर्ध्व नलिका यन्त्र द्वारा गरम करने से एक रंगहीन तैल प्राप्त होता है जिसे **तारपीन का तेल** (Turpentine oil) कहते हैं। ५६ पौंड गन्धाबिरोजा से ८ पौंड तैल निकलता है। तैल निकालने के बाद जो अवशेष रह जाता है उसे डाक्टरी में **रेजिन या कोलोफोनि** (Resin, Colophony) कहा जाता है। इसे छान कर उबलते हुये जल के साथ कढ़ाई में डाल कर घोटते हैं। जिससे एक काला सा मधु के समान गाढ़ा पदार्थ तैयार होता है जिसे **गन्धाबिरोजा का डामर** कहते हैं। यह युरोपीय **बरगंडी** पिच के समान होता है। यहां पर सरल (चीड़) वृक्ष के गुण और प्रयोग दिये जा रहे हैं। आगे 'सरलनिर्यास' के अन्तर्गत गन्धाबिरोजा तथा तारपीन के तैल आदि के गुण और प्रयोग दिये गये हैं।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, दुर्गन्धहर, उत्तेजक, दीपन, वातानुलोमक, स्वेदल, मूत्रल, प्रतिदूषक एवं कफहर है।

इसका आन्तरिक उपयोग अन्य औषधों के साथ क्वाथ के रूप में दाह, कास, मूर्च्छा, आध्मान, अङ्गघात आदि वातिक व्याधियों, अश्मरी, कफज्वर, कृमि, श्लेष्मातिसार एवं वातज हिक्का में किया जाता है।

इसका लेप व्रण, शोथ, कंठमाला, जन्तुओं के दंश, त्वचा के अनेक विकार एवं वातव्याधियों में किया जाता है। व्रण में इसकी छाल का धूआं दिया जाता है। इसकी लकड़ी को कपड़ा लपेट कर तथा घृत में डुबोकर जलाते हैं तथा जो तैल टपकता है उसे कान में डालने से कर्णशूल दूर होता है। व्रणरोपण तैलों में इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—३ माशा।

अथ तगरं पिण्डतगरं च तयोर्नामानि गुणांश्चाह

कालानुसार्यं तगरं कुटिलं नहुषं नतम्। अपरं पिण्डतगरं दण्डहस्ती च बर्हिणम्॥ २८॥
तगरद्वयमुष्णं स्यात्स्वादु स्निग्धं लघु स्मृतम्। विषापस्मारशूलाक्षिरोगदोषत्रयापहम्॥२९॥

अब तगर तथा तगर भेद एवम् दोनों के नाम और गुण—तगर दो प्रकार का होता है उसमें प्रथम प्रकार के तगर के—कालानुसार्य, तगर, कुटिल, नहुष और नत ये सब संस्कृत नाम हैं। दूसरे प्रकार के तगर के—पिण्डतगर, दण्डहस्ती और बर्हिण ये सब संस्कृत नाम हैं। दोनों प्रकार के तगर—उष्णवीर्य स्वादिष्ट, स्निग्ध तथा लघु होते हैं। यह विष, अपस्मार (मिर्गीरोग), शूल, नेत्ररोग तथा त्रिदोष को दूर करने वाले होते हैं॥ २८-२९॥

१३ तगर।

हि०—तगर, सुगन्ध बाला, मुश्क बाला। **बं०**—तगर पादुका, शुमियो, असारून। **म०**—तगर गण्ठोडा, तगरमूल। **गु०**—तगर गण्ठोडा। **फा०**—असारून। **उर्दु**—रिशवाल। **पं०**—बालमुश्क, मुश्कवली। **अं**—Indian Valerian Rhizome (इण्डियन वेलेरियन राइजोम)।

ले०-*Valeriana wallichii* DC. (वॅलेरिआना वालिशिआइ)। Fam. Valerianaceae (वॅलेरिॲनेसी)।

तगर क्या है इसके सम्बन्ध में पहले मतभेद था। कुछ लोग श्वेत पुष्पवाले एक छोटे वृक्ष टेबर्नी मोर्न्टना कोरोनेरिया (Tabernae montana coronaria R. Br.), हि०- चांदनी के मूल को तगर मानते थे। कहीं कहीं श्यामवर्ण की चंदन जैसी वजनदार लकड़ी बिकती है। बंगाल में कोई जल में उत्पन्न होने वाली घास तथा पंजाब में कोई पीले काष्ठ आदि का व्यवहार किया जाता रहा। लेकिन अब निर्विवाद रूप से यह सिद्ध हो गया है कि ऊपर लिखे हुवे वेलेरिआना वालिशिआइ का मूलस्तम्भ (मूल) ही तगर है। बाजार में यह 'सुगन्ध बाला' के नाम से बिकता है तथा इसे वैद्य 'बालकम् या ह्रीवेर' के स्थान पर प्रयोग करते रहे हैं। वास्तव में यह सुगन्धबाला नहीं है। बालक या ह्रीवेर (सुगन्धबाला) का स्वतन्त्र वर्णन आगे दिया हुआ है। बाजार में 'तगर' नाम से जो द्रव्य बिकता है वह कोई निर्गन्ध काष्ठ है और किसी सुगन्धित द्रव्य के साथ रख कर गन्धयुक्त बना दिया जाता है।

भारतीय तगर-पाश्चात्य चिकित्सा में व्यवहार में लाये जाने वाले विदेशी वॅलेरियन, वॅलेरिआना ऑफिसिनॅलिस् लिन. (Valeriana officinalis Linn.) के स्थान में उत्तम प्रतिनिधि माना जाता है। यद्यपि भारतीय तगर अपने यहां पर्याप्त होता है तथापि व्यापारी तगर अधिकतर अफगानिस्तान से निर्यात किया हुआ रहता है। भारत में विदेशी तगर (वे० ऑफिसिनॅलिस्) बहुत थोड़ी मात्रा में काश्मीर के उत्तर में सोनमर्ग स्थान पर ८ से ९ हजार फीट की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसकी अन्य उपजाति वे० हार्डविकाई वाल. (V. hardwickii Wall.) भी वे० वालिचिआइ के साथ पाई जाती है। बाजार में इस तगर को सुगन्धबाला एवं असारुन नाम से लोग बेचते हैं। श्री ठा० दलजीतसिंहजी द्वारा लिखित यूनानी द्रव्यगुण विज्ञान में असारुन का ले० नाम असारुम् युरोपियम लिन., एरिस्टोलोकिएसी (Asarum europaeum Linn.; Fam. Aristolochiaceae) लिखा हुआ है। स्वरूपादि का वर्णन भी उसी का (अ० युरोपियम्) मालूम पड़ता है लेकिन गुण धर्म जो लिखे हैं वे तगर (वेलेरियन) से मिलते लिखे हैं। इन्होंने इसका एक प्रतिनिधि भारतीय भेद माना है जिसको 'तुग्गुर' नाम दिया है। डा० देसाई ने तगर (वेलेरिआना वालिचिआइ) एवं असरून (अ० युरोपिअम्) का अलग अलग वर्णन किया है तथा दोनों के गुण धर्म भी अलग लिखे हैं। डा० देसाई ने असरुन को वामक, शिरोविरेचक, स्वेदजनन, कफघ्न, स्रंसन एवं शोथघ्न लिखा है जो तगर से भिन्न हैं। इसके परिचय में लिखा है कि असरुन की जड़ में मिरिच जैसी गन्ध तथा स्वाद कटु (तीता) होता है तथा इसके पंचांग के चूर्ण को सूंघने से छींक आती है। तगर का स्वाद कडवा एवं गन्ध अलग प्रकार की होती है। डा० चोपरा भी डा० देसाई के मत से सहमत हैं। डा० देसाई ने यह स्पष्ट लिखा है कि असरून के समान ही दिखलाई देने वाली लेकिन गुणों में भिन्न एक दूसरी वनस्पति है जिसको तुग्गुर कहते हैं तथा उसका लोग असरुन के स्थान पर व्यवहार करते हैं। इस दृष्टि से बाजार में सुगन्धवाला के नाम से बिकने वाला द्रव्य असली तगर (वेलेरिअन) है एवं इसे असारुन नाम देना या असारुन के स्थान पर प्रयोग करना उचित नहीं है। असारुन अलग द्रव्य है। इसी प्रकार सुगन्धवाला भी अलग द्रव्य है। बाजार में तगर नाम से बिकने वाले कृष्ण वर्ण के काष्ठ चूर्ण आदि को भी तगर नहीं मानना चाहिये।

इसके **क्षुप** हिमालय पहाड़ के साधारण भाग में काश्मीर से भूटान तक ४ से १२ हजार फीट की ऊंचाई पर तथा खासिया के पहाड़ों पर ४ से ६ हजार फीट की ऊंचाई पर बहुत पाये जाते हैं।

इसका **क्षुप** (Herb)-किञ्चित रोमश एवं बहुवर्षायु होता है। **मूलस्तम्भ**-मोटा, अधोगामी मोटे तन्तुओंसे युक्त एवं जमीन में दिगन्तसम फैला रहता है। **काण्ड**-१५-४५ से. मी. ऊंचे एवं प्रायः गुच्छेदार होते हैं। **पत्ते**-आधारीय पत्र प्रायः २॥-७॥ से. मी. व्यास में, लम्बे नाल से युक्त, लट्वाकार, आधार पर गहरे ताम्बूलाकार, तीक्ष्णाग्र तथा धारयुक्त दन्तुर या लहरदार होते हैं। काण्डपत्र संख्या में थोड़े, बहुत छोटे एवं अखंड या खंडित होते हैं। **फूल**-श्वेत रंग के या कुछ कुछ गुलाबी होते हैं और समशिख क्रम से शाखाओं पर पाये जाते हैं। ये प्रायः एकलिंगी होते हैं तथा पुंपुष्प एवं स्त्रीपुष्प अलग-अलग क्षुपों पर होते हैं। **वृन्तपत्रक** (Bracteoles)-फल के इतने लम्बे, आयताकार-रेखाकार होते हैं। **बाह्यकोश**-पुष्पित होते समय बाह्यदल के खंड क्वचित् व्यक्त लेकिन बाद में करीब १२, रेखाकार, रोमयुक्त खण्डों में दिखलाई देते हैं। **आभ्यन्तर कोश**-यह कुप्पी के आकार का, पांच खण्डों से युक्त तथा फैला हुआ होता है। **पुंकेशर**-संख्या में ३ होते हैं। **स्त्रीकेशरी**-कुक्षिवृन्त पतला, अविभाजित तथा कुक्षि अग्र में स्थित रहती है। **अंडाशय**-३ गह्वरों वाला होता है। **फल**-रोमश या करीब-करीब रोमहीन होते हैं।

इसके मूल तथा मूलस्तम्भ का व्यवहार औषध में किया जाता है। मूलस्तम्भ के अत्यन्त गांठदार, टेढ़े मेढ़े, खुरदरे, हलके पीताभ बादामी (Dull yellowish-brown) रंग के, ४-८ से. मी लम्बे तथा ५-१० मि. मी. मोटे टुकड़े होते हैं। यह कुछ चिपटे से होते हैं। इनके ऊपरी पृष्ठ पर अनेक टूटे हुवे पत्तों के निशान तथा अधोपृष्ठ पर टूटे हुवे मूल के निशान रहते हैं तथा अधोपृष्ठ से कुछ मोटे मूल निकले हुवे रहते हैं। इसका **भग्न**-छोटा तथा कंटकित होता है। इसका स्पष्ट अनुप्रस्थ (Trausverse) विच्छेद करके देखने से गहरे रंग का बाह्यक (Cortex), मज्जक (Pith), एधा (Cambium) की स्पष्ट रेखा एवं चौड़े मज्जक किरणों (Medullary rays) से पृथक् किये हुवे १२ १५ छोटे हलके रंग के दारुपूलों (Xylem bundles) का वर्तुल आदि भाग दिखलाई देते हैं। इसके **मूल** बहुत से, ६-७ मि. मी. लम्बे एवं १-२ मि. मी. मोटे या कभी-कभी नहीं भी रहते। इसके अन्दर का भाग हलके वर्ण का काष्ठमय एवं छाल गहरे रंग की होती है। तगर में एक विशिष्ट उग्र गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कड़वा होता है।

रासायनिक संगठन—भारतीय वेलेरियन (तगर) में एक उड़नशील तैल ०·५-२·१२% पाया जाता है। वसन्त ऋतु में संग्रहीत ताजे मूल में इसकी अधिकतम मात्रा होती है। इस तैल में प्रधानतया सेस्क्विटर्पेन् (Sesquiterpenes), वेलेरिक् एसिड (Valerio acid) एवं टर्पेन अल्कोहोल (Terpene alcohols) स्वतन्त्र या ईस्टर के रूप में संयुक्त अवस्था में पाये जाते हैं। इस तैल के अतिरिक्त इसमें ॲराचिडिक् एसिड (Arachidic acid), हेन्ट्रियाकोन्टेन (Hentriacontane) तथा स्नेहीय अम्लों के मिश्रण रहते हैं। ताजे मूल में जल में घुलनशील कार्यकारी पदार्थ अल्प मात्रा में पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह वातहर, उद्वेष्टननिरोधी, रक्ताभिसरण एवं वातनाड़ी तन्तुओं के लिये उत्तेजक, चेतनाकारक, स्वापजनक, वातानुलोमक, केन्द्रीय वातनाड़ीसंस्थान के लिये अवसादक एवं स्थानिक वेदनास्थापक तथा व्रणरोपक है। अल्प मात्रा में देने से अन्य सुगन्धित तैलों की तरह इससे आमाशयोर्ध्वप्रदेश में उष्णता मालूम होती है, नाडी की गति बढ़ती है तथा कुछ मानसिक उत्तेजना होती है। इससे सांवेदनिक नाडियों के अग्र में बधिरता उत्पन्न होती है। अधिक मात्रा में इसको देने से चक्कर आने लगते हैं, हिचकी आती है, वमन होता है, एवं हृदयावसाद होता है।

(१) अपतन्त्रक, अतत्वाभिनिवेश (Hypochondriasis—हाइपोकॉण्ड्रियासिस्), अशान्ति तथा इसी प्रकार की मानसिक व्यथाओं में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। इसके साथ यशद-भस्म का उपयोग भी किया जाता है। इसका यह प्रभाव संभवतः इसके अरुचिकारक स्वाद एवं उग्र गन्ध के कारण होता है। कंपवात में भी कभी-कभी इसका उपयोग किया जाता है।

(२) जीर्ण ज्वर के कारण जब हृदय तथा सम्पूर्ण शरीर में शिथिलता आई रहती है तथा त्रिदोष की तीव्रता रहती है तब इसके देने से हृदय को बल मिलता है एवं प्रलाप, अस्वस्थता आदि दूर होकर रोगी को चेतना आती है। बेहोशी एवं हृदय की धड़कन में इसका तैल २-५ बूंद की मात्रा में गोंद के साथ मिलाकर दालचीनी के फांट के साथ देते हैं।

(३) यह वातानुलोमक होने के कारण आध्मान आदि में इससे लाभ होता है।

(४) कुकास, तमकश्वास, जीर्णविबन्ध, पीडायुक्त व्रण, घाव, अस्थिभग्न एवं तीव्र आमवात में शोथयुक्त संधिशूल कम करने के लिये इसके फांट का उपयोग करते हैं।

(५) वातनाड़ी संस्थान के रोगों के कारण उत्पन्न मधुमेह तथा बहुमूत्र में इसके साथ सूक्ष्म मात्रा में अफीम का प्रयोग किया जाता है।

(६) विषम ज्वर में मनःशिला, यशदभस्म, तगर, भांग या अफीम को पान के रस के साथ गोली बनाकर देते हैं जिससे ज्वर के कारण उत्पन्न मानसिक तथा शारीरिक थकावट कम होती है। शीत ज्वर में पारी न आकर केवल शिरःशूल या उदरशूल हो तो तगर एवं यशदभस्म को देते हैं।

मात्रा—चूर्ण २-८ र०।

अथ पद्मकम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पद्मकं पद्मगन्धि स्यात्तथा पद्माह्वयं स्मृतम्। पद्मकं तुवरं तिक्तं शीतलं वातलं लघु॥ ३०॥
वीसर्पदाहविस्फोटकुष्ठश्लेष्मास्रपित्तनुत्। गर्भसंस्थापनं रुच्यं[1] वमिव्रणतृषाप्रणुत्॥ ३१॥

पद्माख के नाम तथा गुण—पद्मक, पद्मगन्धि तथा पद्माह्वय (कमल के पर्याय वाचक समस्त शब्द) ये सब पद्माख के संस्कृत नाम हैं। पद्माख—कषाय तथा तिक्तरस युक्त, शीतवीर्य, वात-जनक तथा लघु होता है एवं विसर्प, दाह, विस्फोट, कुष्ठ, कफ और रक्तपित्त को दूर करता है। यह गर्भ का स्थापन करने वाला, रुचिकारक एवं वमन, व्रण तथा तृषा को दूर करने वाला होता है॥ ३०-३१॥

१४ पद्माख

हि०—पद्माक, पद्माख, पदुम काठ, फाजा। **बं०**—पद्म काष्ठ। **म०**—पद्म काष्ठ, पद्मक। **गु०**—पद्मकनुं लाकडुं, पद्मकाष्ठ। **क०**—पद्मक। **पं०**—चमिअरी। **लिपचा०**—कोंगकी। **अं०**—Mild Himalaya Cherry (माइल्ड हिमालय चेरी)। **ले०**—*Prunus puddum Roxb. ex Wall.* (प्रूनस् पड्डुम्, राक्सब्.)। Fam. Rosaceae (रोझॅसी)।

यह गरम हिमालय में शिमला, गढ़वाल से सिकम और भूटान तक एवं दक्षिण में कुडाई-कनाल और उटकमंड में पाया जाता है।

---

१. 'वृष्यमिति पाठा०।

इसका वृक्ष मध्यमाकार का अचिरस्थायी होता है। **छाल**—फीके भूरे रङ्ग की या कालापन युक्त भूरे रङ्ग की और चमकीली होती है। इससे पतली चमकीली पपड़ियां छूटती रहती हैं। काष्ठसार रक्ताभ तथा सुगन्ध युक्त होता है। **पत्ते**—३-५ इञ्च लम्बे, १-१॥ इञ्च चौड़े, भालाकार लट्वाकार, लम्बे नोकवाले, चिकने और दोहरे दांतों वाले होते हैं। **फूल**—सफेद गुलाबी या लाल रङ्ग के आते हैं और पतझड़ के बाद नवीन पत्ते निकलने के पहले ही खिल जाते हैं। **फल**—छोटे छोटे गोलाकार या अंडाकार होते हैं और वे पीले या गुलाबी रङ्ग के दिखाई पड़ते हैं। इन फलों को लोग खाते हैं तथा इनसे एक प्रकार का मद्य बनाते हैं।

बाजार में पद्मकाष्ठ के कांड के टुकड़े बिकते हैं। ये वजन में भारी तथा इनके छाल का वर्ण कृष्ण-रक्त रहता है। छाल पर आडी खांचे रहती हैं। इसे हाथ से रगड़ने से आल्हादकारक तथा मृदु सुगन्ध आती है। इनके भीतर का भाग रक्तपीताभ श्वेतवर्ण का होता है।

पद्मकाष्ठ हमेशा नया काम में लाना चाहिये क्योंकि कालान्तर से उसका औषधधर्म नष्ट हो जाता है। पद्माख का क्वाथ बनाकर प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इसे उबालने के इसका सत्व उड़ जाता है। इसका हमेशा गुनगुने जल में फांट बनाकर प्रयोग करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एक अत्यन्त **विषैला द्रव्य** हाइड्रोसायेनिक एसिड् (Hydrocyanic acid) तथा ॲमिग्डॅलिन् (Amygdalin) इत्यादि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—पद्माख शीतल, रक्तस्तम्भक, तिक्तपौष्टिक, छर्दिनिग्रहण, स्तम्भन, वेदना-स्थापक, वर्ण्य, गर्भस्थैर्यकर एवं ज्वरहर है। इसका वेदनाहर गुण इसके विषैले सत्व में है तथा स्तम्भन एवं तिक्तपौष्टिक गुण काष्ठ में है। इसके विषैले सत्व की क्रिया सम्पूर्ण शरीर पर एवं विशेषकर जीवनीय केन्द्र स्थान पर शामक रूप में होती है।

(१) अपचन के कारण आमाशय की श्लेष्मल त्वचा में शोथ होकर वमन एवं अतिसार होने पर तथा आमाशय के व्रण में इसको दिया जाता है। इससे व्रण की वेदना कम होती है तथा स्तम्भन गुण के कारण अतिसार तथा वमन में लाभ होता है। इसके फांट से भी वमन तथा हृल्लास में लाभ होता है।

(२) श्वसनकेन्द्र के ऊपर इसके शामक प्रभाव के कारण शुष्क कास एवं क्षयज प्रस्वेद कम हो जाता है। हिक्का एवं श्वास में इसको मधु के साथ चटाते हैं।

(३) हृदय के केन्द्रस्थान के शमन के कारण हृदय की धड़कन तथा हृदय के वामपटल रोग से रक्त का पीछे बहना (Mitral regurgitation) एवं हृदय पर मेद संचित होकर एक प्रकार की जो खांसी होती है उसमें यह गुणकारक है।

(४) रक्तपित्त में चन्दन, शर्करा एवं तंडुल जल के साथ इसको देते हैं।

(५) गर्भपात रोकने के लिये इसे जल में घिस कर पिलाते हैं। चरक एवं सुश्रुत ने इसे गर्भस्थैर्यकर नहीं माना है।

(६) जननेन्द्रिय की शुष्क कण्डू में इसे शीतल जल में घिसकर लगाते हैं। शुष्क कण्डू युक्त त्वचा के रोगों में इसके लेप से त्वचा शुद्ध होकर कान्ति बढ़ती है।

मात्रा—५-१५ र०। इसमें तीव्र विषैला द्रव्य होने के कारण भली प्रकार विचार करके इसका प्रयोग करें।

अथ गुग्गुलुः । तस्य नामान्याह

गुग्गुलुर्देवधूपश्च जटायुः कौशिकः पुरः । कुम्भोलूखलकं क्लीबे महिषाक्षः पलङ्कषः ॥ ३२ ॥

गूगल के नाम—गुग्गुलु, देवधूप, जटायु, कौशिक, पुर, कुम्भोलूखलक (नपुंसकलिङ्ग), महिषाक्ष और पलङ्कष ये सब गूगल के संस्कृत नाम हैं ॥ ३२ ॥

गुग्गुलुभेदानाह

महिषाक्षो महानीलः कुमुदः पद्म इत्यपि । हिरण्यः पञ्चमो ज्ञेयो गुग्गुलोः पञ्च जातयः ॥३३॥

गूगल के भेद—१ महिषाक्ष, २ महानील, ३ कुमुद, ४ पद्म, ५ हिरण्य इस प्रकार से गूगल के ५ पांच भेद जानना चाहिये ॥ ३३ ॥

तेषां लक्षणानि गुणांश्चाह

भृङ्गाञ्जनसवर्णस्तु महिषाक्ष इति स्मृतः । महानीलस्तु विज्ञेयः स्वनामसमलक्षणः ॥ ३४ ॥
कुमुदः कुमुदाभः स्यात्पद्मो माणिक्यसन्निभः । हिरण्याख्यस्तु[1] हेमाभः पञ्चानां लिङ्गमीरितम् ॥
महिषाक्षो महानीलो गजेन्द्राणां हितावुभौ । हयानां कुमुदः पद्मः स्वस्त्यारोग्यकरौ परौ ॥
विशेषेण मनुष्याणां कनकः परिकीर्त्तितः । कदाचिन्महिषाक्षश्च मतः कैश्चिन्नृणामपि ॥ ३७ ॥

क्रम से उन्हीं ५ प्रकार के गूगलों के लक्षण एवं गुण—१ जो गूगल भौंरा या स्रोतोंजन के समान काले रङ्ग का होता है वह 'महिषाक्ष' कहलाता है। २ महानील नामक गूगल का लक्षण अपने नाम के अनुरूप ही है अर्थात् वह अत्यन्त नीलवर्ण का होता है। ३ कुमुद नामक गूगल— कुमुद (कुईं) पुष्प के समान वर्ण वाला होता है। ४ पद्म नामक गूगल—मानिक के समान वर्ण वाला होता है। ५ हिरण्याख्य गूगल– सोने के समान वर्ण वाला होता है। इनमें से महिषाक्ष तथा महानील ये दोनों गूगल हाथियों के लिये हितकारी होते हैं। कुमुद तथा पद्म ये दोनों गूगल घोड़ों के लिये अत्यन्त कल्याणकारक तथा आरोग्यदायक होते हैं। कनक अर्थात् हिरण्यनामक गूगल तो विशेष करके मनुष्यों के लिये हितकर होता है। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि मनुष्य के लिये कहीं-कहीं महिषाक्ष गूगल भी हितकारी होता है ॥ ३४–३७ ॥

सामान्यतो गुग्गुलुगुणानाह

गुग्गुलुर्विशदस्तिक्तो वीर्योष्णः पित्तलः सरः ।
कषायः कटुकः पाके कटू रूक्षो लघुः परः ॥ ३८ ॥
भग्नसन्धानकृद् वृष्यः सूक्ष्मः स्वर्यो रसायनः ।
दीपनः पिच्छिलो बल्यः कफवातव्रणापचीः ॥ ३९ ॥

मेदोमेहाश्मवातांश्च क्लेदकुष्ठाममारुतान् । पिडकाग्रन्थिशोफार्शोगण्डमालाकृमीञ्जयेत् ॥४०॥
माधुर्याच्छमयेद्वातं कषायत्वाच्च पित्तहा । तिक्तत्वाद् कफजित्तेन गुग्गुलुः सर्वदोषहा ॥४१॥

सामान्यरूप से गूगल के गुण—गूगल-विशद गुण युक्त, तिक्त-कषाय तथा कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, पित्तजनक, सारक (दस्तावर), विपाक में कटुरस युक्त, रूक्ष एवं अत्यन्त लघु होता है। यह टूटे हुये हड्डियों को जोड़ने वाला, वृष्य, सूक्ष्म (सूक्ष्मस्रोतोगामी), स्वर को उत्तम करने वाला, रसायन, अग्निदीपक, पिच्छिलगुणयुक्त तथा बलकारक होता है एवम्—कफ-वात, व्रण, अपची, मेदरोग, प्रमेह, पथरी, वातरोग, क्लेद, कुष्ठ, आमवात, पिडका, ग्रन्थिरोग, शोथ, बवासीर,

1. 'हिरण्याक्षस्तु' इति पाठा० ।

गण्डमाला तथा कृमिरोग का नाशक होता है। गूगल—मधुर रस युक्त होने से वात को, कषाय रसयुक्त होने से पित्त को और तिक्त रस युक्त होने से कफ को नष्ट करने वाला होता है, अतः यह सम्पूर्ण दोषों का नाशक कहा हुआ है ॥ ३८–४१ ॥

नवीनस्य प्राचीनस्य च गुग्गुलोर्लक्षणं गुणांश्चाह

स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वतिलेखनः ॥ ४२ ॥
स्निग्धः काञ्चनसकाशः पक्वजम्बूफलोपमः ।
नूतनो गुग्गुलुः प्रोक्तः सुगन्धिर्यस्तु पिच्छिलः ॥ ४३ ॥
शुष्को दुर्गन्धकश्चैव त्यक्तप्रकृतिवर्णकः । पुराणः स तु विज्ञेयो गुग्गुलुर्वीर्यवर्जितः ॥ ४४ ॥

नवीन और पुराने गूगल के गुण तथा लक्षण—**नवीन गूगल**—बृंहण (धातुवर्धक) तथा वृष्य (वीर्यजनक) होता है और **पुराना गूगल**—अतिलेखन (शरीर के धातु तथा मलों को सुखा कर खुरचने वाला) होता है। **नवीन गूगल** वह कहलाता है जो स्निग्ध, सोने के समान वर्ण वाला, पके हुये जामुन के समान स्वरूप वाला, सुगन्ध युक्त तथा पिच्छिल गुण युक्त होता है। **पुराना गूगल—वह** कहलाता है कि जो शुष्क, दुर्गन्धयुक्त, स्वाभाविक वर्ण हीन तथा वीर्य रहित होता है ॥ ४२–४४ ॥

गुग्गुलुसेविनां त्याज्यान्याह

अम्लं तीक्ष्णमजीर्णञ्च व्यवायं श्रममातपम् । मद्यं रोषं त्यजेत्सम्यग् गुणार्थी पुरसेवकः ॥४५॥

गूगल सेवन करने वालों के लिये अहितकर अत एव त्याज्य विषय—गूगल का सेवन करने वाला पुरुष यदि गूगल का भली भांति गुण प्राप्त करना चाहे तो वह अम्ल रस युक्त, तीक्ष्ण तथा अजीर्णकारक द्रव्य, मैथुन, परिश्रम, धूप में फिरना, शराब पीना तथा क्रोध करना छोड़ दे ॥

१५ गूगल

हि०–गूगल, गुग्गुल । बं–गुग्गुल, मुकुल । म०–गुग्गुल । गु०–गुगल । क०–गुग्गुल । ते०–गुक्कुलु चेट्टु । ता०–मैशाक्षी, गुक्कल । सिंध–गुगरू । फा०–बूएजहूदान । अ०–मुक्ल-अजर्क, अफलात(तू) न । अं०–Indian Bdellium (इण्डियन डेलिअम्) । ले०–*Balsamodendron mukul Hook. ex Stocks* (बाल्सेमोडेन्ड्रोन् मुकुल, हुक एक्स स्टॉक्स) । Fam. Burseracae (बर्सेरेसी) ।

गुगल के वृक्ष—सिन्ध, राजपुताना, खानदेश, बरार, मैसूर, काठियावाड एवं बेलरी आदि स्थानों में अधिक पाये जाते हैं।

इसका वृक्ष—छोटा, ४ से ८ फीट ऊँचा एवं झाड़ीदार होता है जिसकी मोटी फैली हुई शाखाओं के अग्रभाग कंटकित होते हैं। छाल-हरापन युक्त पीली होती है। इससे कागज के समान लम्बे, पतले, चमकीले परत निकलते रहते हैं। लकड़ी-सफेद और कोमल होती है। पत्ते-पत्रक १ से ३ तक, ऊपर से लट्वाकार, अग्र की तरफ दन्तमय धार वाले, चिकने, चमकीले तथा विशेष कर छोटी मोटी प्रशाखाओं के अन्त में रहते हैं। फूल-४–५ दल वाले, छोटे-छोटे तथा भूरापन लिये लाल रंग के आते हैं। फल-छोटे छोटे, मांसल, लंबगोल तथा पकने पर लाल हो जाते हैं।

उक्त वृक्ष की त्वचा में जाड़े के दिनों में घाव करने से एक प्रकार का तैलीय राळदार गोंद (Oleo gum-resin) निकलता है जिसे गूगल कहते हैं।

गूगल के प्रकार—आकृति, रंग एवं स्थान भेद से गूगल कई प्रकार का होता है। ऊपर मूल में पांच प्रकार के भेद लिखे हुए हैं। यूनानी वाले भी इसके पांच भेद मानते हैं।

(१) मुक्ले सकलाबी–यह भूरा होता है। (२) मुक्ले अरबी–यह यमन में पैदा होता है और ललाई लिये भूरा या बैंगनी होता है। (३) मुक्ले अर्जक–यह ललाई लिये होता है। (४) मुक्ले यहूद–यह पिलाई लिये होता है। (५) मुक्ले हिंदी–यह भारतवर्ष में होता है।

बाजार में तीन तरह का गूगल बिकता है जिसमें से प्रथम दो तो गूगल हैं और तीसरा सलई का गोंद है। केवल गूगल कहने से कभी-कभी सलई का गोंद (कुंदुरू) भी व्यापारी दे देते हैं।

(१) कण गूगल—यह मारवाड़ से आता है तथा ललाई लिये पीले रंग का होता है। यह भैंसागूगल से नरम होता है। यह अच्छा माना जाता है। (२) भैंसागूगल–यह सिंध तथा कच्छ से आता है। यह हलका हरापन लिये पीले रंग का, टेढ़े मेढ़े, छोटे-बड़े गट्ठों में होता है। इस पर मैल, बाल एवं छाल के टुकड़े आदि चिपके रहते हैं। यह मोम जैसा नरम लेकिन दबाने से भुरभुरा, कड़वा एवं देवदार के समान गंध वाला होता है। इसे जलाने पर गुब्बारे जैसे निकल कर फूटते हैं। इसे जल में घिसने से हरापन लिये सफेद मिश्रण बनता है। यह हलकी जात का होता है। (३) सलई का गोंद–इसका वर्णन आगे किया गया है। यह लाल रंग का होता है तथा जलाने पर अच्छी तरह जलता है।

उत्तम गूगल—चमकीला, चिपचिपा, मधुर गंध वाला, कुछ पीला (ताजा), पुराना होने पर कालासा, स्वाद में कड़वा तथा आसानी से टूटता है। तोड़ने पर अन्दर से हरी एवं लाल चमक वाला होता है। इसे उष्ण जल में घिसने पर हरी चमक युक्त सफेद रंग का मिश्रण बनता है। इसे जलाने पर यह अच्छी तरह जलता नहीं तथा फूलकर महीन पपड़ी निकलती है। व्यापारी लोग जली हुई लकड़ी आदि में अनेक प्रकार के चिपचिपे गोंद लगाकर गोले बनाकर बेचते हैं इसलिये अच्छी तरह परीक्षा कर खरीदना चाहिये। हमेशा नये गूगल का ही व्यवहार करना चाहिये क्योंकि रखने से यह खराब हो जाता है।

गूगल शोधन—गूगल के बराबर त्रिफला एवं गुडुच लेकर उसे मोटा कूटकर अष्टगुण जल में अर्धांश शेष क्वाथ करें। फिर क्वाथ को छानकर उसमें गूगल को कपड़े में बांध उसकी पोटली लटकावें तथा मंद आंच पर स्वेदन करें। बार-बार उस क्वाथ को करछुल से पोटली पर डालते जाँय। जब सब गूगल छनकर क्वाथ में आ जावे तब कपड़े में का मैला फेंक दें तथा क्वाथ को ऊपर-ऊपर से निकाल लें। नीचे जमे हुये गाढ़े भाग को अलग कर दें। गूगल मिश्रित क्वाथ को मंद आंच पर गाढा करें। जब गाढा होने लगे तो उसमें थोड़ा घी डाल दें जिससे जलने न पावे। बाद में उसे खूब अच्छी तरह कूटकर ऊपर घी लगाकर रखें। यद्यपि इस विधि से शोधन करने की परिपाटी है तथापि संभवतः इस विधि से गूगल कुछ हीनवीर्य हो जाता होगा क्योंकि आधुनिक विद्वानों का मत है कि गूगल के गुण विशेष कर उसमें के सुगंधि तत्वों पर निर्भर होते हैं। इसलिये गूगल को केवल खूब अच्छी तरह बीनकर उसमें घी डालकर बहुत कूटकर व्यवहार करें तो ज्यादा उपयुक्त हो सकता है। कुछ लोग त्रिफला क्वाथ के स्थान पर दुग्ध अथवा दशमूल क्वाथ का व्यवहार भी करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल, रालदार गोंद (Gum resin) एवं एक कड़वा सत्व पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—गूगल रसायन, त्रिदोषघ्न, वृष्य, बल्य, स्नेहन, स्रंसन, वातानुलोमक, आमाशयोत्तेजक, दीपन, वातहर, वातनाडी संस्थान के लिये पुष्टिकारक, उत्तेजक कफनिःसारक तथा

श्लेष्मल त्वचा के लिये उत्तेजक, संकोचक एवं प्रतिदूषक, श्वेतकायाणुवर्धक, भक्षकायाणुकार्यवृद्धिकर, त्वग्दोषहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण, शोथघ्न, रक्तवर्धक एवं आर्तवजनन है। नया गूगल बृंहण एवं वृष्य होता है तथा पुराना कर्षण (लेखन) होता है। इसकी क्रिया बोल (Myrrha-मिह) जैसी होती है।

इसके सेवन के पश्चात् आमाशय में उष्णता मालूम होती है। इसका प्रचूषण बहुत जल्दी होता है। इसके गुण संभवतः इसमें के सुगंधि तत्त्वों के ऊपर निर्भर रहते हैं। इसका उत्सर्ग चर्म, श्लेष्मलत्वचा एवं वृक्कों से होता है तथा उत्सर्ग के समय यह उन-उन अंगों को उत्तेजित करता है तथा जीवाणुनाशन का भी कार्य करता है। बिना किसी दुष्परिणाम के इसका बहुत दिन तक प्रयोग किया जा सकता है। कभी-कभी इससे कोपैबा (Copaiba) की तरह त्वचा पर लाल चकत्ते और क्वचित् वृक्क प्रक्षोभ के लक्षण दिखलाई देते हैं जो औषध बन्द करने से ठीक हो जाते हैं।

इसका उपयोग जीर्ण कफरोग, वातरोग, नाड्यवसन्नता, गृध्रसी, अर्दित, अग्निमांद्य, अपचन, अतिसार, प्रवाहिका, कंठमाला, ग्रंथि, विद्रधि, कुष्ठ, फिरंग, सोजाक, विभिन्न अवयवों के शोथयुक्त विकार, शोफ, उदर, चर्मरोग, व्रण, भगंदर, कृमि, पांडु, अर्श, प्रमेह, गर्भाशय विकार एवं मेदोवृद्धि में उन उन अवयवों पर कार्य करने वाली प्रयोजक औषधों के साथ किया जाता है।

(१) पुराने कफ विकारों में इसको छोटी पीपल, अडूसा, मधु एवं घृत के साथ दिया जाता है। राजयक्ष्मा में इसके प्रयोग से कफ की मात्रा कम होती है तथा जीवाणुनाशन भी होता है। जिन रोगों में कफ अत्यधिक एवं चिपचिपा होता है उसमें इससे विशेष लाभ होता है। दुर्बल, पांडुयुक्त एवं मध्यम आयु के लोगों में यह विशेष लाभदायक होता है। इसके साथ लोहभस्म का प्रयोग किया जा सकता है। श्वास में इसको घृत के साथ खिलाते हैं।

(२) आमाशय शिथिलता एवं अग्निक्षीणता में इसके प्रयोग से क्षुधावृद्धि होती है तथा पाचन सुधरता है। अतिसार, प्रवाहिका, आंत्रप्रदाह एवं क्षयज अतिसार आदि में आंत्रिक प्रतिदूषक (Intestinal antiseptic) के रूप में सुगंधि द्रव्य, इन्द्रजव, एलुवा और गुड आदि के साथ यह दिया जाता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इसका अधिक प्रभाव पड़ता है।

(३) यह रक्तशोधक, प्रतिदूषक, संपूर्ण शरीर को उत्तेजक एवं बलदायक होने के कारण अनेक शोथयुक्त अवस्थाओं जैसे स्वरयंत्रशोथ, श्वसनीशोथ, कुकास, उरःस्तोय, क्षयज उदरावरणशोथजन्य जलोदर, कंठमाला एवं मूत्रसंस्थान के गवीनीमुखशोथ, बस्तिशोथ तथा जीर्ण गर्भाशयशोथ एवं फिरंग आदि में लाभकर होता है। इनमें हर ४ या ६ घंटे के अन्तर पर इसको देते हैं। कंठमाला में पारद, सोमल एवं बायविडंग के साथ गूगल देते हैं। फिरंगादि में अनंतमूल के साथ एवं जीर्ण आमवात या सोजाक से संधिशोथ होने पर गूगल एवं शिलाजतु का प्रयोग किया जाता है। संधिशोथ पर इसका लेप भी करते हैं। सोजाक तथा बस्तिशोथ में गुडुच के साथ इसको देते हैं। उरःस्तोय एवं जलोदर आदि में इससे स्रवित जल का शोषण हो जाता है।

(४) गूगल की गर्भाशय के ऊपर बहुत अच्छी क्रिया होती है। तरुणस्त्रियों के अनार्त्तव में गूगल, एलुवा तथा कसीस की गोलियां खिलाई जाती हैं। श्वेत प्रदर में तथा उसके कारण वन्ध्यत्व हो तो रसौंत के साथ इसे अधिक मात्रा में देते हैं।

(५) अंगघात, अर्दित, उरुस्तंभ, गृध्रसी एवं वातनाडी शूल में कैशोर गुग्गुलु से बहुत लाभ होता है। ऊरुस्तंभ में गोमूत्र के साथ एवं गृध्रसी में रास्ना एवं घृत के साथ इसको देते हैं।

(६) आमवात, कटिशूल एवं संधिपीडा में इसका बाह्याभ्यंतर प्रयोग किया जाता है। रास्नादि क्वाथ के साथ योगराज या त्रयोदशांग गुग्गुलु का उपयोग अच्छा होता है।

(७) कुष्ठ में इससे साधारण स्वास्थ्य अच्छा होता है तथा इसके प्रयोग से दुर्बलता तथा नाडीशूल आदि ठीक होता है। सभी प्रकार के चर्मरोगों में गूगल लाभदायक माना जाता है। इससे कंडू कम होती है तथा त्वचा का वर्ण सुन्दर हो जाता है।

(८) व्रणशोधक, व्रणरोपक एवं प्रतिदूषक होने के कारण इसका बाह्य प्रयोग बहुत किया जाता है। १० ड्राम जल में १ ड्राम इसका टिंक्चर (९०% मद्यसार में २०%) मिलाकर मसूढ़ों की सूजन, पायरिया, दांतों में गढ़े हो जाना, गले के व्रण, जीर्ण प्रसनिकाशोथ एवं गलतुण्डिकाशोथ में गंडूष कराया जाता है। पुराने व्रणों के प्रक्षालन के लिये भी इसका उपयोग करते हैं। फोड़ों की प्रारंभिक अवस्था में इसके गरम लेप से फोड़े बैठ जाते हैं। घी में इसका मलहम बनाकर पुराने व्रणों में प्रयोग किया जाता है। कंठमाला में गूगल को उष्ण जल में घिसकर दिन में तीन चार बार मोटा लेप करने से गांठें बैठ जाती हैं। अर्श में इसका लेप एवं धूआं दिया जाता है। आमाशयोर्ध्वप्रदेश में इसे लगाने से हिचकी तुरत रुकती है। प्राच्यव्रण (Delhi boil) नामक दिल्ली की तरफ होने वाले व्रण में गूगल, गंधक, सोहागा तथा कत्था इसका मलहम लगाया जाता है। मुखरोगों में गूगल को मुख में रखकर चूसने से लाभ होता है।

मात्रा—२-८ रत्ती।

अथ सरलनिर्यासगुग्गुलुः। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

श्रीवासः सरलस्रावः श्रीवेष्टो वृक्षधूपकः। श्रीवासो मधुरस्तिक्तः स्निग्धोष्णस्तुवरः सरः॥
पित्तलो वातमूर्द्धाक्षिस्वररोगकफापहः। रक्षोघ्नः स्वेददौर्गन्ध्ययूकाकण्डूव्रणप्रणुत्॥ ४७॥

सरलनिर्यास अर्थात् चीड़ के गोंद (गन्धाबिरोजा) के नाम तथा गुण—श्रीवास, सरलस्राव, श्रीवेष्ट और वृक्षधूपक ये सब गन्धाबिरोजा के संस्कृत नाम हैं। गन्धाबिरोजा—मधुर तिक्त तथा कषाय रस युक्त, स्निग्ध, उष्णवीर्य, दस्तावर, पित्तजनक एवं वायु, मस्तक, नेत्र तथा स्वरसम्बन्धी रोग, कफ, रक्षोग्रहबाधा, स्वेद, दुर्गन्ध, जूयें, खुजली और घाव को दूर करता है॥

१६ सरल निर्यास

हि०—गन्धाबिरोजा, बिहरोजा, बिरोजा, सरल का गोंद, चीड का गोंद। **म०**—सरलडीक। **गु०**—बेरजो। **क०**—श्रीवेष्टक। **ता०**—धिनैमारू। **लिपचा०**—ग्निश्ट। **भो०**—टीडोंग। **नेपा०**—धूप। **पहाड़ी**—विरजेलासा, लीसा। **फा०**—बारजद, बरजद। **अ०**—किन्न। **अं०**—Oleo-resin of Pine (ओलियो रेजिन् ऑफ् पाइन्)। **ले०**—*Oleo-resina of Pinus longifolia and other species* (ओलियो रेझिना ऑफ पाइनस लांगिफोलिया अण्ड अदर स्पिसीज)। Fam. Pinaceae (पिनॅसी)।

धूपसरल वृक्ष (चीड) के निर्यास को गन्धाबिरोजा कहा जाता है। इसके वृक्ष तथा स्वरूपादि का वर्णन पहले सरल वृक्ष (पृष्ठ १९८) के अन्तर्गत किया जा चुका है।

रासायनिक संगठन—इसमें करीब २०% तारपीन का तेल (Turpentine oil) होता है जो ऊर्ध्वपातन यंत्र द्वारा निकाला जाता है। लगभग ८०% भाग अवशेष रहता है। इसे डाक्टरी में रेझिन (रजन) या कोलोफोनि (Resin, colophony) कहते हैं। रेझिन (रजन) पारभासक

हलके अम्बर के वर्ण का, चमकीला एवं आसानी से टूटने वाला घन पदार्थ होता है। यह तोड़ने पर अन्दर से चमकीला दिखाई देता है। इसमें तारपीन सदृश स्वाद एवं गन्ध होती है। यह जलमें अविलेय किन्तु मद्यसार तथा ईथर आदि में आसानी से घुल जाता है।

तारपीन का तेल—यह सरल वृक्ष के निर्यास (गन्धाबिरोजा) से बाष्प के साथ ऊर्ध्व नलिका यन्त्र से निकाला हुआ तेल है। औषध की अपेक्षा अन्य उद्योगों में इसकी बहुत खपत होती है। सुगन्धि द्रव्य, कृत्रिम कपूर, तैलीय रंग एवं वार्निश बनाने में इसका उपयोग किया जाता है। इस तेल की संसार भर की आवश्यकता का ६७% भाग अमेरिका एवं २२% भाग फ्रांस पूर्ति करता है इतने अधिक वहां इसके वृक्ष पाये जाते हैं। भारतवर्ष में भी यद्यपि इसके वृक्ष बहुत पाये जाते हैं तथापि जंगली प्रदेशों में यातायात की कठिनाइयों के कारण अभी बहुत कम वृक्षों के निर्यास से तैल निकाला जाता है। भवाली, जाल्हो तथा बरेली के पास चित्तरबकगंज आदि स्थानों में इसके निकालने के कारखाने हैं।

यह तैल रंगहीन एवं स्वच्छ होता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कटु एवं कुछ तिक्त होता है। कुछ दिन के बाद तथा इसे खुला रखने पर इसके स्वाद तथा गन्ध दोनों बढ़ जाते हैं जो अधिक अप्रिय हो जाते हैं। इसका विशिष्ट गुरुत्व ०·८६०–०·८७० है। यह सातगुने मद्यसार (९०%) में तथा ईथर, क्लोरोफॉर्म, कार्बन डाइसल्फाइड, विजलीयित (Dehydrated) मद्यसार एवं ग्लेशियल् ॲसेटिक् एसिड् में चाहे जिस मात्रा में घुल जाता है। भारतीय व्यापारी तेल में ३७·६% ॲल्फा-कॅरेन् (a-carene) एवं ॲल्फा-डी-टर्पेनूस (a-d-terpenes), १·७% ॲल्फा-एल्-टर्पेन् (a-l-terpene), २४·८% एल्-पिनेन् (1-pinene), ९·७% नोपिनेन् (Nopinene), या बीटा-पिनेन् (B-pinene), २०·३% लॉंगिफोलीन् (Longifoline) एवं अल्प मात्रा में सिल्वेस्ट्रीन (Sylvestrene) एवं डाइपेण्टीन (Dipentene) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

अमेरीका और फ्रांस के तैल में प्रधानतया पिनेन् अधिक होते हैं। भारतीय तारपीन के तैल में उपयुक्त पिनेन् की अपर्याप्त मात्रा होने के कारण कृत्रिम कपूर निर्माण के यह अयोग्य होता है। भारतीय तैल आसानी से जारित (Oxidized) होने के कारण तथा सूखने पर अधिक राल निकलने के कारण विदेशी तैल की अपेक्षा हीन श्रेणी का समझा जाता है लेकिन अन्य उद्योगों में इसका उपयोग किया जा सकता है। इस तैल को प्रकाशहीन, ठंडी जगह में बंद बोतलों में रखना चाहिये।

गुण और प्रयोग—गन्धाबिरोजा एवं तारपीन के तेल के गुण लगभग समान ही होने के कारण दोनों का एक साथ ही वर्णन किया गया है।

यह वातानुलोमक, श्लेष्मनिःसारक, कफघ्न, स्वेदजनन, मूत्रजनन, रक्तस्तम्भक, उत्तेजक, कृमिघ्न, शोथघ्न, वातहर, व्रणरोपक, दुर्गन्धिनाशक एवं अल्प प्रतिदूषक (Antiseptic) है।

इसको चर्म पर मर्दन करने से प्रारम्भ में त्वचा लाल हो जाती है तथा प्रक्षोभ उत्पन्न होता है, पश्चात् नाडयग्रों के अवसाद से शून्यता उत्पन्न होती है। इससे सूक्ष्म रक्तवाहिनीयों का संकोच होकर बाह्य (स्थानिक) रक्तस्राव रुक जाता है। अधिक मर्दन से त्वचा में स्फोट आदि भी उत्पन्न होते हैं।

इसका प्रचूषण महास्रोत, श्वसनसंस्थान एवं त्वचा द्वारा होता है तथा उत्सर्ग मूत्र एवं श्वसनसंस्थान से होता है। उत्सर्ग के समय श्वास में इसकी गन्ध तथा मूत्र में बनफ्शाह (Violet-वायोलेट) की गन्ध आती है।

अल्प मात्रा में बार-बार देने से प्रथम वृक्कों की उत्तेजना से मूत्र की मात्रा बढ़ती है लेकिन अधिक काल तक प्रयोग करते रहने से मूत्र में जलन, प्रक्षोभ एवं कभी-कभी तीव्र मूत्रकृच्छ्र होता है। वृक्कों में शोथ उत्पन्न होने से मूत्र की मात्रा कम होती है एवं मूत्र में अल्ब्यूमिन एवं कभी-कभी रक्त भी जाने लगता है। अधिक मात्रा में महास्रोत में प्रक्षोभ से तीव्र विरेचन एवं रक्तातिसार तथा तन्द्रा, सारे शरीर में शिथिलता, अवसाद, सांवेदनिक नाड़ियों का घात, प्रत्याक्षेप क्रिया का घात एवं संन्यास आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। उपर्युक्त परिणाम अधिक मात्रा में तैल को सूंघने से भी हो सकते हैं।

(१) यह उत्तम वातानुलोमक होने के कारण आध्मानजन्य शूल के लिये बहुत उपयोगी है। तारपीन के तेल को गोंद के साथ घोंट कर थोड़ी चीनी एवं जल मिलाकर रोगी को दिया जाता है। इससे स्फीतकृमियों का भी नाश होता है। आमाशयिक व्रण से अथवा अन्य कारणों से आंत्र से रक्तस्राव होता हो तो इसको देने से सूक्ष्म रक्तवाहिनीयों का संकोच हो कर रक्तस्राव रुक जाता है। आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) में न केवल वातानुलोमक प्रभाव के कारण आध्मान (Tympanitis) में लाभ होता है वरन् इसकी उपस्थिति में इस रोगोत्पादक दण्डाणु की वृद्धि रुक जाने से प्रत्यक्ष इस रोग में भी लाभ होता है। इसमें १५-३० बूंद हर घण्टे पर कई बार दिया जाता है।

(२) जीर्ण श्वसनीशोथ (Bronchitis) में इसको देने से कफ निकलने लगता है तथा जीवाणुओं का नाश होने से दुर्गन्ध भी दूर होती है। रोगी के कमरे में तैल को छिड़कने से अपने आप यह श्वास में आकर अपना कार्य करता है। कफक्षय एवं रक्तष्ठीवन में भी इसको खिलाया जाता है तथा सूंघने को भी दिया जाता है। फुफ्फुसों के कोथ में इससे विशेष लाभ होता है। तारपीन का तेल २½ तो०, मुलेठी २½ तो० एवं मधु २ तो० एक साथ घोंट कर ३०-६० र० की मात्रा में इन विकारों में दिया जाता है।

(३) पुराने सोजाक (Gleet) एवं बस्तिशोथ में सन्नू का तेल १-३ बूंद या शुद्ध गन्धाविरोजा १ से २ ड्रा० खिलाते हैं। इन अवस्थाओं में 'पूय मेहारि वटी' को दिन भर में २-४ गोलियाँ दारुहरिद्रा कषाय के अनुपान से खिलाई जाती हैं। इसको बनाने के लिये शुद्ध गन्धाविरोजा १ तो०, शुद्ध राल २½ तो०, गूगल ५ तो०, रूमीमस्तगी २½ तो० एवं चन्दन का तैल २½ तो० इन सब को घोंट कर १॥ माशे की गोलियाँ बनाई जाती हैं।

(४) जीर्ण कोष्ठबद्धता, आध्मान एवं सूत्रकृमि में ६०-१२० बूंद तारपीन का तेल एवं ४ पाइण्ट साबुन युक्त जल की बस्ति बहुत ही लाभदायक होती है।

(५) इसमें रेंडी का तेल मिलाकर आमवात, कटिशूल, सन्धिपीड़ा एवं वातनाड़ी शूल में लगाया जाता है। आन्तरिक शोथ विशेष कर उदरगत शोथ एवं आध्मान में इससे स्वेदन किया जाता है। फलालेन जैसे कपड़े को उष्ण जल में निचोड़ कर उस पर थोड़ा सा तेल छिड़क कर उससे सेंका जाता है। पुराने कफविकारों में इसको रूमाल पर डालकर सूंघने को दिया जाता है तथा छाती पर इसको लगाते हैं।

(६) गजचर्म, व्रण, क्षत तथा अन्य चर्मविकारों में गन्धाविरोजा का मलहम उपयोग में आता है। क्षत में तैल से स्थानिक रक्तस्राव भी रुक जाती है। मुख के शस्य कर्म में साधारण रक्तस्राव को रोकने के लिये तैल का प्रयोग किया जाता है। गन्धाविरोजा का उपयोग अनेक प्रकार के मलहमों तथा धूप आदि में किया जाता है। कण्ठमाला में इसके लेप से लाभ होता है

गन्धाविरोजा का डामर जीर्ण कास एवं राजयक्ष्मा आदि में दिया जाता है। इसके **रजन** (रेझिन, कोलोफोनि) का व्यवहार मलहम बनाने में विशेष रूप से होता है। यह अल्प प्रतिदूषक तथा पुराने व्रणों के लिये लाभदायक होता है।

मात्रा—तैल ३-१० बूंद; कृमिघ्न १२०-२४० बूंद; शुद्ध गन्धाविरोजा १-२ मा०।

अथ रालः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

रालस्तु शालनिर्यासस्तथा सर्ज्जरसः स्मृतः। देवधूपो यक्षधूपस्तथा सर्वरसश्च सः ॥ ४८ ॥
रालो हिमो गुरुस्तिक्तः कषायो ग्राहको हरेत्। दोषास्रस्वेदवीसर्पज्वरव्रणविपादिकाः ॥
ग्रहभग्नाग्निदग्धांश्च शूलातीसारनाशनः ॥ ४९ ॥

राल के नाम तथा गुण—राल, सालनिर्यास, सर्जरस, देवधूप, यक्षधूप तथा सर्वरस ये राल के संस्कृत नाम हैं। राल—शीतवीर्य, गुरु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवं ग्राही होती है। यह-दोष (वातादिक), रक्तविकार, स्वेद, विसर्प, ज्वर, व्रण, विपादिका, ग्रहबाधा को दूर करती है तथा भग्न अर्थात् हड्डी के टूट जाने पर फायदा करती है और अग्नि से जल जाने पर भी लाभ करती हैं एवं शूल तथा अतीसार को नष्ट करती है ॥ ४८-४९ ॥

१७ राल

हि०—राल, रार, धूना, शाल (साखू) का निर्यास। **बं०**—धुना, राल, डम्मर। **म०**—राल पिंवली। **गु०**—राल। **क०**—सर्ज्जरस। **ते०**—सर्ज्जरसमु, सर्ज्ज। **पं०**—राल, अर्लु। **फा०**—राल मगरबी, रातियानः। **अ०**—रातीनज, कैकहर। **अं०**—Resin of Sal Tree (रेझिन् ऑफ् साल ट्री)। **ले०**—*Resina of Shorea robusta Gaertn. f.* (रेझिना ऑफ् शोरिआ रोबस्टा गार्ट.)। Fam. Dipterocarpaceae (डिप्टेरोकार्पेसी)।

शालवृक्ष के गोंद को राल कहते हैं। यह सफेदी लिये पीली किञ्चित् कालापन मिश्रित होती है। नयी अवस्था में यह रंगहीन एवं पारदर्शक होती है। इसमें तारपीन की राल के सदृश गन्ध नहीं होती तथा इसमें स्वाद भी नहीं होता। यह तैल में मिल जाती है तथा आसानी से जलती है।

नोट—राल के लिये चरक सुश्रुत में सर्जरस शब्द प्रयुक्त हुआ है। शालनिर्यास शब्द चरक सुश्रुत में देखने में नहीं आता। वैद्य लोग राल से शाल की राल का व्यवहार करते हैं जो अधिकतर सिंगापूर से आती है। डाक्टरी में व्यवहार में लाई जाने वाली राल जिसे रजन (रेझिन) कहते हैं यह गन्धाविरोजा से तारपीन के तैल निकालने के पश्चात् बचा हुआ अवशेष है। शाल (साखू) के वृक्ष का वर्णन आगे वटादिवर्ग में आया है। **सर्ज वृक्ष** (शाल भेद) तथा उससे प्राप्त होने वाली राल जिसे **चन्द्रस** कहते हैं उसका भी वर्णन वटादि वर्ग में है।

गुण और प्रयोग—राल उत्तम व्रणशोधन, व्रणरोपण, रक्तस्तम्भन, ग्राही एवं जीवाणुनाशक होती है। यह रेझिन (रजन) का अच्छा प्रतिनिधि मानी जाती है।

(१) राल के मलहम का बहुत व्यवहार किया जाता है। इसके लगाने से स्थानिक रक्तप्रवाह बढ़ता है तथा जीवाणुनाशन का भी कार्य होता है। फोड़े आदि पर लगाने से बिना पीड़ा के वे फूट कर जल्दी अच्छे हो जाते हैं। नवीन शोथ हो तो बिना फूटे ही बैठ भी जाते हैं। इसके मलहम का उपयोग खुजली, पामा, बिवाई (विपादिका), पुराने व्रण एवं अग्निदग्ध व्रण आदि में

किया जाता है। मलहम बनाने के लिये राल ४, मोम ४, तिल का तैल ४ एवं घृत १ इन सबको जरा गरम करके एक में घोंट कर मिला दें।

(२) आमवातिक पीडा एवं कटिशूल में ब्राण्डी के साथ या अंडे की सफेदी के साथ लगाने से लाभ होता है।

(३) खांसी, श्वास, अतिसार, कुपचन एवं सोजाक में राल खिलाई जाती है। बच्चों के रक्तयुक्त आंव में तथा रक्तार्श में चीनी के साथ इसका अधिक अच्छा उपयोग होता है।

(४) वाजीकरण के लिए १० र० राल ½ सेर दूध के साथ नित्य प्रातः सेवन की जाती है।

मात्रा—४-८ रत्ती।

अथ कुन्दरुः (सुगन्धद्रव्यं शल्लकीनिर्यासः)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

कुन्दुरुस्तु मुकुन्दः स्यात्सुगन्धः कुन्द इत्यपि ॥ ५० ॥
कुन्दुरुर्मधुरस्तिक्तस्तीक्ष्णस्त्वच्यः कटुर्हरेत्। ज्वरस्वेदग्रहालक्ष्मीमुखरोगकफानिलान् ॥५१॥

कुन्दुरु (सुगन्ध द्रव्य) जो कि शल्लकी का गोंद है उसके नाम तथा गुण—कुन्दुरु, मुकुन्द, सुगन्ध तथा कुन्द ये सब कुन्दुरु के संस्कृत नाम हैं। कुन्दुरु-मधुर, तिक्त तथा कटु रसयुक्त, तीक्ष्ण एवं त्वचा के लिये हितकारी होता है। यह ज्वर, स्वेद, ग्रहबाधा, अलक्ष्मी, मुखरोग, कफ और वायु को दूर करता है ॥ ५०-५१ ॥

नोट—प्राचीनों ने शल्लकी (सलई) के निर्यास को ही कुन्दुरु माना है लेकिन बाजार में मिलने वाला कुन्दुरु सलई का निर्यास न होते हुए भी उसी जाति के विदेशी वृक्ष का निर्यास है जो अफ्रीका एवं अरब से आता है। इसका व्यापार मुख्यतया बंबई में होता है। गुणों की दृष्टि से भारतीय सलई के गोंद एवं कुन्दुरु में विशेष अन्तर नहीं है। पार्थक्य के लिये भारतीय निर्यास को 'सलई गूगल' एवं विदेशी निर्यास को 'कुन्दुरु' लिखा गया है तथा दोनों का अलग २ वर्णन किया गया है। बाजार में गूगल नाम से सलई का गूगल एवं कणगूगल (गुग्गुलु) दोनों ही बिकते हैं इसलिये खरीदते समय शल्लकी निर्यास की आवश्यकता होने पर 'सलई गूगल' मांगना चाहिये एवं गुग्गुलु की आवश्यकता होने पर कणगूगल नाम से खरीदना चाहिये। सलई वृक्ष का वर्णन वटादिवर्ग में किया गया है। यद्यपि कुन्दरु का अरबी नाम लबान है तथापि लोबान या लोहबान यह अन्य द्रव्य है, उसका भी प्रसंगतः संक्षेप में वर्णन किया गया है। कुन्दुरू शाक का वर्णन आगे शाकवर्ग में किया हुआ है।

१८ शल्लकी निर्यास (सलई गूगल)

हि०—सलई गूगल, गूगल, लबान। बं०—सलेधूप। गु०—धूपडो। म०—सालईचा डीक। अजमेर—गंधबिरोझ। अं०—Indian olibanum or Frankincense (इण्डियन् ओलिबॅनम् या फ्रॅंकिन्सेन्स) । ले०—*Gum resin of Boswellia serrata Roxb.* (गमरेज़िन ऑफ् बॉस्वेलिया सेरेटा रॉक्स) । Fam. Burseraceae (बर्सेरॅसी)।

यह शल्लकी (सलई) वृक्ष का गोंद है। यह कुछ आर्द्र, चिपचिपा, रक्ताभ पीतवर्ण का एवं सुगंधयुक्त होता है। यह जलाने पर कणगूगल की अपेक्षा जल्दी जलता है। जल में डालने पर यह सफेद दिखलाई देता है तथा मद्यसार या जल के साथ घोटने पर सफेद घोल बनता है। नवंबर से जुलाई तक के समय इसके वृक्षों को नीचे छीलते हैं तथा जो स्राव निकलता है उसे

संग्रह करते हैं। ताजी अवस्था में यह कनाडा बाल्सम की तरह दिखलाई देता है। प्राचीनों ने कुन्दुरु इसे ही माना है।

रासायनिक संगठन—इसमें गोंद, उड़नशील तैल एवं राल के समान एक अन्य द्रव्य रहता है।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, स्रंसन, रक्तशोधक, कफनिःसारक, उत्तेजक, मूत्रल, आर्तवजनन एवं त्वच्य है। इसके गुण मिह तथा गूगल के समान हैं।

इसका उपयोग ज्वर, स्वेद, जीर्ण कफविकार, रक्तविकार, प्रदर, रक्तातिसार, मुखरोग, कास, श्वास, मूत्रविकार, आर्तवविकार, वातनाडीसंस्थान के रोग, श्लेष्मल त्वचा के कफयुक्त विकार, पाण्डु एवं अनेक प्रकार के ग्रंथि, फोड़े एवं व्रण आदि में किया जाता है। इसका प्रयोग अन्य उपयुक्त औषधों के साथ गोली या चूर्णरूप में किया जाता है।

(१) पुराने एवं गहेदार व्रणों में टंकण, गन्धक, खैर एवं सलई गूगल का मलहम बहुत लाभदायक होता है। दुर्गंधित व्रणों में गरी का तेल या नीबू के रस में इसे मिलाकर लगाने से लाभ होता है।

(२) इसको गरम जल में घिसकर गण्डमाला, ग्रन्थि, बद, संधिवात एवं अस्थिशोथ आदि में लगाया जाता है एवं खिलाते भी हैं।

(३) पुराने सोजाक एवं फिरङ्ग में स्नेहन औषधों के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

(४) दुर्गंधयुक्त श्वास में बबूल के गोंद के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—५-१० र०।

१८ (अ) कुन्दुरु

हि०—कुन्दुरु, लबान, कुन्दुर, धुस। बं०—कुन्दुरुखोटी। म०—इ (वि) सेस। बं०—कुंदो। फा०—कुन्दुर। अ०—कुन्दुरे जकर, लबान, बस्तज। अं०—Olibanum (ऑलिबॅनम्), Frankincense (फ्रॅंकिन्सेस) । ले०—*Gum resin of Boswellia carterii Birdw. & other sp.* (गम रेज़िन ऑफ बॉस्वेलिया कार्टेराइ बर्ड, अण्ड अदर स्पीसीज) Fam. Burseraceae (बर्सेरॅसी)।

यह शल्लकी (सलई) की ही जाति के विदेशी वृक्ष का गोंद है जो अरब तथा अफ्रीका के एबीसीनिया नामकस्थान से आता है। बाजार में कुन्दुरु के नाम से यही बिकता है एवं बम्बई में इसका आयात होता है।

इसके छोटे, बड़े एवं अण्डाकार ५-२५ मि. मी. बड़े टुकड़े होते हैं जो कभी-कभी आपस में चिपके रहते हैं। इसका बाह्य स्तर मटमैला एवं पीताभ, नीलाभ या हरी आभा युक्त होता है। यह आसानी से टूट जाता है। भीतरी सतह चिकनी तथा अर्धपारदर्शक होती है। यह जलाने में जल्दी जलता है। यह सुगन्धित तथा स्वाद में कुछ कड़वा होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें गोंद तथा एक राल सदृश अन्य पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, उत्तेजक, कफनिःसारक, ग्राही तथा शोथहर है। इसके गुण सलई के गूगल के समान हैं। इसकी क्रिया श्लेष्मल त्वचा पर होती है। श्वसनसंस्थान की श्लेष्मल त्वचा पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। पाश्चात्य चिकित्सा के बाल्सम् पेरु तथा बाल्सम् टोलू के समान यह कार्य करता है किन्तु इससे आमाशय में कम प्रक्षोभ होता है।

(१) इसका उत्सर्ग श्वसनसंस्थान के द्वारा होने के कारण जीर्ण कफ विकार तथा अत्यन्त कष्टदार कफ गिरना आदि अवस्थाओं में इसे बदाम, शक्कर तथा जल के साथ खिलाते हैं। इससे

कफ की दुर्गन्ध दूर होती है तथा कफ कम होकर खांसी कम होती है। इसका धूम्रपान भी कराते हैं।

(२) सोजाक में इसको ५ र० की मात्रा में बदाम आदि के साथ या गोली के रूप में खिलाते हैं।

(३) कुन्दुरु, खसखस का तेल एवं सफेद मोम इनको मन्द आंच पर पिघला कर कपड़े से छान कर इस मलहम का प्रयोग ग्रन्थि, शोथ तथा व्रणों पर किया जाता है। बच्चों के फोड़े फुन्सी जल्दी फूट कर अच्छे हो जाते हैं। पाषाणगर्दभ पर लगाने से सूजन दूर हो जाती है। कार्बंकल पर इसका मलहम विशेष उपयोगी है।

(४) इसको बाष्प पर जल के साथ गरम करने से एक चिकट गोंद बनाता है। इसमें अफीम, धतूरा, खुरासानी अजवायन या बेलाडोना आदि मिलाकर, मोटे कपड़े पर लगाकर इसकी पट्टी को पीडायुक्त अङ्गों पर लगाने से वहां की रक्तवाहिनीयों का संकोच होने से तथा उस अंग की गति कम होने से पीड़ा शान्त होती है।

मात्रा—१०-३० रत्ती।

१८ (ब) लोहबान

हिं०–लोहबान, लोबान। **म०**–ऊद। **गु०**–लोबान। **अं०**–Benzoin (बेन्झोइन)। **ले०**–*Benzoinum* (बेन्झोइनम्)। वृक्षनाम—Styrax benzoin Dryand (स्टाइरॅक्स बेंझोइन ड्रायेंड)।

यह एक प्रकार का रालयुक्त गोंद है जिसके वृक्ष भारत में नहीं पाये जाते। इसके दो प्रकार मिलते हैं। उपर्युक्त नाम के वृक्ष से प्राप्त द्रव्य सुमात्रा बेंझोइन कहलाता है एवं दूसरे वृक्ष Styrax tonkinensis (Pierre) Craib ex Hartwich (स्टाइरॅक्स टॉन्किनेन्सिस्) से प्राप्त द्रव्य को स्याम बेंझोइन कहते हैं। इनके अतिरिक्त इसी जाति के अन्य वृक्षों से भी यह द्रव्य प्राप्त होता है। इसमें पर्याप्त मिलावट भी की जाती है।

सुमात्रा बेंझोइन में कुछ अपारदर्शक, श्वेताभ या रक्ताभ बदाम या कौडी के आकार के टुकड़े, रालदार रक्ताभ भूरे या धूसर भूरे द्रव्य के साथ मिले हुए रहते हैं। इसका स्वाद कुछ तीता तथा गंध हलकी किन्तु अप्रिय नहीं होती।

स्याम बेंझोइन के टुकड़े विभिन्न नाप के या चौपहल तथा कुछ चिपटे होते हैं। यह बाहर से पीताभ भूरे या रक्ताभ भूरे किन्तु अन्दर से दुधिया श्वेत और अपारदर्शक होते हैं। चौपहल टुकड़ों में चमकीले रक्ताभ भूरे रंग के लंब गोल टुकड़े राल के साथ मिले हुवे रहते हैं। इसमें वॅनिला की तरह गंध तथा बाल्सम् का विशिष्ट स्वाद होता है।

लोहबान को हलके हलके गरम करने से श्वेत वर्ण का धूँआ निकलता है जो ठंडी जगह पर रवेदार पदार्थ के रूप में जम जाता है। पोटॅशियम् परमन्गेट के घोल के साथ इसके चूर्ण को गरम करने से सुमात्रा बेंझोइन हो तो बेन्झेल्डिहाइड की हलकी गंध आती है। ५ सी. सी. लोबान का ईथरीय सत्व लेकर उसमें २, ३ बूंद गंधक का तेजाब मिलावे तो सुमात्रा बेंझोइन होने पर रक्ताभ भूरा एवं स्याम बेंझोइन में गहरा गुलाबी लाल रंग हो जाता है। ९० प्र० श० मद्यसार में पहले प्रकार का ७५% एवं दूसरे प्रकार का ९०% घुल जाता है।

गुण और प्रयोग—लोबान कफ निःसारक एवं प्रतिदूषक है। पुरानी खांसी में बदाम तथा गोंद के साथ इसको देने से कफ बाहर निकलने में मदद होती है। बस्तिशोथ आदि में भी इसको देते हैं। विभिन्न प्रकार के चर्म रोग तथा व्रण आदि में इसका बाह्य प्रयोग लाभदायक है।

अथ शिलारसः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

सिह्लकस्तु तुरुष्कः स्याद्यतो यवनदेशजः । कपितैलश्च संख्यातस्तथा च कपिनामकः ॥५२॥
सिह्लकःकटुकःस्वादुःस्निग्धोष्णःशुक्रकान्तिकृत् । वृष्यःकण्ठ्यःस्वेदकुष्ठज्वरदाहग्रहापहः ॥५३॥

शिलारस के नाम तथा गुण—यवनों (मुसलमानों) के देश में उत्पन्न होने से शिलारस को संस्कृत में तुरुष्क कहते हैं। सिह्लक, कपितैल, कपिनामक (अर्थात् कपि के पर्यायवाची सभी शब्द शिलारस के नामान्तर हैं) ये सब शिलारस के संस्कृत नाम हैं।

शिलारस—कटुरस युक्त, स्वादु, स्निग्ध, उष्णवीर्य, शुक्रजनक, कान्तिकारक, वृष्य तथा कण्ठ के लिये हितकारी होता है। यह स्वेद, कुष्ठ, ज्वर, दाह तथा ग्रहबाधा को दूर करने वाला होता है॥

१९ शिलारस

हि०, म०, बं०, क०—शिलारस। सिलारस। **गु०**—शेलारस। **ता०**—नेरिअरिशिप्पाल। **मल०**–रसमाल। **ते०**–शिलारसम्। **मा०**–शिलारस। **फा०**–अम्बर माइअ, अस्ले लवनी। **अ०**—मीअः साइला, लब्नी, वृक्षनाम–जिर्व, उस्तुरक। **अं०**–Liquid Storax (लिक्विड स्टोरॅक्स)। **ले०**–(वृक्ष नाम) *Liquidamber orientalis Miller* (लिक्विडम्बर ओरीएण्टॅलिस् मिलर)। Fam. Hamamelidaceae (हेमॅमेलिडेसी)।

शिलारस अरब देश से आता है। यह गोंद के समान एक सुगन्ध द्रव्य है। इसके वृक्ष एशिया माइनर में होते हैं। इसी वर्ग का अन्य वृक्ष ले. ॲल्टिंजिया एक्सेल्सा नोरोन्हा (Altingia excelsa Noronha) आसाम, भूटान, बर्मा, पूर्वी बंगाल, पेगू, चीन, मलाया और जावा आदि देशों में होता है जिससे निकले हुए शिलारस को विदेशी शिलारस का अच्छा प्रतिनिधि मानते हैं। इसका वृक्ष मध्यमाकार का अनेक शाखायुक्त; पत्ते–करतलाकार ५ खण्डयुक्त; पुष्प–पीत वर्ण के गोल गुच्छों में आते हैं। ३ या ४ वर्ष पुराने वृक्ष की छाल को चोट पहुँचाने से भीतरी छाल में स्राव जमा होता है। फिर बाहरी छाल को हटाकर भीतरी छाल को जल में उबालने से उसके साथ लगा हुआ शिलारस जल पर तैरने लगता है जिसे अलग कर लेते हैं।

शिलारस का आयात प्रधानतः फ्रांस से होता है। यह मधु के समान गाढा, वजन में जल से भारी, पिलाई लिए लाल या भूरे रंग का, मुलायम, चिपचिपा तथा तैलीय राल सदृश पदार्थ है। नये शिलारस में मिट्टी के तेल जैसी गन्ध होती है लेकिन पुराना होने पर अच्छी गन्ध आने लगती है। इसका स्वाद तीता होता है। इसकी अन्य जाति के वृक्षों से भी यह प्राप्त किया जाता है।

शोधन—पाश्चात्य चिकित्सा में इसको शुद्ध करके व्यवहार करते हैं। मद्यसार में इसे घोल एवं छान कर उस द्रव को उड़ जाने देते हैं तथा जो बचा रहता है उसे व्यवहार करते हैं। यह पीताभ भूरा, चिपचिपा, कुछ पारदर्शक एवं विशिष्ट सुगंध एवं स्वादयुक्त होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक तैलीय द्रव के साथ मिली हुई एक राल रहती है। राल में सिनेमिक एसिड (Cinnamic acid) के साथ संयुक्त स्टोरेसिनॉल् (Storesinol) नामक द्रव्य रहता है। तैलीय द्रव पदार्थ में स्टाइरॉल् (Styrol), एथिल सिनॅमेट (Ethyl cinnamate) एवं स्टाइरॅसिन (Styracin) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—शिलारस कफघ्न, मूत्रल, प्रतिदूषक, कृमिघ्न, कण्डूघ्न, व्रणरोपक एवं व्रणशोधक है। इसका कफघ्न धर्म सौम्य है। इसकी क्रिया लोहबान, बाल्सम् पेरु तथा बाल्सम् टोलू

सदृश होती है। इसका उत्सर्ग वृक्क तथा फुफ्फुस द्वारा होता है। कभी-कभी इससे वृक्क शोथ भी हो सकता है। औषधि तैलों को सुगन्धित करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। चरक में वात व्याधि के बला तैल के पाठ में 'तुरुष्क' का प्रयोग किया हुआ है।

(१) जीर्ण कास आदि कफविकारों में तथा राजयक्ष्मा में इसको अण्डे की सफेदी के साथ घोंटकर शहद मिलाकर चटाते हैं। इससे फुफ्फुसों को बल मिलता है।

(२) पुराना सोजाक एवं बस्तिशोथ आदि में मुलेठी के साथ इसको खिलाते हैं।

(३) त्वचा के रोगों में शिलारस का बहुत प्रयोग किया जाता है। इससे जूं तथा खुजली उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं का नाश होता है। इसे चौगुने तिल के तैल में मिलाकर पामा (Scabies), सिध्म तथा जीर्ण दाहयुक्त अपरस में लगाते हैं, इससे खुजली बहुत जल्दी कम हो जाती है। क्षयज व्रणों पर अकेले इसे लगाते हैं। इससे स्थानिक रक्ताभिसरण की वृद्धि होती है तथा क्षयज दण्डाणुओं का नाश होता है। वृषण शोथ में इसको लगाकर ऊपर से तम्बाखू या धतूरे का पत्ता बांधने से लाभ होता है।

मात्रा—५-१० रत्ती।

अथ जातीफलम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

जातीफलं जातिकोशं मालतीफलमित्यपि। जातीफलं रसे तिक्तं तीक्ष्णोष्णं रोचनं लघु ॥
कटुकं दीपनं ग्राहि स्वर्यं श्लेष्मानिलापहम् ॥ ५४ ॥
निहन्ति मुखवैरस्यं मलदौर्गन्ध्यकृष्णताः। कृमिकासवमिश्वासशोषपीनसहृद्रुजः ॥५५॥

जायफल के नाम तथा गुण—जातीफल, जातिकोश और मालतीफल ये सब 'जायफल' के संस्कृत नाम हैं। जायफल—रस में तिक्त होता है एवं तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रोचक, लघु और कटुरस युक्त भी होता है तथा अग्निदीपक, ग्राही एवं बिगड़े हुए गले के स्वर को ठीक करनेवाला होता है, तथा कफ, वात, मुख की विरसता, मलकी दुर्गन्ध एवं कालापन तथा कृमि, खांसी, वमन, श्वास, शोष, पीनस और हृद्रोग इन सबों को दूर करने वाला होता है ॥ ५४-५५ ॥

२० जायफल

हि०—जायफल, जायफर। बं०, गु०—जायफल। म०—जायफल, थांडा जायफल। पं०—जयफल। तै०—जाजिकाय। क०—जाजिके। ता०—जाडिक्के। ब्रह्मी०—झाडि·फू। सिलो०—जडिका। मलाया—बुशपल। फा०—जौज बूया। अ०—जौज़ बव्वा, जोजुत्तीब। अं०—Nutmeg (नटमेग)। ले०—*Myristica fragrans, Houtt* (मायरिस्टिका फ्रॅग्रेन्स, हाउट)। Fam. Myristicaceae (मायरिस्टिकॅसी)।

जायफल—सुमात्रा, जावा, सिंगापूर, मोलक्का, पिनांग एवं लंका तथा वेस्ट इण्डीज में अधिकता से उत्पन्न होता है। इस देश में इसके वृक्ष से फल पाना कष्ट साध्य है। नीलगिरी पर्वत के पूर्वीय भाग में कलूर की घाटी में बलियार के सरकारी बगीचों में तथा और दक्षिण में कोर्टेलम् की पहाड़ियों पर इसके पेड़ लगाये गये हैं।

इसका वृक्ष-सेव के वृक्ष के समान होता है और देखने में बहुत सुहावना हरे रङ्ग का मालूम पड़ता है। पत्ते-२ से ५ इञ्च तक लम्बे, १॥ इञ्च तक चौड़े, चर्मवत्, लंबे पर्णवृन्त से युक्त, अंडाकार या आयताकार भालाकार तथा हलके पीले-भूरे से रंग के होते हैं। फूल-छोटे-छोटे सफेद रङ्ग के

गोलाकार आते हैं। फल-गोल, अण्डाकार १॥ से २ इञ्च लम्बे, रक्ताभ या पीताभ तथा पकने पर दो फांकों में फट जाते हैं। इनके फटने पर कड़े आवरण से युक्त जायफल (सूखे हुए बीज) को घेरे हुवे जावित्री का लाल वर्ण का वेष्टन दिखाई देता है। जावित्री के अन्दर जायफल रहता है जिसका औषध में व्यवहार किया जाता है। जायफल अंडाकार, गोल तथा एक इञ्च के घेरे में होता है। बाहर से यह खाकीपन लिये हुए भूरा तथा सिकुड़ा हुआ दिखलाई पड़ता है और भीतर का रङ्ग मैला गुलाबी जिसमें लालिमा लिये हुए भूरे रंग के तंतुओं का जाल होता है। इसकी गन्ध एक स्वतन्त्र प्रकार की तेज और स्वाद सुगन्ध युक्त कड़वा होता है।

औषध के अतिरिक्त जायफल तथा इसके तैल का उपयोग मसाले, साबुन तथा सुगंधि आदि में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—जायफल में ५-१५% एक पतला हलके पीले रंग का उड़नशील तैल पाया जाता है जो इसमें का कार्यकारी तत्त्व है। इसमें २४-४०% एक स्थिर तैल भी होता है जिससे साबुन की तरह गाढा एक स्नैहिक पदार्थ प्राप्त होता है। इसे बांडा साबुन या नटमेग-बटर (Nutmeg-butter) कहते हैं। इसकी पीले रंग की साबुन की तरह बट्टियां बिकती हैं। इसके स्नैहिक अम्लों में प्रधानतया (करीब ६१%) मायरिस्टिक् एसिड (Myristic acid) रहता है। इनके अतिरिक्त जायफल में सुगंधि बालसम्, स्टार्च तथा रेशेदार पदार्थ पाये जाते हैं। इसके उड़नशील तैल में मुख्यतया यूजेनॉल (Eugenol) तथा आइसो यूजेनॉल (Iso-eugenol) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—जायफल तथा इसका तैल सुगंधि, ग्राही, दीपन, वातानुलोमक, उत्तेजक, मादक, पौष्टिक, वाजीकर, स्तंभन, मुख दौर्गन्ध्यहर तथा वेदना स्थापन है। इसके सेवन के पश्चात् आमाशयिक पाचक रसों की वृद्धि होने से भूख बढ़ती है तथा पाचन सुधरता है एवं वायु का अनुलोमन भी होता है।

अधिक मात्रा में इसका मस्तिष्क पर प्रभाव कपूर के विषैले परिणाम के सदृश होता है। गतिनियंत्रक केन्द्र की उत्तेजना से अपस्मार सदृश आक्षेप आते हैं। यह तीव्र संज्ञाहर (Narcotic) है तथा इससे चक्कर तथा संन्यास आदि उत्पन्न हो जाता है।

इसका प्रयोग कुपचन, अग्निमांद्य, आध्मान, अतिसार, हृल्लास, वमन, गले के रोग, कफ तथा वातविकार, हृद दौर्बल्य, क्लीबत्व, शीघ्रपतन एवं अनिद्रा आदि में किया जाता है। विरेचक औषधों के ऐंठन, मरोड़ आदि दुष्परिणामों को दूर करने के लिये तथा अन्य उत्तेजक एवं वातानुलोमक औषधों के निर्माण में इसके तैल का पाश्चात्य चिकित्सा में बहुत उपयोग किया जाता है।

(१) उदरशूल, अतिसार एवं बच्चों के आमातिसार आदि में इसे भूनकर नशा आने की मात्रा में देते हैं। वातानुलोमक तथा उत्तेजक गुणों के लिये इसके तैल को मिश्री के साथ खिलाते हैं। अजीर्ण में प्यास बहुत लगे तथा वमन होता हो तो इसका हिम लाभदायक होता है।

(२) अफीम के साथ अनेक स्तंभक योगों में इसका उपयोग किया जाता है।

(३) शिरःशूल, नाडीशूल, प्रसव कालीन कटिशूल, अंगघात तथा विपादिका में इसको जल में घिसकर लगाने से लाभ होता है। व्यंग तथा नीलिमा में इसको जल में घिसकर लगाया जाता है। मुखदुर्गंधि दूर करने के लिये इसे चबाते हैं।

(४) इसके तैल में ओलिव्ह ऑइल मिलाकर जीर्ण आमवात में मालिश की जाती है। तैल से दंतशूल में लाभ होता है। इसका गाढा तैल वेदनाहर होता है तथा जीर्ण संधिशोथ, मोच

एवं मरोड में मालिश किया जाता है। विसूचिका में हाथ एवं पैरों की ऐठन में भी इसके मलने से लाभ होता है।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—बंबई जायफल, रामफल या जंगली जायफल नाम से मायुरिस्टिका मलबारिका लॅम (Myristica malabarica Lam.) के फलों को लोग इसके स्थान पर व्यवहार करते हैं इसके वृक्ष कोंकण, कर्नाटक तथा उत्तर मलबार प्रान्तों में पाये जाते हैं। इससे जो पत्री निकलती है उसे रामपत्री या बंबई की जायपत्री कहते हैं। ये जंगली जायफल अधिक लंबे, कम चौड़े, किंचित् मुलायम एवं करीब २ गंधहीन होते हैं। ये जायफल की अपेक्षा हीन गुण वाले होते हैं।

कभी २ खराब जायफल तथा मिट्टी आदि मिलाकर सांचे के द्वारा बने हुवे नकली जायफल भी बाजार में बिकते हैं।

मात्रा—चूर्ण २-८ र०; तैल १-५ बूंद।

अथ जातीपत्री । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

जातीफलस्य त्वक् प्रोक्ता जातीपत्री भिषग्वरैः ॥ ५६ ॥

जातीपत्री लघुः स्वादुः कटूष्णा रुचिवर्णकृत् । कफकासवमिश्वासतृष्णाकृमिविषापहा ॥५७॥

जावित्री के नाम तथा गुण—वैद्यों में जो श्रेष्ठ हैं वे लोग 'जायफल' के छिल्के को ही 'जावित्री' कहते हैं। जातीपत्री या जातिपत्री और जातिकोष आदि संस्कृत नाम 'जावित्री' के हैं। जावित्री—लघु, स्वादिष्ट, कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, रुचिजनक तथा वर्णकारक होती है एवम् यह कफ, खांसी, वमन, श्वास, तृष्णा, कृमि और विषविकार इन सबों को दूर करने वाली भी होती है॥

२१ जावित्री

हि०—जावित्री, जायपत्री। **बं०**—जायित्री, जैत्री। **म०**—जायपत्री। **गु०**—जावंत्री। **क०**—जायपत्री। **ते०**—जातिपत्री। **फा०**—बज्बाज। **अ०**—बस्बास (सः)। **अं०**—Mace (मेस)। **ले०**—*Myristica fragrans Houtt* (मायुरिस्टिका फ्रॅग्रेन्स् हाउट)। Fam. Myristicaceae (मायरिस्टिकॅसी)।

जिस वृक्ष से जायफल उत्पन्न होता है उसी से जावित्री भी उत्पन्न होती है। इस वृक्ष के वास्तविक फल के भीतर के बीज (जायफल) से लिपटा हुआ लालरङ्ग का जालीदार जो वेष्टन दिखाई देता है वही जावित्री है। अन्य वानस्पतिक वर्णन जायफल के साथ पहले किया जा चुका है।

रासायनिक संगठन—इसमें जायफल की तरह ही एक उड़नशील तैल ८-१७% पाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थिर तैल, राल, वसा, शर्करा, डेक्स्ट्रीन एवं गोंद आदि पदार्थ इसमें होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण जायफल के समान होते हैं। यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक, कफहर, रूचिकर, वर्ण्य एवं वृष्य है।

इसका उपयोग कास, कफयुक्त श्वास, क्षयरोग, मन्दज्वर, वमन, आंतों के जीर्ण विकार, विसूचिका एवं कृमि आदि में किया जाता है।

मात्रा—२-८ र०।

अथ लवङ्गम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

लवङ्गं देवकुसुमं श्रीसंज्ञं श्रीप्रसूनकम् । लवङ्गं कटुकं तिक्तं लघु नेत्रहितं हिमम् ॥ ५८ ॥
दीपनं पाचनं रुच्यं कफपित्तास्रनाशकृत् । तृष्णां छर्दिं तथाऽऽध्मानं शूलमाशु विनाशयेत् ।
कासं श्वासञ्च हिक्काञ्च क्षयं क्षपयति ध्रुवम् ॥ ५९ ॥

लौंग के नाम तथा गुण—लवङ्ग, देवकुसुम, श्रीसंज्ञ (लक्ष्मीवाचक सम्पूर्ण शब्द लवङ्गवाचक हैं) और श्रीप्रसूनक ये सब 'लौंग' के संस्कृत नाम हैं। लौंग—कटु तथा तिक्त रस युक्त, लघु, नेत्र के लिये हितकर, शीतवीर्य, अग्नि को दीप्त करने वाली, पाचक एवम् रुचिकारक होती है तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, तृषा, वमन, आध्मान, शूल, कास, श्वास, हिचकी एवम् क्षय इन सब रोगों को प्रायः शीघ्र तथा निश्चय दूर करती है॥ ५८-५९॥

लौंग

हि०—लौंग, लौंग, लवंग। **बं०**, **म०**—लवग। **गु०**—लवींग। **क०**—लवंग कलिका, रूंग। **ते०**—करवप्पु, लवंगमु। **ता०**—किरांबु। **मा०**—लोंग। **फा०**—मेखक। **अ०**—करन्फल, करन्फुल। **अं०**—Cloves (क्लोवस्)। **ले०**—*Caryophyllus aromaticus Linn.* (कॅरियोफालस् एरोमॅटिकस् लिन.); *Eugenia aromatica Kuntze* (यूजेनिया एरोमॅटिका कुंद्ज़े); *Syzygium aromaticum (Linn.) Merr. & L. M. Perry* (सिझिगियम् एरोमॅटिकम् (लिन.) मेर. पेरी)। Fam. Myrtaceae (मिर्टेसी)।

इसका वृक्ष मोलुक्का द्वीप में नैसर्गिक रूप से उत्पन्न होता है। झंजिबार तथा पेम्बा में इसकी बहुत खेती की जाती है तथा करीब ९०% लौंग की पूर्ति वहीं से होती है। पेनांग, मेडागास्कर, मॉरिशस् एवं सीलोन आदि स्थानों में भी इसकी खेती की जाती है। भारतवर्ष में दक्षिण भारत में अल्प मात्रा में इसकी खेती का प्रयत्न किया गया है। इसके वृक्ष-प्रायः १२-१३ हाथ ऊँचे और सतेज होते हैं तथा देखने में बहुत सुहावने लगते हैं। काण्ड-इसकी लकड़ी कठोर होती है तथा इस पर धूसर वर्ण की चिकनी छाल होती है। पत्ते-अभिमुख, सवृन्त, ४ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े, लट्वाकार-आयताकार; फलकमूल एवं अग्र दोनों पतले एवं लम्बे; पत्रतट अखण्ड किन्तु लहरदार एवं मध्य नाडी के दोनों तरफ अनेक समानान्तर नाड़ियाँ होती हैं। पत्ते चमकीले हरे रंग के होते हैं तथा मसलने से इनमें सुगन्ध आती है। पुष्प-इसके नीलारुण (Purple) रंग के, ६ मि० मि० लम्बे तथा अत्यन्त तीव्र आह्लादकारक सुगन्ध वाले होते हैं।

इस वृक्ष की सुखी हुई पुष्प कलिकाओं को लौंग कहा जाता है। ये पहले हरी होती हैं। बाद में जब इनका रंग किरमिजी हो जाता है तब इन्हें वृक्षों से तोड़ कर सुखा लिया जाता है। इसी समय इनमें तैल की मात्रा अधिकतम रहती है। लौंग १०-१७.५ मि० मि० लम्बी तथा रक्ताभ बादामी रंग की होती है। इसके नीचे का भाग जो हाइपॅन्थियम् (Hypanthium) से बना होता है वह चौकोर तथा कुछ चपटा होता है तथा नख से दबाने पर उसमें से तैल निकलता है एवं इसके अग्र भाग में दो कोष रहते हैं जिनके अन्दर अक्षलग्न जरायु से लगे हुए अनेक बीजाँभव (Ovule) होते हैं। लौंग के ऊपर के भाग में मोटे, नुकीले तथा फैले हुए ४ बाह्यदल होते हैं जिनके बीच में गुम्बजाकृति हलके रंग के, न फैले हुए, पतले तथा अनियतारूढ (Imbricate) ४ अन्तर्दल होते हैं। अन्तर्दलों के अन्दर अनेक अन्दर की तरफ मुड़े हुए पुंकेशर होते हैं तथा एक स्त्री केशर होता है जिसका कुक्षिवृन्त सीधा तथा कड़ा होता है। लौंग में अत्यन्त तीव्र मसालेदार गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कटु होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें १५-२०% एक उड़नशील तैल पाया जाता है जिसमें ८५-९२% यूजेनॉल (Eugenol, $C_{10}H_{12}O_2$) रहता है। इसके अतिरिक्त लौंग में टॅनिन् (गॅलोटॅनिक् ॲसिड् १३%) एवं फाइटोस्टेराल सदृश एक कॅरियोफाइलीन् (Caryophyllene) नामक गन्धहीन, स्वादरहित, रंगहीन रवेदार पदार्थ पाया जाता है।

लौंग के तेल में फेनॉल के समान यूजेनॉल नामक एक महत्त्व का पदार्थ रहता है। इसके अतिरिक्त तैल में ॲसिटिल् यूजेनॉल (Acetyl eugenol 10%), मेथिल् सॅलिसिलेट (Methyl salicylate , मेथिलॲमिलकीटोन् (Methylamylketone, $C_5H_{11}COCH_3$); व्हॅनिलिन् (Vanillin), कॅरियोफाइलीन् (Caryophyllene) तथा फर्फ्यूरॉल (Furfurol, $C_5H_4O_2$) ये पदार्थ पाये जाते हैं। यह तैल ताजी अवस्था में रंगहीन या हलके पीले रंग का होता है लेकिन वह पुराना होने पर या खुला रखने पर गहरे रक्ताभ बादामी रंग का हो जाता है।

गुण और प्रयोग—लौंग सुगन्धि, पाचक, वातानुलोमक, उत्तेजक, अग्निदीपक, उद्वेष्टननिरोधि, कफघ्न, मूत्रजनन, रुचिकर, दुर्गन्धनाशक, श्वेतकणवर्धक, वृष्य एवं कृमिघ्न है। यह स्थानिक वेदनाहर, व्रणरोपक एवं व्रणशोधक है।

इसका उपयोग उदरशूल, आध्मान, अजीर्ण, कास, तृष्णा, वमन, विसूचिका, क्षय तथा सुगन्धि पदार्थ के रूप में मसाले आदि में किया जाता है।

(१) लौंग के फांट (४० में १) को १ से २ तोला की मात्रा में विसूचिका में प्यास की शान्ति के लिये देते हैं। इससे जी मिचलाना भी कम होता है तथा वमन कम हो जाता है। गर्भिणी-वमन में इसके चूर्ण को मधु के साथ चटाया जाता है।

(२) अजीर्ण, आध्मान एवं उदरशूल आदि में इसका फांट या चूर्ण खिलाया जाता है।

(३) गले की सूजन, कुकास, कास, मुख एवं श्वास की दुर्गन्ध तथा जीमिचलाना आदि में लौंग दिये पर भून कर या उसी तरह मुख में रख कर चूसते हैं। इससे मसूड़े मजबूत होते हैं।

(४) प्रतिश्याय एवं मस्तकशूल में लौंग को गरम जल में घिस कर ललाट पर लगाते हैं।

लौंग का तैल—इसके गुण भी लौंग के समान ही होते हैं। इसका उत्सर्ग वृक्क, चर्म, श्वसनसंस्थान, आंत्र तथा यकृत आदि से होता है। चरक-सुश्रुत में इसका उल्लेख नहीं मिलता। सिगरेट के लिये प्रयुक्त तम्बाकू को सुगन्धित करने के लिये जावा, सुमात्रा तथा जापान आदि स्थानों में इसका उपयोग किया जाता है। अनेक औषधों को सुगन्धित करने के लिये तथा विरेचक औषधों के साथ मरोड़ आदि न हो इसलिये इसका उपयोग करते हैं। मच्छर भगाने के लिये सोते समय इसे थोड़ा सा खुले अङ्गों पर लगा देने से मच्छर नहीं काटते। तैलों को सुगन्धित करने के लिये तथा पदार्थ संरक्षण के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

इसका बाह्य प्रभाव कपूर के सदृश होता है। यह स्थानिक उत्तेजक, त्वग्रागकारक, प्रतिक्षोभक, अल्पवेदनाहर, कृमिघ्न, सड़न को रोकने वाला एवं प्रतिदूषक है।

(१) मिश्री पर डाल कर या गोंद के साथ मिश्रण के रूप में इसको आन्त्रिकशूल तथा आध्मान में खिलाते हैं

(२) क्षयजकास में कफ कम करने के लिये इसको खिलाते हैं।

(३) दन्तशूल में दांत के गड्ढे में इसका फाहा रखने से बहुत लाभ होता है। सन्धिपीडा, गृध्रसी, कटिशूल एवं वातनाडीशूल आदि में इसको लगाया जाता है। तिलाओं में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण—बाजार में तैल निकाली हुई लौंग भी बिकती है। इसे नख से दबाने पर तैल नहीं निकलता तथा उसके जल में डालने पर यह तैरती है एवं इसका रंग भी कुछ हलका रहता है। लौंग के चूर्ण में डंठल के टुकड़े का चूर्ण मिला दिया जाता है। लौंग के पक्व फल भी मदरक्लोव्ह्स (Mother cloves) नाम से बिकते हैं लेकिन उनमें तैल बहुत कम रहता है तथा उनके बीज में रहने वाले बड़े स्टार्च के कण से इनकी पहचान की जा सकती है। टूटे हुए पुंकेसर, अन्तर्दल एवं विकसित फूल जिनके पुंकेसर एवं अन्तर्दल निकाल लिये गये हों इनका मिश्रण लौंग के चूर्ण में व्यापारी कर देते हैं। लौंग में १५% से कम तैल नहीं होना चाहिये।

मात्रा—चूर्ण १-२½ रत्ती; तैल १-३ बूंद।

अथ स्थूलैला (बड़ी इलायची) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

एला स्थूला च बहुला पृथ्वीका त्रिपुटाऽपि च ॥ ६० ॥
भद्रैला बृहदेला च चन्द्रबाला च निष्कुटिः। स्थूलैला कटुका पाके रसे चानलकृल्लघुः[1] ॥
रूक्षोष्णा श्लेष्मपित्तास्रकण्डूश्वासतृषाऽपहा। हृल्लासविषवस्त्यास्यशिरोरुग्वमिकासनुत् ॥६२॥

बड़ी इलायची के नाम तथा गुण—एला, स्थूला, बहुला, पृथ्वीका, त्रिपुटा, भद्रैला, बृहदेला, चन्द्रबाला, निष्कुटि तथा स्थूलैला ये सब संस्कृत नाम 'बड़ी इलायची' के हैं। बड़ी इलायची-पाक तथा रस (स्वाद) में कटु होती है एवं अग्निजनक, लघु, रूक्ष और उष्णवीर्य होती है। यह कफ, पित्त, रक्तविकार, कण्डू (खुजली), श्वास, तृषा, हृल्लास (वमन मालूम पड़ना अर्थात् जीमिचलाना), विष एवं वस्ति, मुख तथा शिर सम्बन्धी रोग, वमन तथा खासी को दूर करने वाली होती है ॥ ६०-६२ ॥

२३ बड़ी इलायची

हि०-बड़ी इलायची, पूर्वी इलायची, लाल इलायची। बं०-बड़ा इलाची। म०-मोठी एलची, मोठे वेलदोड़े। गु०-एलचा, मोटी एलची। ते०-पेद्दायेलाकी। ता०-पेरेलम, पेरिय एलके। क०-डोड्डा एलाकी। फा०-हीलकलाँ। अ०-काकुले कुबार, काकुले जंजी। अं०-Nepal or Greater Cardamom (नेपाल या ग्रेटर कार्डेमोम्); Amomum (ॲमोमम्)। ले०-*Amomum subulatum Roxb.* (एमोमम् सबुलॅटम् राक्स)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरेसी)।

इसकी खेती नेपाल, बंगाल, सिक्किम तथा आसाम के पहाड़ी भागों के पास में गीली भूमि में की जाती है।

इसका क्षुप-आमा हलदी के समान होता है और उसकी जड़ के नीचे कन्द रहता है। पत्रवृन्त-३-४ फुट ऊँचा होता है। पत्ते-१-२ फुट लम्बे, ३-४ इञ्च चौड़े, आयताकार-भालाकार, हरे एवं चिकने होते हैं। फूल-अवृन्तकाण्डज व्यूहों (Spike) में नलिकाकार सफेद रङ्ग के आते हैं। फल-किञ्चित् लम्बाई लिये गोल, १ इञ्च तक लम्बे तथा लाल भूरे रङ्ग के होते हैं। बीज-शर्करायुक्त गाढे गूदे के कारण आपस में चिपके हुए अनेक बीज प्रत्येक कोष में होते हैं।

---

[1] 'चानिलकृल्लघुः' इति पाठा० अशुद्धम्।

बड़ी इलायची की बहुत-सी उपजातियाँ भारतवर्ष में पाई जाती हैं जिनमें से (ले०) अमोमम् ॲरोमॅटिकम् राक्स (Amomum aromaticum Roxb.); हिं०, बं०-**मोरंग इलायची** पूर्वी बंगाल तथा आसाम के आस-पास बहुत उत्पन्न होती है। यह बंगाल कार्डेमोम् (Bengal Cardamom) नाम से भी कही जाती है। हिमालय की तराई में आसाम तथा बंगाल के आर्द्र प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है। इसके **क्षुप**-के २-३ फीट लम्बे काण्ड, राइझोम से एक साथ गुच्छों में निकलते हैं। **पुष्प**-हलके पीले रंग के अवृन्तकाण्डज व्यूहों में निकलते हैं। **फल**-अभि-अण्डाकार या लट्वाकार करीब बड़े जायफल के इतने बड़े कुछ खुरदरे तथा ३ हिस्सों में विभक्त होते हैं। बीज-प्रत्येक कोष में अनेक तथा करीब ३ मि० मि० लम्बे होते हैं।

रासायनिक संगठन—बड़ी इलायची में एक हलके पीले रंग का उडनशील तैल पाया जाता है। इस तैल में सिनिओल् (Cineol) नामक पदार्थ बहुत रहता है।

गुण और प्रयोग—यह किंचित् उष्ण, पाचक, सुगन्धि, उत्तेजक एवं वातानुलोमक है। इसके गुण छोटी इलायची के सदृश हैं तथा उसके प्रतिनिधि रूप में इसका व्यवहार किया जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में बड़ी एला का बहुत कम प्रयोग किया गया है। इलायची के स्थान में हमेशा छोटी इलायची का ही प्रयोग करना चाहिये जबतक कि विशेष रूप से बड़ी इलायची के लेने का निर्देश न हो। अनेक कड़वी, उत्तेजक तथा विरेचक औषधों के साथ इसका उपयोग किया जाता है। इसके तैल का उपयोग सुगन्ध के लिये करते हैं।

मन्दाग्नि, आध्मान, शूल, अतिसार, यकृत्शोथ तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका उपयोग किया जाता है।

(१) दाँत तथा मसूढ़ों के विकारों में इसके क्वाथ से कुल्ला कराया जाता है।

(२) पचन संस्थान के कुछ विकारों में जिनमें आन्त्रिक स्राव गाढ़े तथा कम हो जाते हैं इसको ५ र० की मात्रा में खिलाते हैं। इससे पित्त का स्राव ठीक होकर यकृत्शोथ कम होता है।

(३) मूत्रल औषध के रूप में अश्मरी में इसको खरबूजे के बीज के साथ खिलाते हैं।

(४) नाडीशूल में २ माशे की मात्रा में इसको किनीन के साथ देने से लाभ होता है।

मात्रा—५-१५ र०।

अथैला (गुजराती इलायची)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

सूक्ष्मोपकुञ्चिका तुत्था कोरङ्गी द्राविडी त्रुटिः। एला सूक्ष्मा कफश्वासकासार्शोमूत्रकृच्छ्रहृत्।
रसे तु कटुका शीता लघ्वी वातहरी मता ॥ ६३ ॥

छोटी इलायची (गुजराती इलायची) के नाम तथा गुण—सूक्ष्मा, उपकुञ्चिका, तुत्था, कोरङ्गी, द्राविडी, त्रुटि तथा सूक्ष्मैला ये सब 'छोटी इलायची' के संस्कृत नाम हैं।

छोटी इलायची—कफ, श्वास, कास, अर्श (बवासीर) और मूत्रकृच्छ्र इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है तथा कटु रसयुक्त, शीतवीर्य, लघु एवं वातनाशक होती है ॥ ६३ ॥

२४ छोटी इलायची

हिं०—छोटी इलायची, गुजराती इलायची, चौहरा इलायची, सफेद इलायची। **बं०**—छोट इलायच। **गु०**—एलची कागदी, एलची, मलबारी एलची। **म०**—बारीक वेलदोडे, एलची। **ते०**—

एलाकि। **ता०**—एलाक्के, चिन्न एलं। **मा०**—छोटी इलायची। **क०**—एलाक्कि। **फा०**—हीलबवा, हील, खैरबवा, इलायची खुर्द, हीलडन्सा। **अ०**—काकुलह सिगार, क्षुशमीर। **अं०**—Cardamom Fruit (कार्डेमोम् फ्रूट); Lesser Cardamom (लेसर कार्डेमोम्)। **ले०**—*Elettaria cardamomum Maton* (इलेट्टेरिआ कार्डेमोमम् मेटन)। Fam. Zingiberaceae झिंजीबेरॅसी)।

यह पश्चिम तथा दक्षिण भारत में, कनारा, मैसूर, कुर्ग, वैनाड, ट्रावंकोर तथा कोचीन में आर्द्र पहाड़ी जंगलों में उत्पन्न होती है। सीलोन तथा दक्षिणी प्रायःद्वीप के चाय, कॉफी एवं रबर के बगानों में इसकी खेती की जाती है। बर्मा के जंगलों में भी यह उत्पन्न होती है।

इसका **क्षुप**-अदरख के क्षुप के समान तथा बहुवर्षायु होता है और इसकी जड़ के नीचे मोटा, मांसल तथा अनुप्रस्थ फैला हुआ राइझोम (भौमिक काण्ड) रहता है। राइझोम से ८-२० की संख्या में सीधे, चिकने, हरे रंग के चमकीले तथा ६-९ फीट ऊँचे काण्ड निकलते रहते हैं जिन पर एकान्तरित पत्र लगे होते हैं। **पत्ते**-१-२ फुट लम्बे, ३ इञ्च तक चौड़े, आयताकार-भालाकार तथा कोषाकार होते हैं। **पुष्पदण्ड**-कांड के आधार भाग से १-२ फीट लम्बा पुष्पदण्ड निकला रहता है जो जमीन पर फैला रहता है। **पुष्प**-पुष्पव्यूहों में तथा किंचित् नील लोहिताभ वर्णयुक्त छोटे-छोटे होते हैं। पंखड़ियों के ओष्ठ श्वेत होते हैं। **फल**-हलके पीले या हरिताभ पीत रङ्ग के, १-२ से० मि० लम्बे, अण्डाकार, बड़े फल कुछ तिकोने, ३ कोषवाले, अनेक महीन खड़ी धारियों से युक्त सामान्य स्फोटी फल (Capsule) होते हैं जिनका स्फुटन पार्श्विक सन्धियों (Loculicidal) पर होता है। बीज-फलों के अन्दर अनेक छोटेबीज होते हैं जो प्रत्येक कोष में दो-दो कतारों में एवं अक्षलग्न जरायु से लगे हुए एक साथ रहते हैं। यह हलके या गहरे रक्ताभ भूरे रङ्ग के, ४ मि० मि० लम्बे, ३ मि० मि० चौड़े, अनियमित कोण युक्त, कड़े एवं ६-८ आड़ी झुर्रियों (Rugae-रूगी) से युक्त होते हैं। प्रत्येक बीज महीन वर्णहीन आवरण (Aril -ॲरिल्) से युक्त रहता है। इसका स्वाद कुछ कटु तथा शीतल एवं गन्ध मनोहर होती है। इलायची के प्रयोग के समय ही उसके बीजों को निकालना चाहिये। निकाल कर रखे हुए बीज खराब हो जाते हैं।

भेद-(१) मैसूरी इलायची ही अधिकतर बिकती है। यह अण्डाकार, १०-२० मि० मि० लम्बी, हलके क्रीम के रंग की, करीब-करीब चिकनी तथा मजबूत रहती है। यह मलाबारी इलायची की अपेक्षा अधिक टिकाऊ रहती है।

(२) मलबारी इलायची कुछ छोटी, कम चौड़ी, भरी हुई एवं लम्बाई में झुर्रीदार रहती है।

(३) मंगलोरी इलायची, मलबारी इलायची की ही तरह होती है किन्तु यह गोल, बड़ी तथा इसकी सतह खुरदरी होती है।

(४) अलेप्पी इलायची, मलबारी इलायची की ही सदृश किन्तु हरी या हरिताभ पीत रङ्ग की रहती हैं।

रासायनिक संगठन—छोटी इलायची के बीजों में ३-८% एक उड़नशील तैल पाया जाता है जिसमें प्रधान रूप में टर्पीनेन् (Terpinene) एवं टर्पिनिओल् (Terpineol) रहते हैं। इसमें टर्पिनिल् ॲसिटेट (Terpinyl acetate) एवं स्वल्प मात्रा में सीनिओल् (Cineol) भी पाये जाते जाते हैं। उड़नशील तैल के अतिरिक्त बीजों में ३-४% स्टार्च, नाइट्रोजन युक्त गोंद एवं पीत रञ्जक द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—छोटी इलायची दीपन, पाचन, रोचन, मूत्रल, वातानुलोमक, उत्तेजक एवं सुगन्धि है। अन्य सुगन्धि पदार्थों के साथ वातानुलोमक औषधों में तथा विरेचक औषधों के साथ मरोड़ न हो इसलिये इसका उपयोग किया जाता है। पाश्चात्य चिकित्सा में जीरा, दालचीनी,

कोचीनेल (इन्द्रगोप) एवं ग्लीसरीन के साथ छोटी इलायची का बना हुआ मद्यसारीय टिंक्चर औषधों को सुगन्धित एवं रंजित करने के लिये बहुत व्यवहार में लाया जाता है।

छोटी इलायची का उपयोग श्वास, कास, क्षय, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, अजीर्ण, अतिसार, आध्मान एवं उदर शूल में किया जाता है।

(१) पचन नलिका के शिथिलता प्रधान रोगों में तथा दाहयुक्त रोगों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। आंत्रिक रस की उत्पत्ति कम होती हो तथा पित्त का उचित रूप से स्राव न होता हो ऐसी अवस्थाओं के लिये यह अमूल्य औषध है। वमन तथा हृल्लास में इसका फांट पिलाते हैं। उदर शूल, आध्मान एवं मरोड़ आदि में इलायची २ ड्राम, धनियां २ ड्राम, दालचीनी ४ ड्राम, मुनक्का १ औंस, रक्त चन्दन २ ड्राम एवं मद्यसार (४५%) १ पाइंट इसका टिंक्चर २-८ बूंद देने से बहुत लाभ होता है। केले के अजीर्ण में इलायची का उपयोग किया जाता है। आंव तथा प्रवाहिका में मक्खन के साथ इसका चूर्ण खिलाया जाता है। यकृत शोथ में ५ र० की मात्रा में इससे बहुत लाभ होता है।

(२) वृक्क के पीडायुक्त विकारों में खरबूजे के बीज के साथ इसे खिलाते हैं। इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है। सोजाक में तथा वाजीकरण के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। मूत्रकृच्छ्र में आंवले के रस के साथ या दही के पानी के साथ इसका चूर्ण लाभदायक होता है।

(३) नेत्र रोगों में इसके सूक्ष्म चूर्ण को बकरी के मूत्र की भावना देकर अञ्जन कराया जाता है।

(४) हृदय की धड़कन में पिप्पलीमूल के साथ इसको घी में मिला कर खिलाते हैं। गुल्म में भी इससे लाभ होता है।

(५) नाडीशूल में १५ र० की मात्रा में छोटी इलायची का चूर्ण थोड़ी सी क्विनीन के साथ मिला कर देने से बहुत लाभ होता है। मस्तिष्क तथा वातनाड़ियों की थकावट में यह लाभदायक होती है।

(६) चक्कर आते हों तो छिलके सहित इसका क्वाथ गुड़ मिला कर पिलाया जाता है।

प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण—लंका से आने वाली एक जंगली छोटी इलायची होती है जो कुछ लम्बी, सिकुड़ी हुई एवं गहरे धूसरित भूरे रंग की होती है। इसके बीजों में करीब ४ झुर्रियां होती हैं। एक अन्य ॲमोमम् केपुलेगा स्प्रेग, बर्कि (Amomum kepulaga Sprague & Burkill) नामक क्षुप से प्राप्त इलायची के बीजों में कपूर की तरह स्वाद रहता है तथा उसमें करीब १४ खण्डित झुर्रियां रहती हैं।

इसमें बूरा लगी हुई, अपक्व, कीड़ों द्वारा खाई हुई एवं फटी हुई इलायची का व्यामिश्रण रहता है।

मात्रा—चूर्ण ५-१५ रत्ती।

अथ त्वक्पत्रम् (तज)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

त्वक्पत्रञ्च वराङ्गं स्याद् भृङ्गं चोचं तथोत्कटम्। त्वचं लघूष्णं कटुकं स्वादु तिक्तञ्च रूक्षकम्॥
पित्तलं कफवातघ्नं कण्ड्वामारुचिनाशनम्। हृद्बस्तिरोगवातार्शःकृमिपीनसशुक्रहृत्॥ ६५॥

तज के नाम तथा गुण—त्वक्पत्र, वराङ्ग, भृङ्ग, चोच, उत्कट और त्वच ये सब 'तज' के संस्कृत नाम हैं। तज-लघु, उष्णवीर्य, कटु तथा तिक्त रस युक्त, स्वादिष्ट और रूक्ष होती है एवं

यह पित्त उत्पन्न करने वाली, कफ तथा वात को दूर करने वाली, खुजली, आम, अरुचि, हृद्रोग, बस्तिसम्बन्धी रोग, वात, अर्श, कृमि, पीनस तथा शुक्र का भी नाश करने वाली होती है॥६४-६५॥

तज—दालचीनी का ही एक भेद है। दालचीनी के अनेक जातियों के वृक्ष पाये जाते हैं। लंका से आने वाली दालचीनी पतली छाल वाली होती है जो सबसे अच्छी होती है। इसके वृक्ष को (ले.) सिनेमोमम् झेलॅनिकम् कहते हैं। उसका वर्णन आगे स्वतंत्र किया गया है। एक दालचीनी चीन देश से आती है जिसके वृक्ष को (ले.) सिनेमोमम् कॅशिआ कहा जाता है। इसी के जाति का एक वृक्ष भारतवर्ष में पाया जाता है जिसे (ले.) सिनेमोमम् तमाल कहते हैं। इसी की छाल को कुछ लोग तज कहते है तथा इसके पत्तों को तमालपत्र (तेजपत्र) कहते हैं। इसको कहीं-कहीं दालचीनी नाम से ही या असली सिंगापुरी दालचीनी में मिलावट करके बेचते हैं क्योंकि सिंगापुरी दालचीनी बहुत मंहगी होने के कारण बजार में कम आती है। इसके अनेक जाति के वृक्ष होने के कारण भिन्न-भिन्न लेखकों ने दालचीनी, तज तथा तमालपत्र इनके लेटिन नाम अलग-अलग दिये हैं। प्रायः मोटी छाल को तज एवं पतली छाल को दालचीनी कहा जाता है। तेजपत्र और तज एक ही वृक्ष के छाल और पत्र हैं। कुछ इन्हें अलग-अलग वृक्षों के मानते हैं। यहां पर वर्णन **चीनी दालचीनी** का किया जा रहा है। तेजपत्र तथा असली दालचीनी का आगे स्वतंत्र वर्णन किया गया है। कुछ लोग मोटी जाति की तज को **नालुका** नाम से भी बेचते हैं जिसका लेपादि में बहुत व्यवहार किया जाता है।

२५ तज

हि०, गु०, उर्दू—तज। **बं०**-दालचीनी। **म०, उड़िया**—दालचीनी। **पं०**—लुरण्डु। **ता०, मल०**—लवंगपत्ते। **अं०**—Cassia cinnamon (कॅशिआ सिनॅमोन्), Chinese cassia (चाइनीज कॅशिआ)। **ले०**—*Cinnamomum cassia, Blume* (सिनॅमोमम् कॅशिआ, ब्लूम)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

चीन एवं बर्मा में अवा नामक स्थान में इसकी खेती की जाती है।

इसका वृक्ष चिकना तथा सदाहरित होता है। **पत्ते**—आयताकार-भालाकार या भालाकार, पतले ६-८ मि. मि. लम्बे पर्णवृन्त से युक्त, तीन नाड़ियों से युक्त, फलक मूल की तरफ कुछ संकुचित होते हुये, ३-४ इञ्च लम्बे, लम्बाग्र युक्त, चर्मवत् एवं अस्पष्ट नाडीजाल से युक्त होते हैं। **पुष्प**—छोटे तथा परिपुष्प (Perianth) के बराबर या कुछ अधिक लम्बे तथा पतले पुष्पवृन्त (Pedicle) से युक्त, बहुवर्ष्यक्ष सवृन्तकाण्डज पुष्पव्यूहों में, पत्र के अक्ष में या छोटी शाखाओं के अन्त में रहते हैं। परिपुष्प करीब ३ मि. मि. लम्बे तथा कुछ सिल्क के समान रहते हैं जिनके दल (पंखुड़ियां) आयताकार भालाकार होते हैं। **फल**—मटर के बराबर, चिकने, अण्डाकार एवं रसदार अष्ठिफल (Drupes) होते हैं। परिपुष्पासन बहुत बढ़ा हुआ नहीं होता तथा वह ६ खण्डों में विभक्त रहता है जिनके अग्र कटे हुये मालूम पड़ते हैं या प्रायः खण्ड पूर्ण रूप में स्थायी रहते हैं। इसके काण्ड को सूखी हुई छाल को **चीनी दालचीनी** कहते हैं। यह २-४० से. मि. लम्बी तथा मुड़ी होती है। बाहर से यह हलके धूसर भूरे रंग की, करीब-करीब चिकनी तथा कुछ आड़ी झुर्रियों से युक्त रहती है। अन्दर से यह रक्ताभ भूरे रंग की एवं रेशेदार होती है। इसे तोड़ने से भग्न छोटा तथा असम होता है। इसकी गन्ध मनोहर एवं स्वाद उष्ण, मधुर तथा सुगन्धि रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ०.८% उड़नशील तैल, ४% राल, १४.६% गोंद युक्त निस्सार (टैनिन सहित), ६४.३% लिगनिन (Lignin) तथा बॅस्सोरिन (Bassorin), १६.३% जल एवं रंजक द्रव्य ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—चीनी दालचीनी बहुत ही आल्हादकारक एवं फलप्रद सुगन्धि द्रव्यों में से है। यह उष्ण, आमाशय के लिये उत्तेजक, वातानुलोमक एवं ग्राही है।

यह सार्वदेहिक उत्तेजक की अपेक्षा स्थानिक उत्तेजक है। यद्यपि इसका स्वतंत्र प्रयोग कम किया जाता है तथापि इसके फांट या चूर्ण से हृल्लास दूर होता है तथा आध्मान में लाभ होता है। अतिसार में अन्य ग्राही औषधों के साथ तथा अन्य अनेक मिश्रणों में सहायक द्रव्य के रूप में इसका व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—२½—१० र०।

अथ दारुसिता (दालचीनी)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

त्वक्स्वाद्वी तु तनुत्वक्यस्यात्तथा दारुसिता मता ॥ ६६ ॥
उक्ता दारुसिता स्वाद्वी तिक्ताचनिलपित्तहृत्।
सुरभिः शुक्रलाबल्या[1] मुखशोषतृषापहा ॥ ६७ ॥

दालचीनी के नाम तथा गुण—त्वक्, स्वाद्वी, किंवा त्वक्स्वाद्वी, तनुत्वक् तथा दारुसिता ये सब 'दालचीनी' के संस्कृत नाम हैं। दालचीनी–स्वादिष्ट, तिक्तरसयुक्त, वातपित्तनाशक, सुगन्धयुक्त, शुक्रजनक, बलकारक, ('वर्ण्या' पाठान्तर में-शरीर के रङ्ग को सुन्दर करने वाली), मुखशोष तथा तृषा को दूर करने वाली होती है ॥ ६६-६७ ॥

२६ दालचीनी

हि०-दालचीनी, दारचीनी। **बं०**-दारुचीनी। **म०**-दालचीनी। **गु०**-तज। **ते०, मल०**-लवंग पत्ते। **ता०**-कन्नलवंग पत्ते। **अ०**-दारसीनी, किर्फा। **फा०**-दारचीनी। **अं०**-Cinnamon Bark (सिनॅमोन् बार्क)। **ले०**-*Cinnamomum Zeylanicum Blume* (सिन्नॅमोमम् झेलॅनिकम्, ब्लूम)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

इसके वृक्ष लंका तथा दक्षिणी भारत में पाये जाते हैं। लंका, दक्षिण भारत, मार्टिनिक्यू, कैन्ने, जमइका, ब्राझील तथा सेचिलीस में इसकी खेती की जाती है।

इसका **वृक्ष**-साधारण ऊंचाई का एवं सदा हरित होता है। **छाल**-कुछ मोटी, चिकनी तथा हलके रंग की होती है। छोटी शाखाएं कुछ दबी हुई एवं नये भाग चिकने रहते हैं किन्तु कलिकाएं महीन सिल्क की तरह रहती हैं। **पत्ते**-प्रायः विपरीत, कड़े तथा चर्मवत्, ३-८ इञ्च लम्बे, १॥-३ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या लट्वाकार-मालाकार, नुकीले अग्रयुक्त, चिकने, ऊपर से चमकीले किन्तु नीचे से कुछ हलके एवं फलकमूल की तरफ तीक्ष्ण या गोलाई लिये हुए होते हैं। नाडियां-३-५ प्रधान नाड़ियां रहती हैं जिनके बीच महीन जालीदार नाडियां रहती हैं। पर्णवृन्त-½-१ इञ्च लंबा तथा ऊपर से चपटा रहता है। **पुष्प**-बहुत एवं प्रायः पत्तों से लंबे सवृन्तकाण्डज पुष्पव्यूहों में जो सिल्क की तरह मृदुरोमश होते हैं। पुष्पदंड (Peduncle) लंबे, प्रायः एक साथ गुच्छों में, चिकने या मृदुरोमश एवं पुष्पवृन्त (Pedicle) लम्बे होते हैं। परिपुष्प ५-६ मि० मि० लंबे; नलिका १ इञ्च लम्बी एवं दल मृदुरोमश, आयताकार या कुछ अभि-लट्वाकार, एवं प्रायः कुण्ठिताग्र रहते हैं। **फल**-१·३-१·७ से० मि० लंबे, आयताकार या लट्वाकार-आयताकार, शुष्क या किंचित् मांसल, गहरे बैंगनी रंग के एवं ८ मि० मि० व्यास के संवृद्ध घंटिकाकार परिपुष्प से घिरे हुये रहते हैं।

---

१. वर्ण्या इति पाठः।

इस वृक्ष के झाड़ियों को काटने के बाद उत्पन्न नवीन प्ररोहों की सूखी हुई अन्दर की छाल को औषध के लिये लिया जाता है। इसे सीलोनी दालचीनी कहा जाता है। यह सर्वोत्तम दालचीनी होती है। इसकी एक साथ बंधी हुई लंबी जूड़ियां आती हैं। बाह्य सतह हलके पीताभ भूरे रंग की एवं लंबाई में लहरदार रेखाओं से युक्त तथा प्रायः छोटे दागों या छिद्रों से युक्त होती है। अन्दर से यह गहरे रंग की एवं लम्बाई में हलकी धारियों से युक्त होती है। यह बहुत ही पतली, ०·५ मि० मि० मोटी एवं आसानी से टूटने वाली होती है। इसमें मनोहर गन्ध रहती है तथा इसका स्वाद उष्ण, मधुर एवं सुगन्धि रहता है।

रासायनिक संगठन—सिलोनी दालचीनी में ०.५-१% उड़नशील तैल, टैनिन तथा गोंद ये पदार्थ पाये जाते हैं।

दालचीनी का तैल नया रहने पर हलके पीले रंग का रहता है जो पुराना होने पर रक्ताभ भूरे रंग का हो जाता है। इसमें दालचीनी जैसी ही गन्ध एवं स्वाद रहता है। इस तैल में ६०-७५% सिनॅमॅल्डिहाइड् (Cinnamaldehyde), करीब १०% यूजेनॉल (Eugenol) एवं अल्प मात्रा में मैथिल्-एन्-ॲमिल् कीटोन् (Methyl-n-amyl ketone), पी-साइमीन (p-cymene), एल्-फेलॅन्ड्रीन (l-phellandrene), एल्-ॲल्फा-पिनीन (l-a-pinene), एल्-लिनॅलूल् (l-linalool), क्यूमिक् ॲल्डिहाइड् (Cumic aldehyde), नोनिल् ॲल्डिहाइड् (Nonyl aldehyde), कॅरियोफाइलीन (Caryophylline) एवं ब्यूट्रिक ॲसिड के ईस्टर (Esters of butyric acid) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

दालचीनी के पत्तों में भी किञ्चित् गहरे रंग का एक उड़नशील तैल पाया जाता है। लेकिन यह तैल दालचीनी के तेल से बिलकुल भिन्न है। इसमें कुछ लौंग जैसी तीव्र गन्ध आती है तथा आमवातादि में इसकी मालिश की जाती है। इसमें ७०-९५% यूजेनॉल रहने के कारण लौंग के तैल सदृश इसका उपयोग किया जा सकता है। दालचीनी के तेल में पत्तों के तेल की मिलावट की जाती है जिसकी पहचान उसमें की बढ़ी हुई यूजेनॉल् की मात्रा एवं घटी हुई सिनॅमिक् ॲल्डिहाइड् की मात्रा से की जा सकती है। इसमें रासायनिक विधि द्वारा निर्मित सिनॅमिक् ॲल्डिहाइड् की मिलावट करते हैं जिसकी पहचान उसमें के क्लोरीन की उपस्थिति, बढ़े हुये विशिष्ट गुरुत्व, भुजायन देशना (Refractive index) एवं ॲल्डिहाइड् से की जा सकती है।

गुण और प्रयोग—दालचीनी उष्ण, सुगन्धि, वातानुलोमक, साधारण ग्राही, दीपन, पाचन, उत्तेजक, गर्भाशय उत्तेजक, स्तम्भन, शोणितास्थापक, श्वेतकणवर्धक, आक्षेपहर एवं कृमिघ्न है। दालचीनी का तेल वातानुलोमक, प्रतिदूषक, उत्तेजक, आर्तवप्रवर्त्तक, वातहर, वेदनाहर, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है।

(१) यह उत्तम दीपन होने के कारण इससे आमाशय रस की वृद्धि होकर अन्न का पाचन ठीक होता है तथा वायु का अनुलोमन होता है। आमाशय के रोगों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। आध्मान, मरोड़, आमाशयिक शूल एवं वमन में इसके तैल को मिश्री के साथ खिलाते हैं। हृल्लास एवं वमन में इसको चूसने से या इसके क्वाथ से लाभ होता है। अतिसार, पुरानी आंव एवं ग्रहणी आदि में इसके क्वाथ से शौच कम होता है, वायु नहीं होता एवं पचननलिका को बल मिलता है। आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) में आन्त्रिक प्रतिदूषक औषध के रूप में अन्य औषधों के साथ इसके तैल को देते हैं। इससे आध्मान नहीं होता।

(२) राजयक्ष्मा दण्डाणु के उपसर्ग में तैल का व्यवहार किया जाता है। सिनॅमिक् एसिड का परिणाम इन जन्तुओं पर होता है। क्षयजव्रण पर इसको लगाते हैं।

(३) गर्भाशय उत्तेजक होने के कारण प्रसूति के समय आवि वृद्धि के लिये पिपरामूल एवं भांग के साथ इसका प्रयोग करते हैं। अत्यार्तव में गर्भाशय की शिथिलता कम करने के लिये अशोक के साथ इसे देते हैं।

(४) रक्तस्राव में इसके क्वाथ से लाभ होता है। फुफ्फुस एवं गर्भाशय से रक्तस्राव में इसका प्रयोग करते हैं।

(५) प्रतिश्याय तथा एन्फ्लुएंजा में इसके तैल को मिश्री के साथ या कॅपसूल में भरकर खिलाते हैं तथा रुमाल पर डाल कर सूंघने को देते हैं।

(६) इसके तैल को दांत के गढे में रखने से दर्द दूर होता है। नाडीशूल एवं जिह्वा के लकवे में इसका प्रयोग किया जाता है। चूसने वाली गोलियों में सुगंध द्रव्य के रूप में इसका उपयोग किया जाता है।

(७) बड़ी मात्रा में दालचीनी का उपयोग कैन्सर में किया गया है। औषध के अतिरिक्त मसालों में इसका बहुत प्रयोग करते हैं। तैल का सुगंध द्रव्य रूप में बहुत व्यवहार करते हैं तथा औषध संरक्षण के रूप में भी कभी-कभी व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २½–१० र०; तैल १–३ बूंद।

अथ पत्रकम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पत्रं तमालपत्रञ्च तथा स्यात्पत्रनामकम्। पत्रकं मधुरं किञ्चित्तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं लघु।
निहन्ति कफवातार्शोहृल्लासारुचिपीनसान् ॥ ६८ ॥

तेजपात के नाम तथा गुण—पत्र, तमालपत्र, पत्रनामक (अर्थात पत्रवाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं) एवम् पत्रक ये सब 'तेजपात' के संस्कृत नाम हैं। तेजपात-मधुर रस युक्त, किञ्चित तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पिच्छिल और लघु होता है एवम् यह कफ, वात, अर्श, हृल्लास (उबकाई), अरुचि तथा पीनस इन सबों को दूर करने वाला होता है ॥ ६८ ॥

२७ तेजपात

हि०–तमालपत्र, पत्रज, तेजपत्ता, तेजपत्र, गुरन्द्रा। **बं०**–तेजपत्र। **म०**–तमालपत्र। **ते०**–आकुपत्री, तालीस पत्री। **ने०**–चेटा सिंकोली। **गु०**–तमालपत्र। **आसा०**–दोपती। **ता०**–कट्टु-करुवपत्ते। **अ०**–साजजेहिन्दी। **ले०**–*Cinnamomum tamala Nees & Eberm* (सिनॅमोमम् तमाल नीज, एबर्म)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

इसका वृक्ष हिमालय में ३ से ७ हजार फीट की ऊंचाई पर पाया जाता है। मौतारगढ़ में ये समूहबद्ध होकर बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं। पूर्वी बंगाल तथा खासिया एवं जैन्तिया पहाड़ियों पर तथा बर्मा में भी पाये जाते हैं।

इसका वृक्ष मध्यमाकार का, करीब २५ फीट ऊंचा, साढ़े चार फीट के घेरे में एवं सुगन्धयुक्त होता है और यह बारहो मास हरा भरा रहता है। छाल-पतली, शिकनदार, खुरदरी, गहरे भूरे रङ्ग की या कृष्णाभ होती है। काट-आधा इञ्च मोटा, गुलाबी या ललाई लिये हुये भूरे रंग का और बाहर की ओर श्वेत रेखांकित होता है। पत्ते-प्रायः ५–८ इञ्च लम्बे, २–३ इञ्च चौडे, लट्वाकार-आयताकार या-भालाकार, नोकदार, चिकने, चर्मवत, विपरीत या एकान्तर तथा आधार से अग्रतक ३ शिराओं से युक्त एवं ७.५–१३ मि० मि० लम्बे पर्णवृन्त से

युक्त होते हैं। नवीन पत्तियां कुछ-कुछ गुलाबी रंग की रहती हैं। फूल-७.५ मि० मि० लंबे, हलके पीताभरंग के, ५–१५ से० मी० लंबे सवृन्तकाण्डज पुष्पव्यूहों (Panicles) में रहते हैं। परिपुष्प खंड ६, आयताकार, सिल्क की तरह मृदुरोमश जो पुष्पित होने पर मध्य के नीचे से टूट जाते हैं। पूर्ण पुंकेसर ९ रहते हैं। फल-आध इञ्च लंबे, अंडाकार, मांसल एवं काले रंग के रहते हैं। ये फल कुछ बढ़े हुये परिपुष्प नाल पर लगे रहते हैं जिनके परिपुष्प खंड अग्रपर कटे हुए (Truncated) मालूम पड़ते हैं।

इसके सूखे हुए अपक्व फल का **काला नागकेशर** नाम से दक्षिण भारत में व्यवहार होता है। अर्श के लिए यदि नागकेशर का प्रयोग करना हो तो इसका प्रयोग अधिक उचित मालूम होता है क्योंकि तमाल पत्र के शास्त्रीय गुणों में अर्श का उल्लेख मिलता है।

इसकी छाल को **हि०**–तज, **बं**–नालुका तथा **अ०**–सलीखा कहते हैं। यही **भारतीय दालचीनी** है जिसको सिलोनी दालचीनी के स्थान पर या मिलावट के रूप में उपयोग में लाते हैं। इसी के पत्ते तेजपात या तमालपत्र नामसे अधिकतर बेचे जाते हैं। कुछ लोगों के मत से तेजपात तथा तज अलग-अलग वृक्षों के पत्ते तथा छाल हैं। इसकी छाल सिलोनी दालचीनी की अपेक्षा मोटी, तेजी में कम तथा जल के साथ पीसने से पिच्छिलता युक्त हो जाती है। नवीन मत से सिलोनी तथा चीनी दालचीनी के गुण पहले लिखे जा चुके हैं तथा भारतीय के गुणों में नवीन दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न होने के कारण इनको अलग नहीं लिखा है।

नोट:- भावप्रकाशकार त्वक्पत्र (तज) के गुणों में 'पित्तलं' तथा 'शुक्रहृत' लिखते हैं। दारुसिता (सिलोनी दालचीनी) से गुणों में 'पित्तहृत' एवं 'शुक्रला' लिखते हैं। दारुसिता के अन्य नाम 'स्वाद्वी', 'तनुत्वक्' लिखे हैं जिससे दारुसिता यह सिलोनी दालचीनी होगी ऐसा लगता हैं। इस दृष्टि से सिलोनी तथा भारतीय दालचीनी के गुण भावप्रकाशकार के मत से बिलकुल अलग हैं। भावप्रकाशोक्त तीसरे द्रव्य पत्रक (तेजपात) के गुण त्वक्पत्र से मिलते-जुलते हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि त्वक्पत्र (तज, भारतीय दालचीनी) के वृक्ष के पत्ते ही तेजपत्र हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक प्रकार का लौंग के समान गन्ध वाला उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—तेजपत्र उष्ण, लघु, वातहर, दीपन, स्वेदजनन, मूत्रजनन तथा उत्तेजक हैं। इसका प्रयोग कफ, वात, अर्श, हृल्लास, अरुचि एवं पीनस में किया जाता है। कुपचन, उदरस्थवायु, उदरशूल एवं अतिसार आदि पचननलिका के रोगों में, सब तरह के कफविकारों में एवं गर्भाशय की शिथिलता में इसका उपयोग करते हैं। गर्भाशय की शिथिलता दूर होकर गर्भाधान होने के लिये तथा गर्भस्राव न हो इसलिये इसका प्रयोग करते हैं। यह वातहर होने के कारण बच्चों के सभी प्रकार के रोगों में एवं आमवात में इसको खिलाते हैं।

मात्रा—१–४ माशा।

अथ नागकेशरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

नागपुष्पः स्मृतो नागः केशरो नागकेशरः। चाम्पेयो नागकिञ्जल्कः कथितः काञ्चनाह्वयः ॥

नागकेशर के नाम तथा गुण—नागपुष्प, नाग, केशर, नागकेशर, चाम्पेय, नागकिञ्जल्क तथा काञ्चनाह्वय (काञ्चन के वाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाची हैं) ये सब पुंल्लिंगी शब्द 'नागकेशर' वृक्षवाची हैं ॥ ६९ ॥

अयं पुष्पे तु क्लीबे ॥ ६९ ॥

किन्तु यहाँ पर यह भी समझना चाहिये कि यदि उक्त सभी शब्द नपुंसकलिङ्गी हों तो 'नागकेसर के पुष्प' को कहने वाले होते हैं ॥ ६९ ॥

नागपुष्पं कषायोष्णं रूक्षं लघ्वामपाचनम् ॥ ७० ॥
ज्वरकण्डूतृषास्वेदच्छर्दिहृल्लासनाशनम् । दौर्गन्ध्यकुष्ठवीसर्पकफपित्तविषापहम् ॥ ७१ ॥

नागकेशर (नागकेशर का फूल)—कषायरसयुक्त, उष्णवीर्य, रूक्ष, लघु तथा आम को पचाने वाला होता है एवं यह ज्वर, खुजली, तृषा, पसीना, वमन, हृल्लास, दुर्गन्ध, कुष्ठ, विसर्प, कफ, पित्त और विष को दूर करने वाला होता है ॥ ७०-७१ ॥

२८ नागकेसर (१)

हि०–नागकेसर, नागेसर, पीला नागकेशर, नागचम्पा । **बं०**–नागेश्वर । **म०**–नागकेसर, नागचांफा (वृक्ष) । **गु०**–पीळु नागकेसर । **क०**–नागसम्पिगे । **ते०**–नागकेसरमु । **ता०**–वेरू नगपू । **अ०**–मिस्कुरुम्मान् । **फा०**–नारेमुश्क । **अं०**–Cobra's Saffron (कोबराज सॅफ्रॉन) । **ले०**–*Mesua ferrea Linn.* (मेसुआ फेरिआ लिन) । Fam. Guttiferae (गटिफेरी) ।

यह पूर्वी हिमालय, आसाम, ब्रह्मा, दक्षिण हिन्दुस्तान और पूर्व बंगाल के पहाड़ों पर पाया जाता है । इसको बगीचों में भी लगाया जा सकता है ।

इसका छोटा सुन्दर वृक्ष होता है और वह सदा हराभरा रहता है । स्तम्भ–सीधा, छाल–चिकनी और राख के रङ्ग की होती है । पत्ते–विपरीत, ३ से ५ इञ्च तक लम्बे तथा १–१॥ इञ्च चौड़े, आयताकार–भालाकार एवं तीक्ष्णाग्र युक्त होते हैं । इनका ऊपरी पृष्ठ चमकीला और नीचे का श्वेताभ तथा रज से आवृत होता है । शिरायें सघन और स्पष्ट होती हैं । नये पत्ते लाल रंग के होते हैं । फूल–१ से ३ इञ्च के घेरे में सफेद रङ्ग के सुगन्धयुक्त वसन्त ऋतु में आते हैं । इनमें अन्तर्दल चार होते हैं । इन्हीं फूलों के भीतर के पीले केसरिया रंग के नरकेसर के गुच्छ को नागकेसर कहते हैं । यही असली (पीला) नागकेशर है जिसका औषध में व्यवहार करना चाहिये । फल–एक इञ्च से बड़े, अंडाकार तथा कुछ नुकीले एवं प्रवृद्ध बाह्यदल से घिरे हुये होते हैं । एक-एक फल से १ से ४ तक चिकने, कोणयुक्त एवं भूरे रंग के बीज निकलते हैं ।

नोट—नागकेसर के सम्बन्ध में लोगों में भ्रम है । अधिकांश विद्वानों ने उपर्युक्त मेसुआ फेरिआ के पुष्पों के नरकेसर गुच्छ को नागकेसर माना है जिसके गुण एवं प्रयोग यहां दिये गये हैं । इसी वर्ग के दक्षिण की तरफ होने वाले वृक्ष ओकोकार्पस् लॉगीफोलिअस् (Ochrocarpus longifolius) की पुष्प-कलिकाओं को लाल नागकेशर के नाम से बेचा जाता है । इसी प्रकार काला नागकेशर के नाम से भारतीय या चीनी दालचीनी के फल बेचे जाते हैं जिसके गुण दालचीनी के समान ही होते हैं । एक बात ध्यान देने की यह है कि नागकेसर के शास्त्रीय गुणों में अर्श का उल्लेख नहीं है । चरक में तथा व्यवहार में रक्तार्श के लिये इसका प्रयोग मिलता है । तज के गुणों में अर्श का उल्लेख है तथा उसके फल का उपयोग काला नागकेशर नाम से व्यवहार में कहीं-कहीं आता है । मेसुआ फेरिया के गुणादि के पश्चात ओकोकार्पस् लॉगीफोलिअस् का वर्णन किया गया है ।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक तैलीय राल रहती है जिससे सुगंधित, हल्के पीले रंग का एक उड़नशील तैल प्राप्त होता है । कठोर फलभित्ति में टॅनिन रहता है । बीजों में एक स्थिर तैल पाया जाता है । राल मद्यसार में कम घुलती है लेकिन बेन्झॉल में संपूर्णतया घुलती है । इसके अतिरिक्त इसमें दो कड़वे पदार्थ भी पाये जाते हैं ।

गुण और प्रयोग—नागकेसर संग्राही, गर्भ स्थापक, किंचित उष्ण, रक्तसंग्राहक, आमपाचक एवं दीपक है । इसकी छाल तथा मूल तिक्त एवं सुगन्धि हैं । इसकी छाल कुछ संग्राही होती है । इसके कच्चे फल सुगंधि, कटु तथा विरेचक होते हैं ।

(१) रक्तार्श में मक्खन तथा मिश्री के साथ इसे खिलाने से रक्त गिरना बन्द हो जाता है । शतधौत घृत में मिलाकर इसमें लेप भी किया जाता है ।

(२) गुद द्वार की जलन, रक्तातिसार, वमन, हिक्का, तृष्णा, रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर एवं अतिस्वेद आदि में नागकेसर का प्रयोग करते हैं ।

(३) बहुत कफयुक्त खांसी में इसे देते हैं ।

(४) अतिस्वेद में इसका लेप या इसके सूक्ष्म चूर्ण का भी बाह्य प्रयोग किया जाता है ।

(५) इसकी छाल एवं मूल का क्वाथ खांसी एवं आमाशय प्रक्षोभ (Gastritis) में दिया जाता है ।

(६) तीव्र प्रतिश्याय में इसके पत्तों का उपनाह सर पर लगाते हैं ।

(७) इसके बीजों का तैल शरीर की पीड़ा, जोड़ों में दर्द तथा खुजली (पामा) एवं अन्य चर्मरोगों में लगाया जाता है ।

(८) इसके पत्ते तथा फूलों का उपयोग विच्छू एवं सर्पदंश में किया जाता है ।

(९) हाथ-पैरों की जलन में नागकेशर को शतधौत घृत में मिलाकर लगाने से जलन दूर होती है ।

मात्रा—४ र० से १ माशा ।

लाल नागकेशर (२)

सं०–सुरपुन्नाग, नमेरु, सुरपर्णिका । **हि०**–लाल नागकेशर । **म०**–सुरंगी (वृक्ष), गोडी उंडी (फल), तांबडे नागकेशर । **गु०**–रातुं नागकेशर । **अं०**–Alexandrian Laurel (ॲलेक्झॅन्ड्रियन् लॉरेल) । **ले०**–*Ochrocarpus longifolius Benth. & Hook. f.* (ओक्रोकार्पस् लॉगिफोलिअस् बेन्थ, हुक्) । Fam. Guttiferae (गटिफेरी) ।

यह पश्चिम प्रायद्वीप के जंगलों में कनारा से कोंकण तक पाया जाता है । उत्तरी सरकार में यह लगाया हुआ मिलता है ।

इसका वृक्ष साधारण ऊँचा तथा सदाहरित होता है । पत्ते–६–८ इञ्च लम्बे, १॥–२॥ इञ्च चौड़े, आयताकार, मोटे, चर्मवत् एवं सुन्दर शिराजाल से युक्त होते हैं । पुष्प–अनेक, ४ अन्तर्दल वाले, लाल रेखांकित, श्वेत रंग के, गुच्छों में आते हैं । फल–१ इञ्च लंबे, अण्डाकार, नुकीले तथा एक बीज से युक्त होते हैं । फलों के गूदों को लोग खाते हैं । सूखी हुई पुष्पकलिकाओं को लाल नागकेशर कहा जाता है । यह गोल, नुकीले, नारंगरक्त रंग के तथा करीब ½ इञ्च लम्बे पुष्पवृन्त से युक्त होते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसका उपयोग असली नागकेशर (मेसुआ फेरिआ) के स्थान पर किया जाता है । गुणों में उसके समान होते हुए भी यह कुछ न्यून गुण वाला है । इसके पुष्पों का अर्क निकालकर ज्वर में रोगी के स्नान के लिये प्रयोग करते हैं । इससे रोगी को आह्लाद मालूम होता

है। यह उत्तेजक, सुगंधि, ग्राही, कडुवा एवं दीपन है। अत्यधिक प्यास, आमाशयिक प्रक्षोभ, अर्श, कुपचन तथा अतिसार में इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—१–३ माशा।

नोट—कुछ लोग इसी वर्ग के पुन्नाग वृक्ष की कलिकाओं का भी उपयोग नागकेशर के नाम से करते हैं। इसे ले०–*Calophyllum inophyllum Linn.* (कैलोफाइलम् आइनोफाइलम् लिन); हि०–सुलतानचंपा; म०–उंडी, उंडल कहते हैं। इसका बहुत सुन्दर वृक्ष दक्षिण भारत के समुद्री किनारे पर तथा अन्य स्थानों पर लगाया हुआ मिलता है। पत्ते–बड़ के पत्र जैसे लम्बगोल ४ से ६ इञ्च लम्बे तथा ३ से ४ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्प–सफेद रंग के, चार दल वाले और सुगंधित होते हैं। फल–गोल, १ से १½ इञ्च लम्बे, चिकने तथा पीले रंग के आते हैं। इसके बीजों से तैल निकालते हैं, जिसे सर्पन का तैल कहते हैं।

पुन्नाग–यह मधुर, शीत, सुगन्धि और पित्तनाशक है। इसका तैल पुराने संधिवात में मालिश करते हैं। खुजली तथा सर की फुन्सियों में तैल लगाते हैं। सोजाक में इस तैल को खिलाते हैं।

अथ त्रिजातकं चातुर्जातकं च। तयोर्लक्षणं गुणाँश्चाह

त्वगेलापत्रकैस्तुल्यैस्त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्। नागकेशरसंयुक्तं चातुर्जातकमुच्यते ॥ ७२ ॥
तद् द्वयं रोचनं रूक्षं तीक्ष्णोष्णं मुखगन्धहृत्। लघुपित्ताग्निकृद्वर्ण्यं कफवातविषापहम् ॥७३॥

'त्रिजातक' तथा 'चातुर्जातक' बोधक द्रव्य तथा उनके एकत्र गुण—दालचीनी, इलायची और तेजपात इन्हीं तीनों द्रव्यों का समभाग में योग होने से उसे 'त्रिसुगन्धि' या 'त्रिजातक' कहते हैं और यदि उन्हीं द्रव्यों में समभाग से 'नागकेशर' भी मिला दी जाय तो उसे 'चातुर्जातक' कहते हैं। त्रिजातक तथा चातुर्जातक–रुचिकारक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मुख की दुर्गन्ध को दूर करने वाले, लघु, पित्त तथा अग्निवर्धक, वर्ण्य (शरीर के रङ्ग को उत्तम करने वाले), कफ, वात तथा विष को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ७२–७३ ॥

अथ कुङ्कुमम् (केशर)। तस्य नामानि सलक्षणभेदान् गुणाँश्चाह

कुङ्कुमं घुसृणं रक्तं काश्मीरं पीतकं वरम्। संकोचं पिशुनं धीरं बाह्लीकं शोणिताभिधम् ॥
काश्मीरदेशजे क्षेत्रे कुङ्कुमं यद्भवेद्धि तत्। सूक्ष्मकेशरमारक्तं पद्मगन्धि तदुत्तमम् ॥७५॥
बाह्लीकदेशसञ्जातं कुङ्कुमं पाण्डुरं स्मृतम्। केतकीगन्धयुक्तं तन्मध्यमं सूक्ष्मकेशरम् ॥७६॥
कुङ्कुमं पारसीकं यन्मधुगन्धि तदीरितम्। ईषत्पाण्डुरवर्णं तदधमं स्थूलकेशरम् ॥७७॥
कुङ्कुमं कटुकं स्निग्धं शिरोरुग्व्रणजन्तुजित्। तिक्तं वमिहरं वर्ण्यं व्यङ्गदोषत्रयापहम् ॥७८॥

केशर के नाम—कुङ्कुम, घुसृण, रक्त, काश्मीर, पीतक, वर, सङ्कोच, पिशुन, धीर, बाह्लीक और शोणिताभिध (रक्तवाची सभी शब्द) ये सब केशर के संस्कृत नाम हैं।

देश भेद से केशर की उत्तमता एवं उसके लक्षण—काश्मीर देश के खेतों में जो 'केशर' उत्पन्न होता है वह सूक्ष्म केशरों से युक्त, कुछ रक्त वर्ण वाला तथा कमल की समान सुन्दर गन्ध से युक्त होता है एवं वह 'उत्तम' माना जाता है। जो 'बाह्लीक' (बुखारा) देश में उत्पन्न होने वाला 'केशर' होता है वह पाण्डुर (शुक्ल तथा पीतवर्ण युक्त) वर्ण का एवं 'केतकी' के समान गंध

से युक्त होता है। यह सूक्ष्म केशरों से युक्त होता है और 'मध्यम' माना जाता है। जो 'पारसीक' (फारस) देश में उत्पन्न होने वाला केशर होता है वह मधु (शहद) के समान गन्ध वाला, कुछ पाण्डुर वर्णयुक्त तथा मोटे केशरों से युक्त होता है और वह 'अधम' माना जाता है।

केशर—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, स्निग्ध और वर्ण्य (शरीर के वर्ण के लिये हितकर) होता है तथा यह शिरोरोग, व्रण, कृमि, वमन, व्यङ्ग (झाई) तथा त्रिदोष इन सबों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ७४–७८ ॥

२९ केशर

हि०–केशर। म०, गु०–केशर। बं०–जाफरान। क०–कुङ्कुम। ते०–कुङ्कुम पुव। ता०–कुङ्कुमपु। फा०–करकीमास। अ०–जाफरान। अं०–Saffron (सैफ्रॉन)।

ले०–*Crocus sativus Linn.* (क्रोकस् सेटाइवस् लिन.)। Fam. Iridaceae (इरिडेसी)।

केशर का नैसर्गिक उत्पत्ति स्थान दक्षिण योरप है। यह स्पेन से बम्बई में बहुत आता है और भारतवर्ष के बाजारों में बिकता है। ईरान, स्पेन, फ्रान्स, इटली, ग्रीस, तुर्की, चीन और फारस आदि देशों में इसकी खेती की जाती है। हमारे देश के काश्मीर में पम्पूर (४३०० फीट) नामक स्थान पर तथा जम्मू के किश्तवाड़ में इसकी खेती की जाती है। यहाँ का उत्पन्न हुआ केसर भावप्रकाशकार की दृष्टि से सर्वोत्तम समझा गया है।

इसका बहुवर्षायु क्षुप १॥ फुट तक ऊँचा होता है। जड़ के नीचे प्याज के समान गांठदार कन्द (Corm) होता है। इसमें कांड नहीं होता। पत्ते–घास के समान लम्बे, पतले, पनालीदार और जड़ ही से निकले हुए मूलपत्र (Radicle leaf) रहते हैं। इनके किनारे पीछे की तरफ मुड़े हुए होते हैं। आश्विन कार्तिक में इस पर फूल आते हैं। फूल–एकाकी या गुच्छों में, नीललोहित वर्ण के, पत्तों के साथ ही शरदऋतु में आते हैं। नीचे के पत्रकोश (Spathe), पुष्पध्वज (Scape) को घेरे रहते हैं तथा दो हिस्सों में विभक्त रहते हैं। परिपुष्प (Perianth) निवापसम (Funnel-shaped), नाल (Tube) पतला, दल ६ खण्डों में विभक्त दो श्रेणियों में एवं नाल का कण्ठ श्मश्रुल (बालों से युक्त) रहता है। कण्ठ पर ३ पुंकेशर (Stamen) रहते हैं एवं परागाशय (Anther) पीतवर्ण का रहता है। कुक्षिवृन्त (Style) परिपुष्प के बाहर निकले हुए (Exserted), नारंगरक्त रंग के, मुद्राकार, अखण्ड या खण्डित रहते हैं। फल–सामान्य स्फोटी फल (Capsule) आयताकार एवं बीज गोल होते हैं।

इन फूलों के स्त्री केशर के सूखे हुए अग्रभाग जिन्हें कुक्षि (Stigma) कहा जाता है उन्हें ही केशर कहते हैं। कुक्षि (Stigma) ३, कुक्षिवृन्त के ऊपर लगी हुई या अलग, करीब १ इञ्च लम्बी गहरे लाल से लेकर हलके रक्ताभ भूरे रंग की एवं सामान्य दन्तुर या लहरदार होती है। कुक्षिवृन्त (Styles) करीब १ से. मि. लम्बे, करीब-करीब रम्भाकार, ठोस, पीताभ भूरे से लेकर पीताभ नारंगी रंग के रहते हैं। इसमें विशिष्ट प्रकार की तीव्र सुगन्ध रहती है तथा इसका स्वाद सुगन्धि तथा कड़वापन लिये हुए होता है।

केशर के पौधे को बीज या उसके कन्द द्वारा लगाया जा सकता है। साधारणतः १ एकड़ भूमि से करीब ५०–५५ पौंड ताजा केशर प्राप्त होता है जो सूखने पर १०–११ पौंड रह जाता है। इसकी खेती तथा माल के तैयार करने में बहुत सावधानी की आवश्यकता रहती है। सूर्योदय के पहले जब फूल लगभग खिलने को होते हैं तब उनको तोड़ लेते हैं। उसमें से केशर को तोड़कर चलनी में डालकर मन्द आंच पर सुखाते हैं। केशर को हमेशा प्रकाशहीन बन्द पात्र में रखना चाहिये।

रासायनिक संगठन—केशर में एक स्नेहीय तैल ८–१३%, करीब १% उड़नशील तैल, एक रंगहीन कड़ुआ पिक्रोक्रोसिन (Picrocrocin) नामक ग्लाइकोसाइड् एवं क्रोसेटिन (Crocetin) नामक रंजक द्रव्य का क्रोसिन (Crocin) ग्लाइकोसाइड् ये पदार्थ पाये जाते हैं। क्रोसेटिन नामक रवेदार रंजक द्रव्य ३ प्रकार का होता है। अॅल्फा क्रोसेटिन (a–crocetin, C_{24} H_{28} O_5) ०.७%, बीटा क्रोसेटिन (B–crocetin, C_{25} H_{30} O_5) ०·७%, एवं गामा क्रोसेटिन (V–crocetin, C_{26} H_{32} O_5) ०·३% रहता है। क्रोसिन (Crocin) यह लाल रंग का चूर्ण होता है जो जल तथा मद्यसार में आसानी से घुल जाता है। संकेन्द्रित गन्धक के तेजाब में इसका गहरे नीले रंग का घोल बनता है जो रखने पर नील लोहित, रक्त तथा अन्त में भूरे रंग का हो जाता है। शोरे के तेजाब से यह हरे रंग का हो जाता है।

गुण और प्रयोग—केशर उष्ण, सुगन्धि, दीपन, पाचन, उद्वेष्टन–निरोधि, मनःप्रसादकर, रुचिकर, वर्ण्य, बल्य, कामोत्तेजक, विषघ्न, आर्तवजनक, मूत्रल एवं अल्प वेदनाहर है। आमाशयोत्तेजक एवं उद्वेष्टननिरोधि गुणों के लिये यह बहुत प्रसिद्ध है तथा यह श्रेष्ठ उत्तेजक एवं वृष्य औषध मानी जाती है। यह वातनाड़ियों के लिये शामक है। सुगन्धित रंजक द्रव्य के रूप में इसका बहुत व्यवहार किया जाता है। इसके उड़नशील तैल में अन्य उड़नशील तैलों की तरह ही गुण होते हैं।

इसका उपयोग अतिसार, शूल, मूत्रकृच्छ्र, अनार्तव, पीड़ितार्तव, कास, श्वास, कण्ठरोग, यकृत-विकार, आमवात, नाड़ीशूल एवं शिरोरोगों में किया जाता है।

(१) पीड़ितार्तव में इसको पूर्ण मात्रा में देने से शूल कम होता है तथा आर्तव स्राव ठीक होने लगता है। गर्भाशय के पीड़ा युक्त विकारों में इसकी गोली योनि में धारण कराई जाती है। स्तनों पर इसके लेप से दूध बढ़ता है।

(२) मूत्राघात में १ तोला केशर मधुयुक्त जल में रात में भिगो कर सुबह उसे पिलाने से लाभ होता है। (सु. उ. अ. ५८–३०)

(३) बच्चों की सरदी में गरम दूध में केशर खिलाते हैं, तथा ललाट एवं छाती पर लगाते हैं।

(४) केसर तथा शर्करा को घृत में भून कर उसके नस्य से सूर्यावर्त एवं अर्धावभेदक आदि में लाभ होता है। शिरःशूल में इसे मस्तक पर लगाते हैं।

(५) मसूरिका तथा रोमान्तिका आदि में दाने बाहर निकालने के लिये इसे देते हैं।

(६) बच्चों के अतिसार, आध्मान तथा उदर शूल में इसे खिलाते हैं तथा पेट पर लगाते हैं।

प्रमाप तथा परीक्षा—केशर बहुमूल्य होने के कारण इसमें अनेक चीजों की मिलावट रहती है, इसलिये इसको अच्छी तरह परीक्षा कर खरीदना चाहिये। कुछ परीक्षाएँ यहाँ दी जा रही हैं। स्पिरिट में केशर डालने पर यद्यपि स्पिरिट रंगीन हो जाता है तथापि केशर के तन्तु अपने प्राकृतिक रंग में ही रहते हैं। इसे गन्धक के तेजाब (Sulphuric acid) में डालने से गहरा नीला रंग उत्पन्न होता है। जल में घुलनशील पदार्थ ५८% से कम न हों। मद्यसार (९०%) में घुलनशील पदार्थ ६०% से कम न हों। राख ७·५०% से अधिक न हो। १००° उष्णता पर सुखाने से १४% से अधिक वजन कम न हों। कुक्षिवृन्त (Styles) १०% से अधिक न हों। इतर ऑर्गेनिक् द्रव्य २% से अधिक न हों। रंग की तीव्रता–इसको ०·०२ ग्राम की मात्रा में १०० सी. सी. जल में मिलाने पर पीत वर्ण का घोल बनता है जिसके रंग की तीव्रता ०·१%

पोटॅशियम् डाइक्रोमेट (Potassium dichromate) के घोल के समान या इससे कम नहीं होनी चाहिये।

व्यामिश्रण—इसमें केशर पुष्प के ही कुक्षिवृन्त, पुंकेशर, आभ्यन्तर कोश एवं गेंदा (कॅलेण्डुला ऑफिसिनेलिस्) के मेथिल् आरेञ्ज के द्वारा रंगे हुये पुष्प, कुसुम पुष्प के केशर तथा एक बीज पत्रीय पुष्प आदि मिलाये रहते हैं। कभी-कभी सत्व निकाला हुआ केसर रंग करके बेचा जाता है। केसर का वजन बढ़ाने के लिये जल, तैल, शर्करा, ग्लूकोज, ग्लिसरीन तथा पोटॅशियम् या अमोनियम् नाइट्रेट के घोल आदि का उपयोग करते हैं।

मात्रा—२–४ र०।

अथ गोरोचना। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गोरोचना तु मङ्गल्या वन्द्या गौरी च रोचना। गोरोचना हिमा तिक्ता वश्या मङ्गलकान्तिदा।
विषालक्ष्मीग्रहोन्मादगर्भस्रावक्षतासुहृत् ॥ ७९ ॥

गोरोचन के नाम तथा गुण—गोरोचना, मङ्गल्या, वन्द्या, गौरी और रोचना ये सब गोरोचन के संस्कृत नाम हैं। **गोरोचन**—शीतवीर्य, तिक्तरस युक्त, वश्य (वशीकारक), मङ्गल तथा कान्ति को बढ़ाने वाला एवं विष, अलक्ष्मी (दरिद्रता), ग्रहबाधा, उन्माद (पागलपन), गर्भस्राव तथा क्षतज रक्तस्राव को दूर करने वाला होता है ॥ ७९ ॥

३० गोलोचन

हि०–गोलोचन, गोरोचन। बं०–गोरोचना। म०–गोरोचन। गु०–गोरूचन्दन, गोरोचन। ते०–गोरोचनमु। ता०–गोरोचनम्। फा०–संगगाव। अ०–हजरुल् बकर। अं०–Gall–stone (गॉल–स्टोन); Serpent stone (सर्पेण्ट स्टोन)। ले०–*Bezoar* (बेझोर)।

गाय अथवा बैल के पित्ताशय में से अश्मरी के समान सुपारी से लेकर नींबू तक का गोल अथवा कुछ गोलाई लिये त्रिकोणाकार जो पदार्थ निकलता है उसको गोरोचन कहते हैं। यह ऊपर से कुछ मटमैला पीला और तोड़ने पर भीतर से पर्तदार पीले रंग का होता है। यह कठोर नहीं, कुछ मुलायम होता है। किसी किसी का रङ्ग नारंगी या लाली युक्त होता है। इसी प्रकार किसी किसी बकरी और ऊँट के पेट से भी कंकड़ी निकलती है, 'कुछ ग्रन्थों में गाय के मस्तक का पित्त गोरोचन है' ऐसा उल्लेख मिलता है। हाथी के मस्तक में मिलने वाली गजमुक्ता और सर्प के फण में मिलने वाली मणि के सादृश्य के लिए गो–मस्तक से इसकी उत्पत्ति की परिकल्पना की गई होगी।

इसका स्वाद कुछ कड़वा होता है तथा इसमें कुछ सुगन्ध भी होती है। औषध के अतिरिक्त तंत्र शास्त्र में मोहन तथा वशीकरण के लिये इसका पर्याप्त उपयोग किया जाता है। गोपित्त में कुछ पदार्थों का मिश्रण कर बनाया हुआ नकली गोरोचन भी बिकता है।

गुण और प्रयोग—गोरोचन शीतल, सुगन्धि, मृदु विरेचक, तिक्त, श्वित्रहर, मूत्रल, अश्मरीघ्न, बृंहण, आर्तवजनक एवं विषहर है।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक, आक्षेप, रोमान्तिका, मसूरिका, कुकास, अतिसार, कफज्वर, कामला, पाण्डु, गर्भस्राव, पित्त की न्यूनता एवं आन्त्रिक विकार आदि में किया जाता है।

(१) अपस्मार में इसको २ माशे की मात्रा में गुलाब जल में घिस कर पिलाने से पुनराक्रमण नहीं होता, ऐसा हकीम मानते हैं। यूनानी में इसका लेप श्वित्र, चेहरे के काले दाग, चर्म रोग तथा नेत्र के जाले में लाभदायक मानते हैं।

(२) मसूरिका आदि में उष्णता कम करने ने लिये इसको खिलाया जाता है।

(३) बच्चों के अतिसार, कुकास एवं हरे दस्त आना आदि में इसको खिलाने से लाभ होता है।

मात्रा—१-२ र०।

नोट—पाश्चात्य चिकित्सा में गोपित्त को शुद्ध करके व्यवहार करने की पद्धति है। गोरोचन के स्थान में उसका प्रयोग करना उचित नहीं है। प्रसंगतः उसका भी वर्णन यहाँ किया गया है।

ले०–*Extractum fellis bovini* (एक्स्ट्रॅक्टम् फेलिस् बोह्विनि)। **अं०**–Purified Ox-Gall (प्यूरिफाइड् ऑक्स-गॉल्)। **हि०**–गौ या बैल का शुद्ध पित्त, जहरमोहरा।

ताजे पित्त को सुखाकर जब चतुर्थांश शेष रहे तो उसमें मद्यसार (९०%) मिलाकर छानकर गोली बनाने लायक हो उतना सुखा लें। इसमें पित्त के लवण तथा रञ्जक पदार्थ पाये जाते हैं। यह गहरे पीताभ हरे रंग का लचीला पदार्थ होता है। इसका स्वाद कड़ुआ तथा अरुचिकर होता है। यह जल तथा मद्यसार दोनों में घुल जाता है। इसको विशिष्ट आवरण युक्त गोलियों के रूप में भोजन के २ घण्टे पश्चात् प्रयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कड़वा पदार्थ होते हुये भी वानस्पतिक कड़वे पदार्थों के उतना अच्छा दीपन पदार्थ नहीं है। इससे पित्त का स्राव ठीक होने लगता है। जिनमें पित्त का उचित स्राव न होने के कारण अपचन तथा विबन्ध रहता है उनमें इसका उपयोग करते हैं। यह अग्न्याशय के स्नेह पाचक स्रावों को बढ़ाता है तथा स्नेह द्रव्यों के प्रचूषण में सहायक होता है। स्नेह द्रव्यों का प्रचूषण ठीक होने के कारण उसमें घुलने वाले जीवतिक्ति (ह्विटामिन्) 'ए', 'डि' तथा 'के' का भी ठीक प्रचूषण होता है। रक्तस्राव की अवस्था में रक्त को जमाने वाले पदार्थों में से रक्त में प्रोथ्रॉबिन् (Prothrombin) के निर्माण के लिये ह्विटामिन् 'के' की बहुत आवश्यकता रहती है। जब मल बहुत कड़ा हो जाता है तब इसको २०-३० ग्रेन की मात्रा में १ या २ औंस जल में घोल कर पिचकारी द्वारा बस्ति के रूप में देते हैं।

मात्रा—५-१५ ग्रेन।

अथ नखं नखी च (गन्धद्रव्यम्) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

नखं व्याघ्रनखं व्याघ्रायुधं तच्चक्रकारकम् ॥ ८० ॥
नखं स्वल्पं नखी प्रोक्ता हनुर्हट्टविलासिनी । नखद्वयं ग्रहश्लेष्मवातास्रज्वरकुष्ठहृत् ॥ ८१ ॥
लघूष्णं शुक्रलं वर्ण्यं स्वादु व्रणविषापहम् । अलक्ष्मीमुखदौर्गन्ध्यहृत्पाकरसयोः कटु ॥ ८२ ॥

सुगन्धि द्रव्य नख तथा नखी के नाम तथा गुण—नख, व्याघ्रनख, व्याघ्रायुध और चक्रकारक ये सब संस्कृत नाम नख के हैं और दूसरा छोटा नख होता है उसे नखी कहते हैं उसके संस्कृत नाम—हनु तथा हट्टविलासिनी ये दो हैं। दोनों प्रकार के नख–ग्रहबाधा, कफ, वात, रक्तविकार (किंवा वातरक्त), ज्वर तथा कुष्ठ रोग को दूर करते हैं एवं लघु, उष्णवीर्य, शुक्रजनक, वर्णकारक, स्वादिष्ट, व्रण तथा विषनाशक, एवं अलक्ष्मी (दरिद्रता) तथा मुख की दुर्गन्ध को हरण करने वाले, पाक एवं रस में कटु रसयुक्त होते हैं ॥ ८०-८२ ॥

३१ नख-नखी

हि०—नख, नखी, छोटा नख। **बं०**—नखी गन्ध द्रव्य, छोट नखी। **म०**—नखला, वाघनख। **ते०**—नखमुचिप्प। **गु०**—नखला, सावजना नख। **क०**—नख, बाघनख। **फा०**—नाखून पर्च्यां। **अ०**—अज़फारुतिब, इकलिलुलमुलुक। **अं०**—Land snail (लँड स्नेल)। **ले०**—*Helix aspera* (हेलिक्स ॲस्पेरा); *Achatina fulica* (ॲचॅटिना फूलिका)।

नख एक सुगन्धि द्रव्य है। यद्यपि इसे नख, व्याघ्रनख आदि नाम दिये गये हैं तथापि यह किसी जानवर का नाखून नहीं है। यह एक प्रकार के सीप की जाति के समुद्री जीव के मुख के ऊपर का आवरण है जो नख सदृश होने के कारण नख कहा जाता है। भावप्रकाशकार ने इनके दो भेद लिखे हैं। बड़े को नख या व्याघ्रनख तथा छोटे को नखी लिखा है। अन्य ग्रन्थों में नखी के आकृति के अनुसार ५ भेद लिखे हैं। बेर के पत्ते के सदृश, कमलदल सदृश, घोड़े के खुर की आकृति के, हाथी के कान के समान आकार वाले तथा सुअर के कान के समान ये पांच प्रकार होते हैं। इनमे से सुअर के कान के समान निषिद्ध माना गया है। कुछ लोगों ने हाथी के कान सदृश और घोड़े के खुर के समान आकृति वाले नख का उपयोग गन्धयोगों में तथा बेर या कमलदल सदृश नख का उपयोग धूपन में बतलाया है।

यह गहरे भूरे रंग का तथा अनेक पटलों से बना हुआ कठोर, अपारदर्शक तथा नख के सदृश होता है। इसके उन्नतोदर पृष्ठ पर परत साफ दिखलाई देते हैं। इसको जलाने से दुर्गन्ध आती है लेकिन तैल के साथ पकाने से तैल सुगन्धित होता है। अन्य ग्रन्थों में इसके शोधन का विधान मिलता है। भैंस के गोबरयुक्त जल, तिन्तिड़ी जल या मृत्तिकायुक्त जल के साथ स्वेदन करके, प्रक्षालन करने के पश्चात् भून कर गुडहरीतकी मिले जल में बुझाते हैं। फिर पीस कर उपयोग में लाते हैं। चरक में प्रायोगिक धूम्रपान की वर्ति के योग में (सू. अ. ५ श्लो. २०), श्वयथुचिकित्सा (चि. अ. १६) में शैलेयकादि तैल और प्रदेह में, महासुगन्धहस्ती नामक अगद के योग में (चि. अ. २३), अमृतादि तैल (चि. अ. २८) तथा वातरक्त चिकित्सा (चि. अ. २९) में शतपुष्पादि तैल के योग में अन्य द्रव्यों के साथ नख का प्रयोग लिखा है। सुश्रुत में एलादिगण में व्याघ्रनख का उल्लेख है। तैलों को सुगन्धित करने के लिये इसका अधिक उपयोग होता है।

अथ बालम् [सुगन्धबाला]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बालं ह्रीबेरबर्हिष्ठोदीच्यं केशाम्बुनाम च। बालकं शीतलं रूक्षं लघु दीपनपाचनम् ॥
हृल्लासारुचिवीसर्पहृद्रोगामातिसारजित् ॥ ८३ ॥

सुगन्धबाला के नाम तथा गुण—बाल, ह्रीबेर, बर्हिष्ठ, उदीच्य, केशनाम (केशवाचक सभी शब्द), एवं अम्बुनाम (जलवाची सभी शब्द) तथा बालक ये सब 'सुगन्धबाला' के संस्कृत नाम हैं। सुगन्धबाला-शीतवीर्य, रूक्ष, लघु, अग्निदीपक तथा पाचक होती है और यह हल्लास (जीमिचलाना), अरुचि, वीसर्प, हृद्रोग, आम तथा अतिसार इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ ८३ ॥

३२ सुगन्धबाला

हि०—सुगन्धबाला, नेत्रबाला। **बं०**—बाला। **म०**—काला वाला। **गु०**—वालो, कालो वालो। **क०**—बलरक्सी-गिडा। **ते०**—मुत्तुपलागमु, एरांकुटी। **ता०**—पेरामुटिवेर। **ले०**—*Pavonia odorata Willd.* (पॅवोनिया ओडोरेटा विल्ड)। Fam. Malvaceae (माल्वॅसी)।

सुगन्धवाला – पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिन्ध, पश्चिम प्रायद्वीप और सिलोन में अधिक उत्पन्न होती है। इसके क्षुप में थोड़ी सी कस्तूरी की सुगन्ध रहती है।

इसका क्षुप-सीधा तथा १॥–३ फीट ऊँचा होता है और समस्त क्षुप पर बारीक रोवें होते हैं। **पत्ते**–१ से ३ इञ्च लम्बे गोलाकार हृदयाकृति, कंघी के पत्तों के आकार वाले, ३ से ५ भागों में थोड़ी दूर तक विभक्त और ऊपर के पत्ते दन्तुर होते हैं। पत्तों को मसलने से चिपचिपापन मालूम होता है। शाखाओं के अन्त में फूलों के गुच्छे लगते हैं। **पुष्पदल**-किञ्चित हलके गुलाबी रङ्ग के होते हैं। **फल**-अण्डाकृति, छोटे एवं चने बराबर होते हैं। **बीज**-भूरे रंग के, तैल से युक्त लेकिन गन्धहीन होते हैं। **मूल**–७–८ इञ्च लम्बे, प्रायः ऐंठे हुए तथा अधिक से अधिक ½ इञ्च मोटे, चिकने, भूरे रंग के तथा अनेक उपमूलों से युक्त रहते हैं। इसमें कस्तूरी के समान सुगन्ध रहती है। औषध में इन्हीं मूलों का व्यवहार किया जाता है।

नोट—बाजार में सुगन्धवाला के नाम से मिलने वाला गांठदार द्रव्य सुगन्धवाला नहीं है। उसे असली तगर मानते हैं। उसका वर्णन पहले किया गया है। कुछ लोगों ने इसके लैटिन नाम में खस का लेटिन नाम दिया है, वह उचित नहीं है। कुछ लोगों ने खस जाति के ही दूसरे तृण का लैटिन नाम सुगन्धबाला के लिए दिया है जिसको कुछ लोग खस का ही पर्याय मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें लुआबदार पदार्थ तथा उत्तेजक सुगन्धि द्रव्य है।

गुण और प्रयोग—सुगन्धवाला शीतल, स्नेहन, दीपन, वातानुलोमक, उत्तेजक एवं बल्य है।

इसका उपयोग ज्वर, रक्तपित्त, दाह, तृषा, हृल्लास, वमन, अतिसार, व्रणशोथ एवं विसर्प में किया जाता है।

(१) किसी भी प्रकार के ज्वर में षडंग पानीय के रूप में नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, श्वेत चन्दन, सुगन्धवाला एवं सोंठ का क्वाथ देने से ज्वर का दाह एवं प्यास कम हो जाती है।

(२) बेल के साथ इसका उपयोग संग्रहणी में लाभकर होता है। अतिसार में आदी के साथ इसको फाण्ट बना कर पिलाते हैं। बच्चों के अतिसार में चावल के धोवन के साथ मिश्री, मधु तथा सुगन्धबाला देते हैं। वमन, हृल्लास आदि में भी तण्डुलोदक के साथ इसको देते हैं।

(३) रक्तपित्त में चन्दन, मिश्री तथा तण्डुलोदक के साथ इसका प्रयोग किया गया है।

(४) विसर्प में इसके चूर्ण को घृत के साथ लेप करते हैं। श्वित्र में इसकी जली हुई काली राख का लेप लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—३–६ माशा।

अथ वीरणम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्याद्वीरणं वीरतरुर्वीरश्च बहुमूलकम्। वीरणं पाचनं शीतं वान्तिहृल्लघु तिक्तकम् ॥ ८४ ॥
स्तम्भनं ज्वरनुद् भ्रान्तिमदजित्कफपित्तहृत्। तृष्णाऽस्रविषवीसर्पकृच्छ्रदाहव्रणापहम् ॥८५॥

वीरण अर्थात् गांडर घास के नाम तथा गुण—वीरण, वीरतरु, वीर और बहुमूलक ये नाम संस्कृत में वीरण के हैं। वीरण-पाचक, शीतवीर्य, वमन को दूर करने वाला, लघु, तिक्त रसयुक्त एवम् स्तम्भन होता है। यह ज्वर, भ्रमरोग, मदरोग, कफ, पित्त, तृषा, रक्तप्रकोप, विष, वीसर्प, मूत्रकृच्छ्र, दाह और व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ ८४–८५ ॥

अथोशीरम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदञ्च तत्। अमृणालञ्च सेव्यञ्च समगन्धिकमित्यपि ॥८६॥
उशीरं पाचनं शीतं स्तम्भनं लघु तिक्तकम् ॥ ८७ ॥
मधुरं ज्वरहृद्वान्तिमदनुत्कफपित्तहृत्। तृष्णाऽस्रविषवीसर्पदाहकृच्छ्रव्रणापहम् ॥ ८८ ॥

खस के नाम तथा गुण – 'वीरण' नामक घास के जड़ को 'खस' कहते हैं। उसके संस्कृत नाम–उशीर, नलद, अमृणाल, सेव्य और समगन्धिक ये सब हैं। खस–पाचक, शीतवीर्य, स्तम्भन, लघु, तिक्त तथा मधुर रस युक्त होता है और यह ज्वर, वमन, मदरोग, कफ, पित्त, तृषा, रक्तप्रकोप, विष, वीसर्प, दाह, मूत्रकृच्छ्र और व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ ८६–८८ ॥

३३ वीरण–खस

हि०–खस, बीरन मूल, गांडर, बेना। बं०–बेणर मूल, खसखस। म०–वाला। गु०–वालो। क०–मुडिवाल। ते०–वेट्टिवेलु। ता०–वेट्टिवेर। फा०–रेशये वाला, बीखेवाला। अं०–Cuscus grass (कसकस ग्रास) ले०–*Andropogon muricatus Retz.* (एन्डोपोगोन् म्युरिकॅटस् रेझ.); *Vetiveria zizanioides (Linn.) Nash* (वेटिवेरिया झाइझेनिऑइडिस् (लिन) नॅश)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। यह अधिकतर खुले हुये दलदल वाले स्थानों में होता है।

खस–तृणजातीय औषधि का क्षुप २ से ५ फुट तक ऊँचा एवं दृढ होता है। यह गुच्छबद्ध और समूह बद्ध होकर उगता है। **पत्ते**–सरकण्डे के समान १–२ फुट लम्बे और पतले होते हैं। ये दो कतारों में तथा आधार पर परस्पराच्छादित रहते हैं। मूलीयपत्र कुछ अधिक लम्बे रहते हैं। मध्यशिरा दबी हुई तथा पत्तों के किनारों पर दूर दूर पर तीक्ष्ण कांटे रहते हैं। फूलों का घनहरा पीलापन या किञ्चित् लाली युक्त होता है। इसकी जड़ सुगन्धित होती है। इसी को खस कहते हैं। औषध के अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतु में इसके बने परदे एवं पखों आदि का उपयोग किया जाता है। सुगन्धि के लिये इसके इत्र का भी बहुत व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, राल, रंजक पदार्थ, अम्लद्रव्य, चूने का लवण, लौहभस्म तथा काष्ठयुक्त पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—खस शीतल, तिक्त, स्तम्भक, पाचक, पित्तनाशक, मूत्रजनक, पसीनें की दुर्गन्ध दूर करने वाला, ज्वरहर, दाहशामक, स्तन्यजनक, वमन को रोकने वाला, श्रमहर एवं जल को सुगन्धित करने वाला है।

इसका उपयोग फांट के रूप में पित्तज्वर, प्रसूति ज्वर, तृष्णा, दाह, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, विष, स्वेद दुर्गन्धि, वमन, कुष्ठ एवं आमाशयिक प्रक्षोभ आदि में किया जाता है। इसका लेप दाह, त्वचा के रोग तथा पसीने को रोकने वाला है।

(१) वमन को रोकने के लिये ½ तो० खस को १ पाव उबलते जल में डालकर उसके फांट को पिलाते हैं। इसके साथ धनियाँ का भी उपयोग लाभदायक है। विसूचिका में वमन रोकने के लिये २ बूँद इत्र बताशा में भरकर खिलाते हैं।

(२) पसीने की अधिकता तथा मसूरिका में इसका लेप किया जाता है।

(३) लोहबान के साथ चिलम में रखकर या सिगरेट बनाकर इसका धूम्रपान करने से शिरःशूल दूर होता है।

मात्रा—२–४ माशा।

अथ जटामांसी । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जटामांसी भूतजटा जटिला च तपस्विनी । मांसी तिक्ता कषाया च मेध्या कान्तिबलप्रदा ॥
स्वाद्वी हिमा त्रिदोषास्रदाहवीसर्पकुष्ठनुत् ॥ ८९ ॥

जटामांसी (बालछड़) के नाम तथा गुण— जटामांसी, भूतजटा, जटिला, तपस्विनी और मांसी ये सब संस्कृत नाम जटामांसी के हैं। **जटामांसी** (बाल छड़)-तिक्त तथा कषाय रस युक्त, मेधाजनक, कान्तिकारक, बलप्रद, स्वादिष्ट और शीतवीर्य होती है और यह त्रिदोष, रक्तप्रकोप, दाह, वीसर्प एवम् कुष्ठ को दूर करने वाली होती है ॥ ८९ ॥

५४ जटामांसी

हि०–जटामांसी, बालछड़ । **बं०**–,**गु०**–,–**म०**–जटामांसी । **ते०**–जटामांशी । **क०**–जेटामावशी । **पं०**–बिल्लीलोटन । **ता०**–जटामाशी । **का०**–भूतिजटा । **सु०**–सम्बुल । **फा०**–नारदे हिन्दी । **अ०**–सुंबुलुत्तीबे हिन्दी, सुम्बुले हिन्दी । **अं०**–Spikenard (स्पाइकनार्ड); Indian Nard (इण्डियन नार्ड); Nardus root (नार्डस् रूट) । **ले०**–*Nardostachys jatamansi DC.* (नार्डोस्टॅकिस् जटामांसी डीसी.) । Fam. Valerianaceae (वॅलेरियानॅसी) ।

जटामांसी—यह हिमालय के जङ्गलों में कुमाऊँ से सिक्कम तक १७ हजार फीट की ऊँचाई पर तथा भूटान में उत्पन्न होती है । इसका बहुवर्षायु क्षुप सीधा खड़ा रहता है । राइझोम (भौमिक तना) काष्ठमय, लम्बा, मजबूत एवं सूखे हुये रेशेदार पर्णवृन्त से युक्त रहता है । भूमि के ऊपर जड़ से कई शाखाएं निकलती हैं और वे ६–७ अंगुल तक सघन बारीक जटाकार रोवें से भरी रहती हैं । **पत्ते**–जटा को छोड़ कर ऊपर ६–७ इञ्च लम्बे तथा १ इञ्च चौड़े, जड़ की ओर संकुचित, मृदु रोमश या चिकने मूलीय पत्ते रहते हैं । **काण्डपत्र**–एक या दो जोड़े, १–२ इञ्च लम्बे, अवृन्त, आयताकार या उपलट्वाकार होते हैं । डंडियों के अन्त में सफेद या किंचित गुलाबी रङ्ग के छोटे-छोटे फूलों के गुच्छे लगते हैं । **फल**–छोटे-छोटे गोल, सफेद रोएँदार तथा उनके ऊपर बाह्यकोष के अंडाकार, तीक्ष्ण, दन्तुर बाह्यदल लगे रहते हैं ।

इसके सूखे हुवे राइझोम (भौमिक तना) तथा मूल का औषध में व्यवहार किया जाता है । इसका मूल गहरे धूसर (Grey) रंग का, छोटी अंगुली के बराबर मोटा तथा रक्ताभ भूरे रंग के रोओं से युक्त होता है । ये रोएदार तन्तु इसके सूखे हुये पर्णवृन्त तथा मूल के भाग हैं जिनके आपस में मिलने से जटासी बन जाती है । अन्दर से यह रक्ताभ भूरे रंग की होती है । इसमें एक प्रकार की विशिष्ट गन्ध (असली तगर के समान) होती है तथा इसका स्वाद सुगन्धियुक्त कड़ुवा होता है । इसको हमेशा ताजी खरीदना चाहिये ।

नोट—अन्य निघण्टुओं में गन्धमांसी, आकाशमांसी, कृष्णा सुगन्धमांसी आदि भेद लिखे हुवे हैं । प्राचीन ग्रन्थों में इसके स्वतन्त्र उपयोग बहुत कम मिलते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसमें का प्रधान तत्त्व एक उड़नशील तैल है जो ०.२–०.४% पाया जाता है । यह तैल हलके पीले रंग का कुछ हरिताभ, जल से हलका, हवा में जमने वाला, कपूर के समान गन्ध वाला, कड़वा तथा तीता होता है । इस तैल में ईस्टर, अल्कोहल तथा सेस्क्वी टर्पेन हाइड्रोकार्बन पदार्थ होते हैं । इस तैल के अतिरिक्त जटामांसी में १% एक रवेदार किन्तु जल में न घुलने वाला अम्ल द्रव्य तथा राल पाई जाती है ।

गुण और प्रयोग—जटामांसी शीतल, सुगन्धि, दीपन, पाचन, बल्य, रक्ताभिसरणोत्तेजक, उद्वेष्टननिरोधि, वातानुलोमक, मूत्रल, मृदुविरेचक, आर्तवजनन, वातनाड़ीशामक, संज्ञास्थापन,

मेध्य, त्रिदोषघ्न, केश्य, ज्वरहर, त्वग्दोषहर, कान्तिवर्धक, वेदनास्थापन, हृदयबल्य एवं सौमनस्य जनन है । इसके सेवन से क्षुधा बढ़ती है, पाचन ठीक होता है किन्तु कोष्ठबद्धता नहीं होती । इसके सेवन से उदर में उष्णता मालूम होती है, डकार आती है, संपूर्ण शरीर में उष्णता मालूम होकर पसीना आता है, मूत्र की मात्रा बढ़ती है तथा नाड़ी सबल होती है । मस्तिष्क एवं नाड़ी तन्तुओं पर इसकी पोषक तथा उत्तेजक क्रिया होती है । अल्प मात्रा में बहुत दिन देते रहने से मन की चञ्चलता शान्त होती है, काम करने में उत्साह बढ़ता है तथा नाड़ी का बल बढ़ता है ।

अपस्मार, अपतन्त्रक तथा अन्य आक्षेपयुक्त व्याधियों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है ।

(१) मस्तिष्क तथा नाड़ी तन्तुओं के विकारों में जटामांसी बहुत लाभप्रद होती है । शराबियों को व्रण होने पर या उन पर कोई शस्त्रक्रिया करने पर उनको एक तरह का भ्रमणयुक्त कम्प उत्पन्न होता है । ऐसी अवस्था में जटामांसी के प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है । अत्यन्त मानसिक परिश्रम या अस्थैर्य से थकावट उत्पन्न होने पर इसका सेवन नाडियों के लिए बलकारक तथा श्रमहर होता है । अपतन्त्रक में इससे आवेग कम होते हैं । शिरःशूल के लिये यह उत्कृष्ट औषध है । मानसिक आघात में यह बहुत जल्दी काम करती है । हींग, कस्तूरी आदि की अपेक्षा जटामांसी इन विकारों में अधिक उपयोगी तथा शीघ्र कार्यकर मानी जाती है । भूतावेश जैसी चेष्टाओं में जटामांसी, ब्राह्मी स्वरस तथा घोडबच का मधु के साथ प्रयोग करते हैं । अपस्मार, अपतन्त्रक, हृदय की धड़कन, कम्पवात तथा अन्य आक्षेपयुक्त व्याधियों में इसका फाण्ट बहुत प्रभावशाली माना जाता है । इनमें इसे १ से २ औंस की मात्रा में दिन में ३ बार पिलाते हैं । अपस्मार में इसके तैल का २–५ बूँद की मात्रा में सेवन कराया जाता है ।

(२) रक्ताभिसरण ठीक न होता हो तो यह बहुत ही उपयुक्त औषध है । इससे मस्तिष्कगत रक्तप्रवाह सन्तुलित होता है जिससे सर का भारीपन, चक्कर, मूर्च्छा, आंखों के सामने अंधियारी, सुनाई कम पड़ना आदि में लाभ होता है । हृदय की धड़कन, कमजोरी तथा हृदय के कारण उदर में वायु सञ्चित होने पर इसे सुगन्ध द्रव्य तथा नवसादर के साथ खिलाते हैं । इससे रक्तवाहिनियों का संकोच होकर रक्तपित्त, विसर्प तथा रक्तस्राव में लाभ होता है ।

(३) जटामांसी ४, दालचीनी १, शीतलचीनी १, सौंफ १, सोंठ १ तथा मिश्री ८ भाग इनके चूर्ण को ३–९ माशे की मात्रा में आध्मान, शूल, आमाशयिक शूल तथा आक्षेपयुक्त विकारों में देते हैं । बच्चों के आध्मान, उदरशूल, सुशिक्षितों तथा नाजुक प्रकृति की स्त्रियों के मन्दशूल, कुपचन आदि पचन संस्थान के विकारों में जटामांसी और नवसादर के साथ सुगन्धि द्रव्यों को मिलाकर देते हैं । इससे पित्त का स्राव ठीक होकर पाचन सुधरता है ।

(४) औपसर्गिक शोथयुक्त ज्वरों में त्रिदोष की वृद्धि होने से रोगी प्रलाप करता है तथा सन्निपात के लक्षण दिखलाई देने लगते हैं । इन अवस्थाओं में इसके प्रयोग से शीघ्र लाक्षणिक लाभ होता है । इससे रक्ताभिसरण ठीक होता है, नाडी तन्तुओं को बल मिलता है, कफ ढीला होता है, दाह कम होता है तथा शोथ में भी लाभ होता है । विषम ज्वर में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है ।

(५) विस्फोट एवं व्रणों में इसके लेप से जलन तथा पीडा कम होती है । मुखपाक में भी इससे जलन तथा पीडा का शमन होता है । झाईं-व्यङ्ग आदि त्वग्दोषों में उबटन के रूप में व्यवहार करने से त्वचा की कान्ति बढ़ती है । यह बालों के लिये भी लाभदायक है । शिरःशूल में इसका लेप करते हैं । दन्तशूल में इससे मञ्जन कराते हैं । मुखदुर्गन्ध में इसे चबाते हैं । स्वेदाधिक्य में इसके चूर्ण का उपयोग मर्दन के लिये करते हैं । बेहोशी में इसे पीसकर आंखों पर लेप करते हैं ।

(६) पीडितार्तव में इसके सेवन से पीड़ा कम होती है तथा आर्तव स्राव ठीक होने लगता है। स्त्रियों में रजोनिवृत्ति के काल में कुछ विशिष्ट मानसिक तथा शारीरिक अवसाद के लक्षण उत्पन्न होते हैं ऐसी अवस्थाओं में जटामांसी बहुत उपयोगी होती है।

मात्रा—५-१० रत्ती।

अथ शैलेयम् (भूरिछरीला)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

शैलेयन्तु शिलापुष्पं वृद्धं कालानुसार्य्यकम् ॥ ९० ॥
शैलेयं शीतलं हृद्यं कफपित्तहरं लघु। कण्डूकुष्ठाश्मरीदाहविष हृद् गुदरक्तहृत्[1] ॥ ९१ ॥

शैलेय (भूरिछरीला) के नाम तथा गुण—शैलेय, शिलापुष्प, वृद्ध और कालानुसार्यक ये सब संस्कृत नाम भूरिछरीला के हैं। भूरिछरीला—शीतवीर्य, हृद्य (हृदय को हितकर), कफ तथा पित्तनाशक, लघु, एवम् खुजली, कुष्ठ, पथरी, दाह, विष तथा गुदा से रक्त गिरना इन सब को दूर करने वाला है।

३५ छरीला

हि०-छरीला, भूरिछरीला, पत्थरफूल। **बं**-शैलज। **म०**-दगडफूल। **गु०**-पत्थरफूल, छडीलो। **क०**-कल्लहुवु। **ते०**-शैलेय मनेद्रव्यमु, रतिपंचे। **ता०**-कल्पसी। **फा०**-उश्नह, गुलेसंग। **अ०**-हज़ः। **अं०**-Stone flowers (स्टोन फ्लावर्स); Yellow Lichen (यलो लाइचेन)। **ले०**-*Parmelia perlata Ach.* (पार्मेलिया परलॅटा आक०)। Fam. Parmeliaceae (पार्मेलियॅसी)।

छरीला—यह क्षुद्र वनस्पति पहाड़ी जमीन के पत्थरों पर उत्पन्न होती है और जान पड़ता है मानो यह पत्थर से ही अपना आहार लेती है। यह हिमालय और नीलगिरि के पहाड़ों पर पाई जाती है। यह वृक्षों और दीवालों पर भी पाई जाती है। यह हरी पेडीसी सञ्चित होकर जब सूख कर उतरती है तब इसके ऊपर का पृष्ठ काला और नीचे का सफेद होता है। जो अधिक सफेद होती है वही अच्छी समझी जाती है। इसकी कई जातियां पाई जाती हैं। इसका स्वाद फीका तिक्त-कषाय होता है। औषध के लिये हमेशा नया तथा सुगन्धयुक्त छरीला काम में लेना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें पीत रवेदार पदार्थ, गोंद, लाइचेनिन एवं क्राइसोफेनिक् एसिड, ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—छरीला शीतल, सुगन्धि, हृद्य, सौम्य मूत्रल, दीपन, वेदनास्थापन, ग्राही एवं शोथहर है। यह कफ, पित्त, दाह, तृषा, वमन, श्वास, व्रण, कण्डू, अश्मरी, विष, हृल्लास, गुदरक्तस्राव एवं रक्तविकार दूर करने वाला है। पेशाब रुकने पर १ तो० छरीला के फांट में मिश्री एवं जीरा मिलाकर पिलाते हैं तथा इसे गरम जल में भिगोकर कमर पर बांधते हैं। इसे ठण्डे जल में पीस कर सर पर लेप करने से शिरःशूल दूर होता है। व्रण पर इसे लगाने से लाभ होता है। यकृत् शूल निवारण के लिये इसका उपयोग करते हैं। अञ्जन के योगों में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—२-४ माशा।

---

१. विषहृल्लासरक्तजित् इति पाठा०।

अथ मुस्तकं-नागरमुस्तकञ्च। (मोथा-नागरमोथा)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

मुस्तकं न स्त्रियां मुस्तं त्रिषु वारिदनामकम्। कुरुविन्दश्च संख्यातोऽपरः क्रोडकसेरुकः ॥९२॥
भद्रमुस्तञ्च गुन्द्रा च तथा नागरमुस्तकः। मुस्तं कटु हिमं ग्राहि तिक्तं दीपनपाचनम् ॥९३॥
कषायं कफपित्तास्रतृड्ज्वरारुचिजन्तुहृत्। अनूपदेशे यज्जातं मुस्तकं तत्प्रशस्यते।
तत्रापि मुनिभिः प्रोक्तं वरं नागरमुस्तकम् ॥ ९४ ॥

मोथा तथा नागरमोथा के नाम और गुण—मुस्तक (इसका स्त्रीलिङ्ग को छोड़ कर शेष लिङ्गों में प्रयोग होता है), मुस्त (यह तीनों लिङ्गों में होता है), वारिदनामक (मेघवाची सभी शब्द) और कुरुविन्द ये सब संस्कृत नाम मोथा के हैं। दूसरे प्रकार का जो मोथा है जिसे नागरमोथा कहते हैं, उसके संस्कृत नाम—क्रोडकसेरुक, भद्रमुस्त, गुन्द्रा तथा नागरमुस्तक ये सब हैं। मोथा—कटुतिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतवीर्य, ग्राही, अग्निदीपक तथा पाचक होता है और यह कफ, पित्त, रक्तकोप, तृषा, ज्वर, अरुचि और कृमि का नाशक होता है। जो 'मोथा' अनूप देश में उत्पन्न होता है वही श्रेष्ठ होता है। उसमें भी मुनियों ने 'नागरमोथा' को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है।

३६ मोथा

हि०—मोथा। **बं**-मुता, मुथा। **म०**—मोथा, बिम्बल, भद्रमुष्टि। **गु०**—मोथ। **क०**—कोरनारि। **ते०**—तुंगमुस्ते। **ता०**—कोरइ किलंगु। **फा०**—मुश्के जमीं। **अ०**—सोअ(अ)द कूफी। **अं०**—Nut-grass (नट्ग्रास)। **ले०**—*Cyperus rotundus Linn.* (साइपेरस् रोटन्डस् लिन.)। Fam. Cyperaceae (साइपेरॅसी)।

मोथा इस देश के सब प्रान्तों में बहुलता से होता है। यह तृणजातीय वनस्पति बारहो मास पायी जाती है किन्तु बरसात में सर्वत्र देखने में आती है। इसमें मूलीय पत्रगुच्छ होता है जो एक कठोर कन्द सदृश भौमिककाण्ड से निकलता है। नीचे सूत्राकार अन्तर्भूमिशायी कांड भी प्रायः होते हैं जिनसे पौन से एक इञ्च के घेरे में अंडाकार कंद निकले रहते हैं जो कसेरू के समान ऊपर से काले रंग के और भीतर से लालीयुक्त सफेद होते हैं और इनमें सुगन्ध आती है। डंडी-पतली, ६ से २४ इञ्च तक ऊँची, त्रिकोणाकार तथा पत्तों के बीच से निकली रहती है। पत्ते-लम्बे और पतले होते हैं। डंडी के अग्रपर समस्थमूर्धजक्रम में पुष्पवाहक शाखायें निकलती हैं जो छोटे-छोटे अवृन्त काण्डजव्यूहों का संयुक्तव्यूह होती हैं। पुष्पव्यूह का आधार भाग तीन पत्रसदृश कोणपुष्पकों से घिरा रहता है। इसके काले-काले कंदों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

नोट—भावप्रकाशकार ने मोथा एवं नागरमोथा ये दो भेद यहां लिखे हैं तथा मुस्ता का एक अन्य कैवर्तमुस्ता (जलजमुस्ता, केवटीमोथा) भेद आगे लिखा है। नागरमोथा का ही दूसरा नाम भद्रमुस्ता लिखा है। अन्य निघण्टुओं में भद्रमुस्ता अलग लिखा है। सब मोथे के गुण करीब-करीब समान ही हैं तथा एक दूसरे के स्थान पर इनका उपयोग किया जा सकता है। अनूप देश में होने वाला नागरमोथा अधिक प्रशस्त माना गया है। यह हमेशा ताजा तथा सुगन्धयुक्त खरीदना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित उड़नशील तैल, वसा, शर्करा, गोंद, कार्बोहाइड्रेट, अॅल्ब्यूमिन सदृश पदार्थ, तन्तु तथा राख एवं अत्यल्प मात्रा में क्षाराभ आदि पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—मोथा ग्राही, दीपक, पाचक, स्वेदजनक, मूत्रजनक, स्तन्यवर्धक, आर्तवजनक, किञ्चित् गर्भाशयोत्तेजक, केशवर्धक, व्रणरोपक एवं कृमिघ्न है।

(१) कुपचन, वमन एवं अतिसार यदि आमाशय तथा आन्त्र के विकारों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। आमातिसार में ताजे कन्द को आर्द्रक के साथ पीसकर मधु मिला कर खिलाते हैं। इसमें २० मोथे के कन्दों को ३ गुने दूध तथा जल में उबाल कर दूध शेष रहने पर छानकर पिलाते हैं। सभी प्रकार के अतिसार में इसके क्वाथ में (क्वाथ ठंडा होने पर) मधु मिलाकर पिलाने से लाभ होता है।

(२) स्वेदजनक, मूत्रजनक एवं उत्तेजक होने से यह ज्वर, ज्वरातिसार एवं पित्त ज्वर में उपयोगी है।

(३) विसूचिका तथा मदात्यय में तृषा शान्ति के लिये इसके शीतल क्वाथ को पिलाते हैं।

(४) अक्षिव्रण में इसे घृत में भूनकर पीसकर लगाने से ३, ४ दिन में लाभ होता है। आँख की फूली एवं लालिमा में बकरी के मूत्र में इसे पीसकर उसका अंजन किया जाता है।

(५) इसकी ताजी जड़ को घिसकर गोघृत मिलाकर व्रण पर लगाते हैं तथा इसको जल में पीसकर दुग्धवृद्धि के लिये स्तन पर लेप करते हैं।

(६) रोमन लोग आर्तवजनन औषध के रूप में गर्भाशय की बीमारियों में इसका व्यवहार करते थे।

मात्रा—३-६ माशा।

३७ नागर मोथा

हि०-नागर मोथा। बं०-नागरमथा। म०-नागरमोथा, लवाला। मा०-नागर मोथो। गु०-नागरमोथ। क०-कोन्नरि गड्डे। ते०-नागमुस्तेलु। ता०-मुट्टाकाचि। फा०-मुश्के जमीं। अ०-सोअद कूफी। ले०-*Cyperus scariosus R. Br.* (साइपेरस् स्कॅरिओसस् आर. ब्र.)। Fam. Cyperaceae (साइपेरेसी)।

नागरमोथा-मोथे के समान तृणजातीय वनौषधि बंगाल, पेगु, उत्तरप्रदेश एवं पूर्व तथा दक्षिण के भागों के तालाब तथा सजल स्थान में पाया जाता है। इसकी डंडी १६ से ३६ इञ्च तक ऊँची, पतली त्रिकोणाकार होती है। जड़ के नीचे कंदवत् लम्बे-लम्बे, अंगुली प्रमाण मोटे, दबे हुये गहरे भूरे रंग के जो अन्तर्भूमिशायी काण्ड होते हैं उन्हीं को नागरमोथा कहते हैं जिनका चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—मोथा के समान।

गुण और प्रयोग—नागरमोथा शीतल, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, ग्राही, स्वेदजनन, कफघ्न, मेध्य, तृष्णानिग्रहण, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, कण्डूघ्न, मूत्रजनन, उत्तेजक तथा जन्तुनाशक है। इसका उपयोग मोथे के समान ही किया जाता है। यद्यपि इसमें इतने उपयुक्त धर्म हैं तथापि इसका प्रयोग अन्य औषधों के साथ अधिक किया जाता है।

(१) अरुचि, आमातिसार, वमन, रक्तार्श तथा कुपचन में नागरमोथा गुणकारी है। संग्रहणी में इससे बहुत लाभ होता है।

(२) ज्वर, प्रसूतिज्वर तथा पैत्तिक ज्वर में हमेशा इसका प्रयोग करना चाहिये। इससे प्यास कम होती है, पसीना आता है, उत्तेजना आती है, जीभ का स्वरूप अच्छा होता है, पेशाब साफ होता है तथा गर्भाशय का थोड़ा सा संकोच भी होता है। प्रसूता को दुग्ध शुद्धि तथा वृद्धि के लिये इसको खिलाते हैं तथा जल में घिस कर स्तन पर लेप करते हैं। इससे स्तन की दूध की गाँठें कम होती हैं।

(३) परमा में नागरमोथा बहुत लाभदायक है। यह प्रथम एवं द्वितीयावस्था में दिया जाता है।

(४) अपस्मार में उत्तर दिशा में होने वाले मोथे को पीसकर समान वर्ण वाली सवत्सा गौ के दुग्ध के साथ पिलाने से लाभ होता है।

(५) इसका जन्तुघ्न धर्म अधिक मात्रा में देने से ही मालूम होता है। कंडू में इसका लेप किया जाता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ कर्चूरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कर्चूरो वेधमुख्यश्च द्राविडः कल्पकः शटी। कर्चूरो दीपनो रुच्यः कटुकस्तिक्त एव च ॥९५॥
सुगन्धिः कटुपाकः स्यात्कुष्ठार्शोव्रणकासनुत्।
उष्णो लघुर्हरेच्छ्वासं गुल्मवातकफक्रिमीन् ॥ ९६ ॥

कचूर के नाम तथा गुण—कर्चूर, वेधमुख्य, द्राविड, कल्पक और शटी ये सब संस्कृत नाम कचूर के हैं। कचूर-कटु तथा तिक्त रस युक्त, अग्निदीपक, रुचिकारक, सुगंध युक्त, पाक में कटुरस युक्त, उष्णवीर्य और लघु होता है एवं यह कुष्ठ, बवासीर, व्रण, खांसी, श्वास, गुल्म, वात, कफ और कृमि इन सब रोगों का नाशक होता है ॥ ९५-९६ ॥

३८ कचूर

हि०-कचूर। बं०-शटी, एकांगी, शोरी, कचूरा। म०-कचोरा। गु०-कचूरो, षट् कचूरो। ते०-कचोरमु। ता०-किच्छिलिक किझंगु। क०-कचोरा। अ०-जरंबाद, परकुल् काफुर। फा०-कजूर। अं०-Zedoary (झिडोअरी)। ले०-*Curcuma zedoaria Rosc.* (कर्क्युमा झेडोरिआ रास्)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरॅसी)।

पूर्व हिमालय, सिंहल द्वीप, कनारा का तटीय प्रदेश तथा बर्मा के पश्चिम में यह आपही आप उत्पन्न होता है और कई प्रान्तों में रोपित किया हुआ भी पाया जाता है।

इसका क्षुप-तीन चार फीट ऊँचा हलदी के समान होता है और जड़ के नीचे अनेक कंद होते हैं। उनको कचरा कर सुखा लेते हैं। इसी को कर्चूर कहते हैं। पत्र-१-२ फीट लंबे, आयताकार, लंबाग्र और नीचे की ओर क्रमशः संकुचित होकर पत्रवृन्त में परिणत हो जाते हैं। ये कुछ कालापन लिये हुये तथा मध्य शिरा पर नीलारुण रंगीन धब्बों से युक्त होते हैं। पुष्पदंड पत्तियों के पहले निकलता है। कोणपुष्पक रक्ताभ और ऊपर के अपुष्प पत्र अधिक लाल होते हैं। फूल-नलिकाकार पीले रंग के आते हैं। फल-त्रिकोणाकार और बीज अंडाकार और सफेद होते हैं। अन्तर्भूमिशायी कन्द लंबगोल, भीतर हलके पीले और पूर्णतः विकसित रहते हैं। मूलाग्र कन्द अनेक और भीतर मुक्तावर्ण के होते हैं। अन्तर्भूमिशायी कंद कर्पूर तुल्य प्रियगंध वाले होते हैं। इन्हीं कंदों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसकी पत्तियों को मछली भूनने के काम में लाते हैं। इसी क्षुप के समान काली हलदी का क्षुप होता है जिसका वर्णन पृ० ११८ पर किया गया है।

कर्चूर का पर्याय शटी क्यों पड़ा इस सम्बन्ध में श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है कि प्राचीन ग्रन्थों में 'कर्चूर' का उल्लेख नहीं है, शठी का है। इस शठी (कपूरकचरी) की उपलब्धि कम होने के कारण उसके स्थान पर प्रतिनिधिरूप में कचूर का उपयोग होने लगा तथा उसे भी शठी

नाम दे दिया गया। शटी (कचूर) और शठी (कपूरकचरी) यह थोड़ा सा नामभेद कोई योजना-पूर्वक पार्थक्य दिखलाने के लिये नहीं रखा होगा। बल्कि गलती से ऐसे दो नाम पड़ गये होंगे।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, कड़ु मुलायम राल, गोंद, स्टार्च, शर्करा एवं ऑर्गेनिक् अम्ल आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कचूर सुगंधि, रुचिकर, दीपन, स्वर्य, कफहर, वातहर, मूत्रजनन एवं हृद्य है।

इसका उपयोग कास, श्वास, अजीर्ण, अर्श, हिक्का, ज्वर, संग्रहणी, प्लीहा, गुल्म, कुष्ठ, कृमि एवं व्रण में किया जाता है।

(१) मुख को साफ करने के लिये इसको चबाते हैं। गायक इसको आवाज साफ करने के लिये चूसते हैं। इससे खांसी एवं गले की खराश में लाभ होता है।

(२) इसके ताजे कंदों का पाक या खण्ड प्रसूता के लिए पौष्टिक माना जाता है।

(३) विषमज्वर, प्रतिश्याय तथा शरीर में पीडा हो तो कचूर, छोटी पीपल एवं दालचीनी का क्वाथ मधु मिलाकर पिलाते हैं तथा पीडा में इसका लेप करते हैं।

(४) श्वेत प्रदर तथा पूयमेह में यह बहुत लाभप्रद है। परमा में इसके फांट से जलन कम होकर पेशाब साफ होता है।

(५) जलोदर में इसके पत्तों का रस पिलाया जाता है। गांठों तथा फोड़े आदि पर इसके पत्तों को पीसकर बांधा जाता है। अर्श तथा अतिसार में इसका शाक के रूप में प्रयोग लाभप्रद माना जाता है।

(६) बच्चों के आक्षेप में कंबोडियन माताएं इसको चबाकर सर तथा शरीर पर लगाती हैं।

(७) मोच में इसको पीसकर फिटकिरी मिलाकर लगाते हैं।

मात्रा—१-४ माशा।

अथ मुरा (मुरहरी, एकाङ्गी)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मुरा गन्धकुटी दैत्या सुरभिः शालपर्णिका ॥ ९७ ॥
मुरा तिक्ता हिमा स्वाद्वी लघ्वी पित्तानिलापहा।
ज्वरासृग्भूतरक्षोघ्नी कुष्ठकासविनाशिनी ॥ ९८ ॥

मुरा (एकाङ्गी) के नाम तथा गुण—मुरा, गन्धकुटी, दैत्या, सुरभि और शालपर्णिका ये सब संस्कृत नाम मुरा के हैं। मुरा-तिक्त रस युक्त, शीतवीर्य, स्वादिष्ट और लघु होती है एवं यह पित्त, वात, ज्वर, रक्तविकार, भूत और राक्षस सम्बन्धी बाधा, कुष्ठ तथा खांसी इन सबों को दूर करने वाली होती है ॥ ९७-९८ ॥

३९ मुरा

मुरा नामक गन्धद्रव्य के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इसे मरोडफली (Helicteres isora Linn. हेलिक्टेरिस् आइसोरा लिन.) मानते है, जो उचित नहीं मालूम होता। डा० कर्नल चोपरा की पुस्तक में एरिथ्रिना स्ट्रिक्टा राक्सब. (Erythrina stricta Roxb.) का संस्कृत नाम मुरा लिखा मिलता है। पंजाबी में मुर्रा नाम साइनॅन्थस् का दिया है जिसके पुष्पों का दमे में उपयोग होता है। कुछ लोग इसे कचूर, कपूरकचरी या जटामांसी का भेद मानते हैं। अधिक संभव है यह कपूरकचरी का भेद हो।

अथ गन्धपलाशी (कपूरकचरी) (सुगन्धिद्रव्यं काश्मीरे प्रसिद्धम्)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शठी पलाशी षड्ग्रन्था सुव्रता गन्धमूलिका।
गन्धारिका गन्धवधूर्वधूः पृथुपलाशिका ॥ ९९ ॥
भवेद्गन्धपलाशी तु कषाया ग्राहिणी लघुः।
तिक्ता तीक्ष्णा च कटुकाऽनुष्णाऽऽस्यमलनाशिनी।
शोथकासव्रणश्वासशूलसिध्मग्रहापहा[1] ॥ १०० ॥

कपूर कचरी जो कि काश्मीर देश में प्रसिद्ध एक प्रकार का सुगन्धि द्रव्य है, उसके नाम तथा गुण – शठी, पलाशी, षड्ग्रन्था, सुव्रता, गन्धमूलिका, गन्धारिका, गन्धवधू, वधू, पृथुपलाशिका और गन्धपलाशी ये सब संस्कृत नाम 'कपूर कचरी' के हैं। कपूर कचरी-कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, ग्राही, लघु, तीक्ष्ण तथा थोड़ा उष्णवीर्य होती है एवम् यह मुख के मल को दूर करने वाली, शोथ, खांसी, व्रण, श्वास, शूल, सिध्म (या-हिक्का) और ग्रहबाधा इन सबों को दूर करने वाली है ॥ ९९-१०० ॥

४० कपूर कचरी

हि०-गंधपलाशी, कपूर कचरी, सितरूटी। बं०-शठी, गन्ध शटी। म०-कपूर कचरी। गु०-कपूर काचरी। क०-गन्ध शठी। ता०-शिमैकिचिलिक् किशंगु। पं०-कचूर कचु, शेदूरी। ले०-*Hedychium spicatum Ham. ex Smith* (हेडिचिअम् स्पाइकॅटम् हॅम्. एक्स स्मिथ)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरॅसी)।

यह हिमालय के साधारण प्रान्त, पंजाब, नेपाल और कुमाऊँ में अधिक उत्पन्न होती है।

यह क्षुप जाति की वनौषधि है। जड़-बहुवर्षायु, कन्दवत् भूमि के भीतर समतल बढ़ती है। इसी को सुखा कर कार्य में लेते हैं। डंठल-लम्बा पत्रयुक्त होता है। पत्ते-हल्दी के पत्तों के समान एक फुट लम्बे, अनियमित चौड़े एवं आयताकार-भालाकार होते हैं। फूल-सफेद आते हैं। फल-त्रिकोष्ठयुक्त, गोलाकार और चिकना होता है।

इसके मूलस्तंभ (मूल) को काटकर सुखाये हुये, छोटे बड़े सुगंधित टुकड़े बाजार में बिकते हैं। यह सफेद रंग के एवं पिष्टमय रहते हैं। इनका बाह्यत्वक् रक्ताभ भूरे रंग का होता है। इसका स्वाद कड़वा एवं तीता रहता है। अबीर के निर्माण एवं गुडाखु को सुगन्धित करने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। कपूर कचरी नाम से इसी वर्ग के 'चन्द्रमूल' (Kaempferia galangal Linn. केम्फेरिआ गॅलन्गल् लिन)[2] के मूल के टुकड़े भी व्यवहार में लाये जाते हैं जो इसी के समान होते हैं। बाजार में एक चीनी कपूर कचरी नामक औषध भी बिकती है जो देखने में अच्छी होते हुये भी उसमें सुगन्ध कम रहती है।

---

१. हिध्म इति पाठा०।

२. चन्द्रमूल के क्षुप दक्षिण की तरफ बगीचों में लगाये मिलते हैं। इसमें १४% खनिज द्रव्य, सुगंधि तैल, ४% गोंद तथा अधिक मात्रा में पिष्टमय पदार्थ रहते हैं। यह मूत्रल, वातानुलोमक, उत्तेजक एवं कफनिःसारक है। सर्दी-खाँसी में इससे सिद्ध तैल को नाक तथा छाती पर लगाते हैं एवं मधु के साथ १-२ रत्ती चूर्ण चटाते हैं। मुख को सुवासित करने के लिये इसके छोटे टुकड़े को मुख में रखते हैं। इसके उबटन का भी प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्टार्च, गोंद, सेल्युलोज, अल्ब्युमिन्, तैल, राल एवं सुगन्धि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कपूरकचरी उष्ण, ग्राही, लघु, कटु, तिक्त, दीपन एवं वातानुलोमक होती है। इसका उपयोग कास, श्वास, हिक्की, वमन, अपतंत्रक, शूल एवं व्रण में किया जाता है। दंतशूल में इसके मंजन से लाभ होता है। इससे मुख की दुर्गन्धि दूर होती है।

मात्रा—१-४ माशा।

अथ प्रियङ्गुर्गन्धप्रियङ्गुश्च। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

प्रियङ्गुः फलिनी कान्ता लता च महिलाऽऽह्वया॥ १०१॥
गुन्द्रा गन्धफला श्यामा विष्वक्सेनाङ्गनाप्रिया।
प्रियङ्गुः शीतला तिक्ता तुवराऽनिलपित्तहृत्॥ १०२॥
[1]रक्तातीसारदौर्गन्ध्यस्वेददाहज्वरापहा।
(वान्तिभ्रान्त्यतिसारघ्नी वक्त्रजाड्यविनाशिनी)॥
गुल्मतृड्विषमोहघ्नी[2] तद्वद् गन्धप्रियङ्गुका॥ १०३॥

'प्रियङ्गु' तथा 'गन्धप्रियङ्गु' के नाम और गुण—प्रियङ्गु, फलिनी, कान्ता, लता, महिलाह्वया (स्त्रीवाचक सभी शब्द), गुन्द्रा, गन्धफला, श्यामा, विष्वक्सेनाङ्गना और प्रिया ये सब संस्कृत नाम 'प्रियङ्गु' के हैं। प्रियङ्गु-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और शीतवीर्य होती है। यह वात, पित्त, रक्तातिसार, दुर्गन्ध, पसीना, दाह, ज्वर, (वमन, चक्कर, अतिसार, मुँह की जड़ता) गुल्म, तृषा, विष और मोह इन सब रोगों को दूर करती है। इसी भाँति 'गन्धप्रियङ्गु' के भी गुण होते हैं॥ १०१-१०३॥

अथ तत्फलगुणानप्याह

तत्फलं मधुरं रूक्षं कषायं शीतलं गुरु। विबन्धाध्मानबलकृत्संग्राहि कफपित्तजित्॥ १०४॥

प्रियङ्गु का फल—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, शीतवीर्य और गुरु होता है। यह विबन्धकारक, आध्मानकारक, बलकारक एवं संग्राही तथा कफपित्त नाशक होता है॥ १०४॥

४१ प्रियङ्गु

प्रियङ्गु के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। इसी निघण्टु के धान्यवर्ग में कंगु (कंगुनी धान्य) के पर्याय में भी प्रियङ्गु नाम दिया हुआ है। इससे भ्रम होता है कि क्या यहाँ पर वर्णित प्रियङ्गु तथा धान्यवर्गोक्त प्रियङ्गु एक ही हैं? प्रियङ्गु से कौन सा प्रियङ्गु लिया जाय? वास्तव में कङ्गु के पर्याय में केवल प्रियङ्गु नाम देने से ही प्रियंगु से कंगु धान्य लेना उचित नहीं है। दोनों के गुण बिलकुल भिन्न हैं। जहां पर टीकाकारों ने स्पष्ट रूप से प्रियंगु के लिये कंगु लेने का निर्देश किया हो वहीं पर प्रियंगु के लिये कंगु का उपयोग किया जा सकता है अन्यथा प्रियंगु से कर्पूरादिवर्गोक्त प्रियंगु ही लेना उचित है। कुछ लोगों ने कंगु से पार्थक्य करने के लिये इसको गंधप्रियंगु लिखा है लेकिन भावप्रकाशकार ने यहां पर प्रियंगु तथा गंधप्रियंगु दो द्रव्यों का उल्लेख किया है। यहां

१. रक्तातियोग इति पाठा०। २. मेहघ्नी इति पाठा०।

पर इन दोनों के गुण समान बतलाये हैं। धान्यवर्गोक्त कंगु, जिसका एक पर्याय प्रियंगु है, उसके तथा यहां पर उल्लिखित प्रियंगु के गुण समान नहीं हैं, यह बात ध्यान में रखने की है। निम्नलिखित वर्णन केवल यहीं पर वर्णित प्रियंगु का है, कङ्गु (धान्य) का नहीं।

यहां पर उपर्युक्त श्लोकों में जिन दो द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, उनके लिये गंधप्रियङ्गु नाम देना ठीक है। हो सकता है कि प्रियङ्गु के संदिग्ध द्रव्य रहने के कारण दो विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का उपयोग भावप्रकाशकार के समय होता रहा हो, जिनमें से एक में गंध हो तथा दूसरे में गंध न हो या बहुत कम हो अथवा एक ही प्रकार के दो क्षुप हों जिनमें से एक में गंध हो और दूसरा निर्गंध हो, जिसका आगे स्पष्टीकरण होगा।

आजकल इसी उपर्युक्त 'प्रियङ्गु, गंधप्रियङ्गु' के लिये ३ प्रकार के द्रव्यों का उपयोग किया जा रहा है। बंबई की तरफ घऊँला नाम से प्रुनस् महालिब् (Prunus mahaleb) की फलमज्जा बिकती है, जिसका उपयोग प्रियङ्गु के रूप में वहां पर करते हैं। बंबई प्रान्त में श्वेतचंदन, घऊँला एवं कपूरकचरी को जल में पीस कर सुगंधित लेप के लिये प्रयोग किया जाता है। चरक ने रक्तपित्त में दाहशांति के लिये चन्दन और प्रियङ्गु के लेपन से उपलिप्त स्त्रियों के स्पर्श का विधान किया है।[1] यह मज्जा छोटी चिरौंजी जैसी, गोधूमवर्ण की, स्वाद में तिक्त एवं सुगन्धित होती है। दूसरा द्रव्य ॲग्लेइआ रॉक्सबर्घियाना (Aglaia roxburghiana) के फल हैं जो कुछ गोल, छोटे, निंब फल सदृश एवं सूखने पर सिकुड़नदार दिखलाई देते हैं। इनका व्यवहार बहुत दिनों से होता आ रहा है लेकिन इसमें गंध नाम मात्र को होती है। तीसरा द्रव्य कॅलिकार्पा मॅक्रोफाइला (Callicarpa macrophylla) नामक गुल्म (झाड़ी) की पुष्प कलिकायें हैं जो छोटी-छोटी कङ्गुनी धान्य सदृश होती हैं। इसका वर्णन अभिनव बूटी दर्पण में है लेकिन वहां पर इसका लेटिन नाम नहीं लिखा है। इसके लेटिन नाम के साथ इसका वर्णन श्रीमान् ठा० बलवन्त सिंह जी ने 'वनौषधिदर्शिका' एवं 'बिहार की वनस्पतियाँ' इन पुस्तकों में किया है। मूल श्लोक एवं अन्य निघंटुओं में दिये हुए फलिनी, कृष्णपुष्पी, गन्धफला, कृशाङ्गी, महिलाह्वया, पर्णभेदनी आदि इसके रूपपरिचयात्मक पर्याय इससे कुछ मिलते होने के कारण इसको प्रियङ्गु मानते हैं। एक बात ध्यान देने की है कि इसकी झाड़ी या गुल्म होता है। यह लता नहीं है। पुष्प भी श्वेत वर्ण के होते हैं। श्रीमान् बाबू भीमचन्द्र चटर्जी द्वारा लिखित 'दि एकॉनॉमिक बोटॅनी ऑफ इण्डिया' से 'अभिनव बूटी दर्पण' में कुछ अंश उद्धृत किया गया है जिसमें वे लिखते हैं कि 'नेपाल, चटगाँव तथा पूर्व बंगाल के कुछ भागों में इसी का व्यवहार प्रियङ्गु के रूप में लोग करते हैं। नेपाल में दयालो तथा श्वेतदयालो नाम से उपयोग में लाई जाने वाली लताओं का वर्णन उपर्युक्त लता से ठीक मिलता है। श्वेतदयालो तथा दयालो एक ही समान हैं किन्तु अन्तर इतना ही है कि श्वेतदयालो गन्धयुक्त होती है एवं इसके पत्ते कुछ बड़े, अधिक श्वेत तथा स्पर्श में खुरदरे होते हैं। इससे मालूम होता है कि भावप्रकाशोक्त प्रियङ्गु तथा गन्धप्रियङ्गु यह दयालो तथा श्वेतदयालो हैं। जिला गढ़वाल और अल्मोड़ा में दहिया के नाम से यह प्रसिद्ध है तथा कुमाऊँ प्रान्त के वैद्य इसको प्रियङ्गु मानते हैं।'

इन तीन द्रव्यों के अतिरिक्त मेंहदी के फूल, कुमुदनी, सरसों के फूल, मालकांगुनी एवं गोंदनी आदि को भी कुछ लोग प्रियंगु मानते हैं। चरक में संधानीय, शोणितास्थापन, पुरीष संग्रहणीय एवं मूत्रविरजनीय गणों में तथा सुश्रुत में अञ्जनादि, एलादि तथा प्रियंग्वादिगणों में प्रियंगु का

१. प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्। (च. चि. अ. ४)

उल्लेख है। चरक ने रक्त और पित्त की अतिवृद्धि को शान्त करने वालों में गन्धप्रियंगु को श्रेष्ठ माना है (च. सू. अ. २५)। उपर्युक्त तीन द्रव्यों का वर्णन यहां दिया जा रहा है।

प्रियंगु १ (फूलप्रियंगु)

हि०–प्रियंगु। फूलप्रियंगु, गन्धप्रियंगु, बुंडुड, बूढीघासी, डइया, दहिया। **बं०**–मथुरा। **नेपा०**–दयालो, श्वेतदयालो। **पं०**–सुमाली। **ले०**–*Callicarpa macrophylla Vahl* (कॅलिकार्पा मॅक्रोफाइला वाह्.)। Fam. Verbenaceae (व्हर्बिनॅसी)।

यह जंगलों के किनारे, घाट और ऊँची चढ़ाइयों तथा खुले हुये जंगल और परती भूमि में होता है। यह नेपाल, देहरादून के जलप्राय स्थानों, बंगाल तथा बिहार के अनेक स्थानों में पाया जाता है। बलिया स्टेशन के अहाते में लगे हुए इसी प्रकार के एक क्षुप का उल्लेख चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय से प्रकाशित 'सचित्र अभिनव बूटीदर्पण' में किया हुआ है।

इसका **गुल्म**–४ से ८ फीट ऊंचा, और तूल रोमश होता है। **शाखाएँ**—अनियमित रूप से फैली रहती हैं। **पत्ते**—५ से १० इंच लंबे, अंडाकार, या अंडाकार-भालाकार, लम्बाग्र, ऊपर चिकने, नीचे तूलरोमश एवं किनारा गोल दन्तुर होता है। **पुष्प**—गुलाबी, सघन द्विविभक्त १ से ३ इंच व्यास के गुच्छों में आते हैं। **फल**—सफेद एवं ·१२–·१८ इंच व्यास के होते हैं। डालियाँ पुष्पगुच्छों के बोझ से झुक जाती हैं।

इसकी छोटी छोटी प्रियंगु धान्य सदृश पुष्प कलिकाएँ फूल प्रियंगु के नाम से मिलती हैं। इनमें मसलने पर गन्ध भी होती है। शास्त्रीय गन्धप्रियंगु यही मालूम होती है। ग्रामीण लोग गठिया में इसकी पत्तियों से सेंक करते हैं।

प्रियंगु २ (घऊँला)

हि०–प्रियंगु, महालिब। **म०**–गहुला, गावल। **गु०**–घऊंला। **अ०**–महलिब। **ले०**–*Prunus mahaleb Linn.* (प्रूनस् महालिब् लिन.)। Fam. Rosaceae (रोझॅसी)।

यह बलोचिस्तान में पाया जाता है। इसका **गुल्म** अनेक फैली हुई तथा सीधी शाखाओं से युक्त होता है। **पत्ते**–कुछ लंबाई लिये अंडाकार एवं दन्तुर होते हैं। **पुष्प**–श्वेत रंग के; **फल**–छोटे, अंडाकार एवं नोकीले होते हैं। घऊंला नाम से प्रियंगु की मज्जा बंबई के बाजार में बिकती है। यह छोटी चिरौंजी जैसी, गोधूम वर्ण की, कड़वी और सुगंधित होती है। सुगंधि लेप में श्वेत चन्दन तथा कपूर कचरी के साथ इसका उपयोग बंबई प्रान्त में लोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में अल्प मात्रा में पद्मकाष्ठ में पाया जाने वाला हाइड्रोसायेनिक् एसिड (Hydrocyanic acid) नामक तीव्र विष रहने के कारण इसका उपयोग सावधानी के साथ करना चाहिये। इसके अतिरिक्त इसमें काउमॅरिन् (Coumarin), सॅलीसिलिक् एसिड (Salicylic acid) एवं ॲमिग्डॅलिन् (Amygdalin) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, वेदनाहर, दीपन एवं मूत्रल है। इसका उपयोग पीडायुक्त कुपचन, आमाशय के क्षत तथा आमाशय के अर्बुद में करते हैं।

मात्रा—२–५ रत्ती।

प्रियंगु ३

हि०–प्रियंगु। **कं०**–तेविलकामि। **ले०**–*Aglaia roxburghiana Miq.* (ॲग्लेइआ राक्सबर्घियाना मिक्.)। Fam. Meliaceae (मेलियॅसी)।

यह पश्चिमी प्रायद्वीप में कोंकण और मिदनापूर से दक्षिण की ओर सिलोन तक ६००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

इसका साधारण **वृक्ष** होता है। छाल किंचित खाकी रंग की और चिकनी होती है। लकड़ी मजबूत तथा चमकीले लाल रंग की होती है। **पत्ते**–पक्षवत् पत्ते ३–१० इञ्च लम्बे और उनके पत्रक संख्या में ५, १½ से ५½ इञ्च लम्बे, पतले अण्डाकार या अण्डाकार–प्रासवत् और चिकने होते हैं। **पुष्प**–व्यास में १ इञ्च से कम, पीताभ और पत्ती के बराबर लम्बी मञ्जरियों में होते हैं जो पत्र कोण के ऊपर निकलती हैं। **फल**–कुछ कुछ गोल, निम्बफल सदृश, ¼–⅓ इञ्च व्यास के, रोमश तथा हरिण के रंग के रहते हैं जो सूखने पर भूरे रंग के सिकुड़नदार तथा आकार में छोटे हो जाते हैं। इसमें १ या २ बीज रहते हैं जो चिपटे करीब ¼ इञ्च लम्बे (ताजी अवस्था में) तथा एक तरफ से उन्नतोदर रहते हैं। बीज का स्वाद खट्टा तथा कसैला रहता है। ताजी अवस्था में इसमें सुगन्ध रहती है जो सूखने पर नहीं रहती।

इसके फलों का उपयोग बहुत दिनों से प्रियंगु के नाम से किया जा रहा है। हो सकता है कि भावप्रकाशकार ने प्रियंगु का जो फल लिखा है वह यही हो।

गुण और प्रयोग—यह शीतल एवं ग्राही होता है। इसका उपयोग ज्वर, पित्त तथा शोथयुक्त रोगों में किया जाता है।

मात्रा—१–३ माशा।

अथ रेणुका। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

रेणुकाराजपुत्री च नन्दिनी कपिला द्विजा। भस्मगन्धा पाण्डुपुत्री स्मृता कौन्ती हरेणुका॥
रेणुका कटुका पाके तिक्ताऽनुष्णा कटुर्लघुः। पित्तला दीपनी मेध्या पाचनी गर्भपातिनी।
बलासवातकृच्चैव[1] तृट्कण्डुविषदाहनुत्॥ १०६॥

रेणुका के नाम तथा गुण—रेणुका, राजपुत्री, नन्दिनी, कपिला, द्विजा, भस्मगन्धा, पाण्डुपुत्री, कौन्ती तथा हरेणुका ये सब पर्यायवाची शब्द रेणुका के हैं। रेणुका–पाक में कटुरसयुक्त, किंचित् उष्णवीर्य, तिक्त तथा कटुरस युक्त और लघु होती है एवम् यह पित्तजनक, अग्निदीपक, मेधा के लिये हितकर, पाचक, गर्भ गिराने वाली, कफ तथा वातकारक होती है। यह तृषा, खुजली, विष और दाह को दूर करती है॥ १०५–१०६॥

४२ रेणुका

रेणुका एक संदिग्ध औषध है। रेणुक बीज नाम से विदेश में होने वाली निर्गुण्डी की जाति के वृक्ष के फल बिकते हैं। लेकिन संभवतः ये फल शास्त्रीय रेणुका नहीं हैं। शास्त्रीय रेणुका शायद पिप्पलीवर्ग की पाइपर ऑरेण्टिएकम् वाल्. (Piper aurantiacum Wall.) के फल हैं। कुछ लोग निर्गुण्डी के बीज को ही रेणुका कहते हैं जो उसके प्रतिनिधि हो सकते हैं।

चरक में शिरोविरेचन एवं वमनोपग गणों में रेणुक बीज का पाठ है। ग्रहणी के मध्वरिष्ट में एवं व्रणपीडन रूप में रेणुका का उल्लेख है। चरक, सुश्रुत तथा रा. नि. इसको गर्भपातक नहीं मानते। सुश्रुत में हरेणुका का उल्लेख एलादिगण, पिप्पल्यादिगण में तथा रेणुका का उल्लेख कटुवर्ग में एवं भगंदर, नाडी, उपदंश व्रण तथा विष में इसका प्रयोग किया गया है।

---

1. बलासवातवैक्लव्य इति पाठा०।
तृष्णादाहविषक्लैव्यकफवातविनाशिनी॥ (नि. र.)

यहाँ पर वर्णन विदेश से आने वाले निर्गुण्डी की जाति के वृक्ष के फलों का किया गया है।

हि०-रेणुका, रेणुक, संभालू का बीज। गु०-हरेणु। म०-रेणुक बीज। इरा०-पंजनगुश्त। अ०-अथलक्। ले०-*Vitex agnus-castus Linn.* (वाइटेक्स् एग्नस्-कास्टस् लिन.)। Fam. Verbenaceae (व्हर्बिनेसी)।

यह बलूचिस्तान, अफगानिस्तान, पश्चिम एशिया, भूमध्यसागरीय प्रदेश आदि प्रदेशों में होता है। देहरादून के 'वैज्ञानिक बाग' में यह लगाया हुआ है।

इसका गुल्म या वृक्ष होता है जिसकी शाखायें चौपहल होती हैं। पत्ते-लम्बे पत्रनाल से युक्त, करतलाकार संयुक्त, पत्रक पांच कभी-कभी सात भी, मालाकार और लम्बे नोक वाले होते हैं। फल-साधारण मटर के बराबर, अण्डाकृति तथा धूसर वर्ण के होते हैं। बाह्य दल एवं वृन्त इसमें लगा रहता है। ये फल बहुत कड़े रहते हैं तथा काटने पर इसके अन्दर ४ खण्ड दिखलाई देते हैं जिनमें एक-एक छोटा चिपटा बीज रहता है। भारतीय निर्गुण्डी के फल से ये फल करीब आधे छोटे होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें कास्टाइन (Castine) नामक एक कडुवा पदार्थ, उडनशील दाहजनक पदार्थ, अम्लद्रव्य एवं तैल, ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—ईरानी रेणुक बीज स्तम्भन, शोथघ्न, आनुलोमिक, मूत्रजनन एवं उत्तेजक हैं। प्लीहावृद्धि तथा यकृत रोग के कारण उत्पन्न जलोदर में इसको देते हैं। हिक्की में छोटी पीपल के साथ इसको खिलाते हैं।

मात्रा—४ र०-१ मा०।

अथ ग्रन्थिपर्णम् (गठिवन)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ग्रन्थिपर्णं ग्रन्थिकञ्च काकपुच्छञ्च गुच्छकम्। नीलपुष्पं सुगन्धञ्च कथितं तैलपर्णकम्॥
ग्रन्थिपर्णं तिक्ततीक्ष्णं कटूष्णं दीपनं लघु। कफवातविषश्वासकण्डूदौर्गन्ध्यनाशनम्॥१०८॥

गठिवन के नाम तथा गुण—ग्रन्थिपर्ण, ग्रन्थिक, काकपुच्छ, गुच्छक, नीलपुष्प, सुगन्ध और तैलपर्णक ये सब संस्कृत नाम गठिवन के हैं। गठिवन-तिक्त तथा कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, अग्निदीपक तथा लघु होता है। यह कफ, वात, विष, श्वास, खुजली और दुर्गन्ध इन सबों को दूर करनेवाला होता है॥ १०७-१०८॥

४३ गठिवन

गठिवन का स्वरूप भी संदिग्ध ही है। आगे स्थौणेयक तथा चोरक नामक दो ग्रन्थिपर्ण के भेद दिये हुये हैं वे भी संदिग्ध ही हैं। कुछ विद्वान् इन तीनों नामों को एक दूसरे का पर्याय मानते हैं। तालीसपत्र के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों में से एक द्रव्य का स्थानिक नाम थुनेर होने से कुछ विद्वान् उसे ही स्थौणेयक मानते हैं। इस तरह यदि ग्रन्थिपर्ण एवं चोरक को थुनेर सजातीय माना जाय तो ये सब द्रव्य तालीसपत्र (थुनेर) के वर्ग के हो जाते हैं।

श्री शालिग्राम जी ने इसे आसाम की ओर बहुत उत्पन्न होने वाली तृण जाति की गाँठदार सुगन्धित वनस्पति माना है जिसमें पत्ते अंगुली के समान लम्बे-लम्बे और फूल नीले गुच्छों में आते हैं। कुछ लोग वनतुलसी को गठिवन मानते हैं।

श्री डॉ. वा. ग. देसाई ने ग्रन्थितृण नाम से एक वनस्पति का वर्णन किया है। उसके गुण शास्त्रीय ग्रन्थिपर्ण से मिलते नहीं फिर भी सादृश्य होने से उसका संक्षेप में यहाँ वर्णन दिया जाता है।

सं०-ग्रन्थितृण। हि०-केसी, मचोटी। पं०-मचूटि, केसु। काश्मी०-द्रोब। सिं०-एंद्राणी। इरा०-इझार, बंदुक। अं०-Knot-grass (नॉट्-ग्रास्)। ले०-*Polygonum aviculare Linn.* (पॉलिगोनम् एविक्युलेर लिन.)। Fam. Polygonaceae (पॉलिगोनेसी)।

यह काश्मीर से कुमाऊँ तक ६ से १२ हजार फीट की ऊँचाई में होता है। इसका छोटा सा क्षुप होता है। जड़-लम्बी, कुछ काष्ठमय एवं चिमडी होती है तथा उससे अनेक उपमूल निकले रहते हैं। शाखाएं-बहुत सी, जमीन पर फैली हुई एवं गोल होती हैं। इसकी टहनियों की ग्रंथियाँ बहुत गांठदार होती हैं तथा वहीं से पत्र निकलते हैं। पत्र-एकान्तर, शल्याकृति, अखण्ड, धूसर रंग के एवं १ इञ्च से छोटे होते हैं। पुष्प-श्वेत या लाल रंग के होते हैं। फल-त्रिकोणयुक्त, हरे एवं अग्रपर सूक्ष्म झुर्रीदार, चमकीले एवं काले होते हैं। सिन्ध में बीजों को बीजबंद कहते हैं। बला के बीजों को भी अनेक स्थानों में बीजबंद कहा जाता है। चिकित्सा में इसके मूल, पञ्चाग एवं बीजों का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें पोलिगोनिक् अम्ल तथा सुगन्धित तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ रक्तसंग्राहक, मूत्रजनन, अश्मरीघ्न, आनुलोमिक, ज्वरघ्न एवं कफघ्न है। बीज स्रंसन, मूत्रजनन एवं वामक होते हैं।

(१) अश्मरी या मूत्रकृच्छ्र में इसके पंचाग के क्वाथ या मूल रस का प्रयोग अधिक मात्रा में करने से बहुत लाभ होता है।
(२) जीर्ण अतिसार में मूल रस या पञ्चाग रस देते हैं।
(३) विषमज्वर में मूल रस का उपयोग करते हैं।
(४) फुफ्फुस विकारों में विशेष कर श्वसनिका शोथ एवं कुकास में पंचाग क्वाथ पिलाते हैं।
(५) सूखी हुई जड़ को पीसकर लगाने से वेदना कम होती है। विसर्प, बस्तिपीडा एवं आंव की पीडा में पत्तों का लेप किया जाता है।

अथ स्थौणेयकम्।

(ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदः, ईषत्सुगन्धं 'थुनेर' इति लोके प्रसिद्धम्)

तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्थौणेयकं बर्हिबर्हं शुकबर्हञ्च कुक्कुरम्। शीर्णरोमशुकञ्चापि शुकपुष्पं शुकच्छदम्॥१०९॥
स्थौणेयकं कटु स्वादु तिक्तं स्निग्धं त्रिदोषनुत्॥ ११०॥
मेधाशुक्रकरं रुच्यं रक्षोघ्नं ज्वरजन्तुजित्।
हन्ति कुष्ठास्रतृड्दाहदौर्गन्ध्यतिलकालकान्॥ १११॥

'गठिवन' के ही भेद में थोड़ी सुगन्ध से युक्त जो 'थुनेर' नाम से लोक में प्रसिद्ध औषध है, उसके नाम तथा गुण—स्थौणेयक, बर्हिबर्ह, शुकबर्ह, कुक्कुर, शीर्णरोम, शुक, शुकपुष्प और शुकच्छद ये सब संस्कृत नाम 'थुनेर' के हैं। थुनेर—कडु, तिक्तरस युक्त, स्वादिष्ट, स्निग्ध, तीन दोषों को दूर करने वाला, मेधा तथा शुक्र को बढ़ाने वाला, रुचिकारक, रक्षोग्रहनाशक एवं ज्वर, कृमि, कुष्ठ, रक्तविकार, तृषा, दाह, दुर्गन्ध और तिलकालक नामक रोग इन सबों को दूर करने वाला होता है॥ १०९-१११॥

४४ थुनेर

स्थौणेयक भी एक संदिग्ध औषध है। इसे ग्रन्थिपर्ण का भेद माना गया है लेकिन जब ग्रन्थिपर्ण ही संदिग्ध है तब इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है। तालीसपत्र नाम से लिये जाने वाले द्रव्यों में से एक का स्थानिक नाम थुनेर है। इसलिये कुछ लोग इस थुनेर को स्थौणेयक मानते हैं। थुनेर का वर्णन तालीसपत्र के साथ किया गया है। चरक में स्थौणेयक का उपयोग अगुर्वादि तैल में (चि. अ. ३), मृतसञ्जीवन अगद में (चि. अ. २३), बलातैल में (चि. अ. २८) एवं मदनफल उत्कारिकामोदक योग में (क. अ. १) किया गया है। सुश्रुत में एलादिगण (सू. अ. ३८) में इसका पाठ है।

कुछ लोगों ने ले०-*Clerodendrum infortunatum, Linn.*; Fam. Verbenaceae (क्लेरोडेन्ड्रम् इन्फोर्च्युनेटम् लिन, वर्बिनेसी), हि०-भांट, सं०-कारी, भाण्डीर को स्थौणेयक लिखा है। इसके १२ फीट तक ऊँचे क्षुप प्रायः सभी स्थानों में पाये जाते हैं। प्रत्येक भाग कटु और दुर्गन्धयुक्त होता है। पत्र-विपरीत, ४–९ इञ्च लम्बे, १–६ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, लम्बे नोक एवं लम्बे पत्रनाल से युक्त होते हैं। बाह्यपुट स्थायी, वर्धनशील और लाल होता है। आभ्यन्तर पुट रक्ताभ श्वेत होता है। इसके पत्र एवं मूल का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—भांट तिक्त पौष्टिक, उत्तम आनुलोमिक, पित्तसारक, कृमिघ्न एवं ज्वरघ्न है। तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर में यह लाभदायक है। बच्चों को इसके पत्र का चूर्ण २–५ रत्ती मधु एवं सुगन्ध द्रव्यों के साथ दिया जाता है। केंचुवे में इसके पत्र-रस को पिलाते हैं तथा बस्ति भी देते हैं। उदरशूल एवं अतिसार में इसकी जड़ को मट्ठे में पीस कर देते हैं। त्वचा के रोगों (खुजली) में इसका बाह्याभ्यन्तर प्रयोग करते हैं।

अथ ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदः। 'भटेउर' इति नेपालदेशे भवति। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

निशाचरो धनहरः कितवो गणहासकः। चोरकः शङ्कितश्चण्डो दुष्पत्रः क्षेमको रिपुः।
चोरको[1] मधुरस्तिक्तः कटुः पाके कटुर्लघुः॥ ११२॥
तीक्ष्णो हृद्यो हिमो हन्ति कुष्ठकण्डूकफानिलान्। रक्षोऽलक्ष्मीस्वेदमेदोऽस्रज्वरगन्धविषव्रणान्॥

'गठिवन' का ही भेद 'भटेउर' है जो कि नेपाल देश में उत्पन्न होता है, उसके नाम तथा गुण—निशाचर, धनहर, कितव, गणहासक, चोरक, शङ्कित, चण्ड, दुष्पत्र, क्षेमक और रिपु ये सब संस्कृत नामक 'भटेउर' के हैं। भटेउर-मधुर, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, पाक में कटु, लघु, तीक्ष्ण, हृदय के लिये हितकर और शीतवीर्य है। यह—कुष्ठ, खुजली, कफ, वात, रक्षोग्रह, अलक्ष्मी, पसीना, मेदरोग, रक्तविकार, ज्वर, दुर्गन्ध, विष और व्रण इन सबों को दूर करता है॥११०–११३॥

४५ भटेउर (चोरक)

चोरक यह भी सन्दिग्ध है। इसे ग्रन्थिपर्ण का भेद माना गया है। कुछ लोगों ने स्थौणेयक एवं चोरक को एक ही वनस्पति माना है। चरक में 'संज्ञास्थापन दशेमानि' में इसका उल्लेख है। धूपन द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है और उन्मादोक्त महापैशाचिक घृत में इसका प्रयोग किया

[1] रोचको इति पाठा०।

गया है। अपस्मार, हिक्का, श्वास एवं पीनस, नासारोग आदि में भी चोरक का उल्लेख है। कुछ लोग पान की जड़ का व्यवहार 'चोरक' नाम से करते हैं।

पञ्जाब की तरफ **चोरा** नाम से एक द्रव्य मिलता है। इसका लेटिन नाम *Angelica glauca Edgw.*; Fam. Umbelliferae (ॲन्जेलिका ग्लॉका, एज., अम्बेलिफेरी) दिया हुआ है।

यह पश्चिम हिमालय में काश्मीर से लेकर सिमला तक ८०००–१०००० की ऊँचाई पर पाया जाता है।

इसका क्षुप ४–७ फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-चिकना, स्वावलम्बी, पोला तथा महीन प्रसीताओं से युक्त रहता है। **पत्ते**-प्रायः बड़े, १–३ पक्षवत् होते हैं। **पत्रक**-संख्या में ३, अण्डाकार या भालाकार, अनियमित एवं तीक्ष्ण दांतों से युक्त, ऊपरी पृष्ठ गहरे रंग का एवं अधोपृष्ठ क्षोदलिप्त रहता है। **पुष्प**-बहुत सफेद या नीलारुण रंग के तथा सवृन्तमूर्धज पुष्पव्यूहों में आते हैं। **फल**-चिकने, चिपटे आयताकर, १३ मि. मि. लम्बे एवं ६ मि. मि. चौड़े होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह हृद्य एवं उत्तेजक है और आध्मान एवं कुपचन में भी उपयोगी हैं।

अथ तालीसपत्रम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तालीसमुक्तं पत्राढ्यं धात्रीपत्रञ्च तत्स्मृतम्॥ ११४॥
तालीसं लघु तीक्ष्णोष्णं श्वासकासकफानिलान्। निहन्त्यरुचिगुल्मामवह्निमांद्यक्षयामयान्॥

तालीसपत्र के नाम तथा गुण—तालीस, पत्राढ्य और धात्रीपत्र से संस्कृत नाम 'तालीसपत्र' के हैं। तालीसपत्र-लघु, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होता है एवं यह-श्वास, खांसी, कफ, वात, अरुचि, गुल्म, आम, अग्नि की मन्दता और क्षयरोग इन सबों को दूर करता है॥ ११४–११५॥

४६ तालीसपत्र

तालीसपत्र—यह नाम विभिन्न वर्गों के वृक्षों के पत्तों को भिन्न स्थानों में दिया हुआ दिखलाई देता है। पहले लोग प्राचीनामलक-फ्लॅकोर्टिआ कॅटाफ्रॅक्टा राक्स (Flacourtia cataphracta Roxb.) के पत्तों को तालीसपत्र कहा करते थे। दक्षिण में कहीं-कहीं तमालपत्र-सिनॅमोमम् तमाल (Cinnamomum tamal) के पत्रों को तालीसपत्र कहा जाता है। उत्तर प्रदेश, राजपूताना, महाराष्ट्र एवं गुजरात आदि के वैद्य टेक्सस् बॅकेटा (Taxus baccata) के पत्तों का व्यवहार तालीस पत्र के नाम से करते हैं। इसे कुछ लोग स्थौणेयक भी मानते हैं। बंगाल के वैद्य एबिस् वेबिआना (Abies webbiana) के पत्तों का व्यवहार तालीसपत्र के रूप में करते हैं। नेपाल एवं पंजाब के कुछ वैद्य तालीसफर, रोडोडेन्ड्रोन एन्थोपोगोन (Rhododendron anthopogon) के पत्तों का व्यवहार करते हैं जिसकी २, ३ अन्य उपजातियाँ भी होती हैं। प्राचीनामलक का वर्णन आगे फलवर्ग में आया है तथा तमाल पत्र का वर्णन पहले (पृष्ठ २२८) किया जा चुका है। यहाँ पर बाकी तीनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

चरक में दशेमानि में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में शिरोविरेचकगण में इसका पाठ है। तालीसपत्र के शास्त्रीय गुण इस प्रकार दिये हुए हैं—यह तिक्त, कटु, मधुर, उष्ण, लघु, तीक्ष्ण, शिरोविरेचन तथा कफ, वात, कास, श्वास, क्षय, वमन, अरुचि, गुल्म, आम, अग्निमांद्य और कृमि का नाश करने वाला है।

तालीसपत्र १

हि०–तालीसपत्र, थूनो, बिर्मी । **गढ०**–थुनेर । **काश्मी०**–पोस्तिल। **बंब०**–तालीसपत्र, वर्मि । **बं०**–बिर्मी । **नेपा०**–तेहीरे । **खासि०**–दिगंरुहेर् । **अ०**–जनंब । **अं०**–Himalayan Yew (हिमालयन् यू) । *Taxus baccata Linn.* (टॅक्सस् बॅकेटा लिन.) । Fam. Taxaceae (टॅक्सॅसी) ।

हिमालय के काश्मीर, पूर्वी पञ्जाब का पहाड़ी प्रदेश, गढवाल, अफगानिस्तान तथा अपर बर्मा आदि स्थानों में ६–१० हजार फीट की ऊँचाई पर इसके मध्यम ऊँचाई के सदाहरित वृक्ष पाये जाते हैं । कहीं कहीं १०० फीट तक ऊँचे झोपड़ाकृतिक वृक्ष होते हैं ।

इसका स्तंभ छोटा किन्तु उसकी गोलाई १०, १२ फीट होती है । छाल–पतली, किंचित् लाली-युक्त खाकी रंग की होती है । लकड़ी–दृढ, बाहरी भाग सफेद तथा अंदर का भाग रक्ताभ श्वेत होता है । पत्ते–दो कतारों में निकले रहते हैं । ये १–१॥ इञ्च लंबे, दशमांश इञ्च चौड़े, रेखाकार, कड़े, चिपटे, नोकीले, ऊपरी पृष्ठ पर गहरे हरे रंग के और अधःपृष्ठ पर हलके पीले या भुरचई रंग के होते हैं । शिरा एक और पत्रनाल छोटा होता है । पत्तियों से विशेषतः सूखने पर एक प्रकार की गंध आती है । लालकोष में घिरा हुआ हरिताभ बीज होता है जो शीर्ष पर खुला रहता है । पहाड़ी लोग इसकी छाल से एक प्रकार का चाय सदृश पानक बनाकर पीते हैं और इसके फलों को खाते हैं ।

यद्यपि युक्तप्रान्त, राजपूताना, महाराष्ट्र एवं गुजरात आदि के वैद्य तालीसपत्र के स्थान पर इसका प्रयोग करते हैं तथापि थुनेर नाम से इसके स्थौणेयक होने की अधिक संभावना है । बिर्मि नाम से उत्तरी भारत में आर्तव प्रवर्तक एवं शामक औषध के रूप में तथा अपस्मार, अपतंत्रक तथा नाडीदौर्बल्य आदि में इसके पत्तों का व्यवहार किया जाता है ।

रासायनिक संगठन—इसके बीज तथा पत्र में एक विषैला द्रव्य है जो बीज के ऊपर के लालकोष में नहीं होता । इसमें टॅक्सीन (Taxine) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—तालीसपत्र अवसादक, उद्वेष्टननिरोधि, आर्तवजनन, वातानुलोमक, कफनिःसारक एवं बल्य है । इसकी क्रिया कुछ डिजिटॅलिस् के समान होती है । अल्प मात्रा में प्रयोग करने पर नाडी एवं श्वास की गति कम होती है । मध्यम मात्रा में श्वास बढ़ता है तथा हृत्स्पन्द होता है । इससे गर्भाशय का संकोच होता है । गर्भपात कराने के लिये प्रयुक्त करने पर गर्भपात नहीं होता लेकिन मृत्यु हो सकती है । बड़ी मात्रा से विषैला परिणाम होने से चक्कर, वमन, आक्षेप, नशा, आंखों की पुतलियों का विस्फार, मंदश्वास एवं श्वसनकृच्छ्र होकर मृत्यु होती है । विषैले परिणाम से आमाशय, आंत तथा वृक्कों में शोथ भी हो जाता है । डिजिटॅलिस् के समान इसका संचायी प्रभाव नहीं होता ।

अपस्मार आदि आक्षेप युक्त व्याधियों में इसका प्रयोग किया जाता है । शुष्क कास, श्वासनलिका के जीर्णशोथ एवं तमक श्वास आदि में देने से खांसी की तकलीफ कम हो जाती है । प्रसूता को इसका फांट दिया जाता है । बस्तिशोथ में भी इससे लाभ होता है ।

मात्रा—१–२ र० ।

तालीसपत्र २

हि०, बं०–तालीसपत्र । **गढ०**–चिलिराघ । **काश्मी०**–बादर, बुदुल । **कनवार**–स्पुन । **नेपा०**–गोब्रिम सुलह । **कुमा०**–राघ । **भूता०**–दुमशिंग । **अं०**–Himalayan Siver Fer (हिमालयन् सिल्वर फर) । **लै०**–*Abies webbiana Lindl.* (एबिस् वेबिआना लिंड) । Fam. Pinaceae (पिनॅसी) ।

इसके ऊँचे सदाहरित वृक्ष हिमालय पर सिक्किम, भूटान के प्रदेश में ९ से १३ हजार फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं ।

इसके **वृक्ष** १५० फीट तक ऊँचे एवं स्तम्भ की गोलाई ३० फीट तक होती है । छाल–खाकी युक्त भूरे रंग की और खुरदरी होती है । नवीन शाखाएं प्रायः सूक्ष्म और भूरे रोमों से ढकी हुई रहती हैं । शाखाएँ प्रायः झुकी हुई रहती हैं । पत्ते–१–२ इञ्च लंबे, दशमांश इञ्च चौड़े, पतले, रेखाकार और काण्ड से पेचदार क्रम से निकले हुवे परन्तु देखने में केवल दो कतारों में निकले हुए से मालूम होते हैं । इनका ऊपरी पृष्ठ चमकीला तथा गहरे हरे रंग का होता है और अधःपृष्ठ पर मध्यशिरा के दोनों ओर दो दो सफेद धुंधली रेखाएँ होती हैं । पत्ते नताग्र होते हैं और अग्र पर प्रायः दो तीक्ष्ण और कठोर नोक निकले रहते हैं । फल–लंब गोल या आयताकार, २–४ इञ्च का और पकने पर गहरे बैंगनी रंग का होता है । बीज–करीब इञ्च का षष्ठमांश लम्बा होता है ।

इस जाति में मोरिण्डा नामक, लै०–एबिस् पिण्ड्रो (Abies pindrow) वृक्ष भी होता है जो इससे बहुत मिलता जुलता है । इसमें नवीन शाखाएँ रोमरहित और पत्तियां २–३ इञ्च लम्बी, दो कतारों में निकली हुई और दो दिशाओं में फैली हुई रहती हैं । एबिस् वेबिआना में वे ऊपर की ओर हर दिशा में फैली हुई रहती हैं । इसके फल भी दूसरे की अपेक्षा छोटे और मोटे होते हैं । ये जौनसार में प्रायः १० हजार फीट के नीचे (देवबन, मुंडाली आदि में) पाये जाते हैं ।

प्रायः पूर्वी भारत में एबिस् वेबिआना के ही पत्र तालीशपत्र के नाम से बेचे जाते हैं । बंगाल के वैद्य इसी का व्यवहार करते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक, कफनिःसारक, ग्राही एवं बल्य है ।

इसका उपयोग जीर्ण श्वास, कास, राज्यक्ष्मा, अग्निमांद्य, अरुचि एवं बस्तिविकार में किया जाता है ।

(१) तालीसादि चूर्ण १०–२० र० की मात्रा में श्वास, कास, रक्तपित्त, अग्निमांद्य एवं अतिसार आदि में दिया जाता है । बच्चों के श्वसनी फुफ्फुस पाक में १½ र० चूर्ण तथा कस्तूरी वटी १ र० की ६ मात्रा बना कर हर ४ घण्टे पर देने से लाभ होता है ।

(२) इसके पत्तों का स्वरस ५–१० बूँद जल या दुग्ध के साथ बच्चों के दंतोद्भेद के समय होने वाले ज्वर एवं कफविकार आदि में दिया जाता है । बंगाल में प्रसूता को बल्य औषध की तरह इसे देते हैं ।

(३) स्वरभंग, जीर्णश्वसनिका शोथ, राजयक्ष्मा तथा अन्य कफविकारों में इसके क्वाथ या फांट का उपयोग करते हैं ।

(४) इसके पत्तों का चूर्ण मधु एवं वासा स्वरस के साथ कास, श्वास तथा रक्तष्ठीवन में दिया जाता है ।

मात्रा—१–२ माशा ।

तालीसपत्र ३

इसकी कई उपजातियाँ होती हैं जिनमें से २, ३ के पत्तों का प्रयोग तालीसपत्र के स्थान पर नेपाल तथा पंजाब के कुछ वैद्य करते हैं । इनका संक्षेप में वर्णन किया गया है ।

(क) हि०–तालीसफर, तालीसपर। कारमी०–तजक्रसुम। झेलम०–निचनी, रतनकाट, नेरा। पं०–तालिस्री। ले०–*Rhododendron anthopogon D. Don.* (रोडोडेन्ड्रॉन् एन्थोपोगोन् डी. डोन)। Fam. Ericaceae (एरिकॅसी)।

यह हिमालय में १०–१४ हजार फीट की ऊँचाई पर काश्मीर से भूटान तक उत्पन्न होता है।

इसके सदा हरित गंधयुक्त छोटे छोटे क्षुप १ से १॥ फीट ऊँचे होते हैं। शाखाओं पर वल्क पत्र और खुरदरापन होता है। पत्ते-सनाल, १–१॥ इञ्च लंबे, अंडाकार या चौड़े आयताकार, ऊपरी पृष्ठ पर चमकदार और अधःपृष्ठ पर भूरे रोमावरण से युक्त होते हैं। शाखाओं के अन्त में फूलों का गुच्छा लगता है। फूल–किंचित् पीले आते हैं। फल–बहुत छोटे और अंडाकार होते हैं। बीज–बहुत सूक्ष्म तथा दीर्घवृत्ताकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्तों का धूम्रपान लाभदायक माना जाता है। पत्ते–उत्तेजक तथा सुगंधित होते हैं। इसके चूर्ण के नस्य से छींके आती हैं। ऐसी धारणा है कि हिमालय के पूर्वभाग में अधिक ऊँचाई पर चढ़ते समय शिरःशूल तथा हृल्लास उत्पन्न करने वाली वनस्पतियों में से एक यह हो।

मात्रा—२–८ रत्ती।

(ख) गढ़वाल–सिमारस। ने०, हि०–चेरैलु। कारमी०–नगार। कुमाऊँ–चिमुल। ले०–*Rhododendron campanulatum D. Don* (रोडोडेन्ड्रॉन् कम्पॅनुलॅटम् डी. डोन)।

यह भी हिमालय में काश्मीर से भूटान तक पाया जाता है। इसका गुल्म–कुछ बड़ा; पत्ते–३–५ इञ्च लंबे, दीर्घवृत्ताकार, आयताकार तथा दोनों सिरों पर गोल होते हैं। नीचे के पृष्ठ पर दालचीनी रंग के सघन रोमों से शिराएं ढकी रहती हैं। पुष्प–बैंगनी या नीलापन लिये श्वेत रंग के आते हैं।

गुण और प्रयोग–इसके पत्ते बकरियों के लिये विषैले समझे जाते हैं। अर्धावभेदक तथा प्रतिश्याय में तम्बाकू के साथ इसके पत्तों का नस्य के रूप में प्रयोग किया जाता है। जीर्ण आमवात, फिरंग तथा गृध्रसी में इसके पत्तों का आभ्यन्तरिक उपयोग किया जाता है। नेपाल में इसके पंचाङ्ग का प्रयोग जीर्ण ज्वर तथा राजयक्ष्मा में किया जाता है।

मात्रा—२–८ र०।

(ग) गढ़वाल–सिमरिस। भोटिया–तसलसुमा। यू०, हि०–तालीसफर। ले०–*Rhododendron lepidotum Wall.* (रोडोडेन्ड्रॉन् लेपिडोटम् वाल.)।

यह भी हिमालय में काश्मीर से भूटान तक पाया जाता है।

इसका क्षुप छोटा तथा गन्धयुक्त होता है। पत्ते–¾ इञ्च से १॥। इञ्च लम्बे, प्रायः विनाल, ऊपर से लट्वाकार और कुण्ठिताग्र या भालाकार और कुछ नोकीले और अधःपृष्ठ श्वेत या भुरचई रंग के रोमावरण से ढका हुआ रहता है। फूल–लाल, बैंगनी या पीले, ३–४ के गुच्छों में या अकेले रहते हैं। फल–छोटे, ५ धारीयुक्त होते हैं तथा बीज छोटे–छोटे अण्डाकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण (क) के समान ही हैं।

अथ कङ्कोलं सुगन्धिद्रव्यम् 'सीतलचीनी' इति लोके। तस्य नामानि गुणांश्चाह

कङ्कोलं[1] कोलकं प्रोक्तं तथा कोषफलं स्मृतम्।
कङ्कोलं लघु तीक्ष्णोष्णं तिक्तं हृद्यं रुचिप्रदम्। आस्यदौर्गन्ध्यहृद्रोगकफवातामयान्ध्यहृत्॥

१. कक्कोलं इति पाठा०।

'कङ्कोल नामक' सुगन्ध द्रव्य जो कि शीतल चीनी नाम से प्रसिद्ध है उसके नाम तथा गुण—कङ्कोल, कोलक और कोषफल ये सब संस्कृत नाम 'शीतलचीनी' के हैं। शीतलचीनी–लघु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, तिक्त रस युक्त, हृदय को हितकर तथा रुचिकारक होती है। यह मुख की दुर्गन्धता, हृद्रोग, कफ तथा वातरोग और आन्ध्य (आँखों से न दीखना) इन सबों को दूर करती है॥ ११६॥

४७ शीतलचीनी

हि०–शीतलचीनी, कबाबचीनी, कङ्कोल, शीतलमिर्च। बं०–कबाबचिनि, सुगन्धमरिच। म०–कङ्कोल, कापूरचीनी। गु०–चणकबाब। क०–गन्धमेणसु। ते०–चलवमिरियालु। ता०–वालिमलगु। फा०–कबाबह, कबाबचीनी। अ० हब्बुल् उरूस, कबाबेसीनी। अं०–Cubebs (क्यूबेब्स); Tailed Pepper (टेल्ड पेप्पर)। ले०–*Piper cubeba Linn. f.* (पाइपर क्यूबेबा लिन.)। Fam. Piperaceae (पाइपेरॅसी)।

शीतलचीनी—यह एक लता जाति की वनस्पति का पूर्ण रूप से विकसित किन्तु अपक्व अवस्था में सुखाया हुआ फल है, जो काली मरिच के समान होता है। यह जावा, सुमात्रा तथा बोर्निओ में होती है। लङ्का में इसकी खेती की जाती है। भारतवर्ष में विशेष कर मैसूर में इसकी कुछ उपज की जाती है।

इसकी आरोही बहुवर्षायु लता होती है। कांड–चिकना, लचीला एवं जोड़दार होता है। पत्ते–अखंड, सवृन्त, आयताकार या लट्वाकार–आयताकार, नोकीले, गोल या हृद्वत् पर्णतलवाले, चर्मवत् तथा चिकने होते हैं। शिराएँ बहुत होती हैं। पुष्प–अद्विलिंगी तथा अवृन्त–काण्डज पुष्पव्यूहों में आते हैं। फल–गोल, अष्ठिफल होते हैं जिनमें आधार की तरफ डंठल लगा रहता है। हरी अवस्था में ही इन्हें तोड़कर धूप में सुखा लिया जाता है।

यह अपक्व फल काली मिर्च के समान, गोल, झुर्रीदार गहरे भूरे रंग के एवं करीब ४ मि० मि० व्यास के सूखे हुवे होते हैं। इसके शिखर पर त्रिकोणयुक्त कुक्षि लगी रहती है तथा आधार पर ४ मि० मि० लंबा डंठल रहता है। इसके अन्दर एक बीज रहता है। इसको चबाने से मनोरम तीक्ष्ण मसालेदार विशिष्ट गन्ध आती है; स्वाद कडुवा, चरपरा तथा जीभ ठंडी मालूम पड़ती है। औषध में इन्हीं फलों का व्यवहार किया जाता है। कुछ लोग इसके दो भेद मानते हैं। छोटे तथा पतले छिलके वाले फलों को शीतलचीनी एवं बड़े तथा मोटे छिलके वाले फलों को कबाबचीनी कहा जाता है। वास्तव में एक ही लता के यह फल होते हैं। प्राचीन काल से मुखशुद्धि के लिये पान के साथ या स्वतन्त्र रूप में तथा मसालों में इसका प्रयोग किया जाता रहा है।

रासायनिक संगठन—कबाबचीनी में उड़नशील तैल ५–२०%, क्यूबेबिन् (Cubebin, $C_{20} H_{20} O_6$), राल, तैल, स्टार्च, गोंद, क्यूबेबिक् एसिड (Cubebic acid) करीब ०·९६% तथा कॅल्शियम ऑक्झॅलेट, फॉस्फेट एवं मॅलेट तथा मॅग्नेशियम् मॅलेट ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें के प्रधान गुणकारी तत्त्व उड़नशील तैल एवं क्यूबेबिक् एसिड हैं। पुराने कबाबचीनी द्वारा निकाले तैल में गंधहीन एवं पारदर्शक एक प्रकार का कपूर (Camphor of cubeb, $C_{15} H_{26} O$) पाया जाता है।

इसमें का उड़नशील तैल स्वच्छ, हलके पीताभ या नीलाभ हरित रंग का, विशिष्ट गंधयुक्त एवं उष्ण कपूरवत् स्वादवाला होता है। इस तैल में प्रधान रूप में टर्पेन्स (Terpenes) एवं सेस्क्विटर्पेन्स (Sesquiterpenes) पाये जाते हैं। भारतीय कबाबचीनी में भी उपर्युक्त तैल से मिलता

जुलता उड़नशील तैल पाया जाता है। तैल को शीत तथा प्रकाशहीन स्थान में बन्द बोतलों में रखना चाहिये।

परीक्षा—किसी श्वेत पात्र में कबाबचीनी का चूर्ण रखकर उस पर १ बूंद गंधक का तेजाब रखकर ऊपर से देखने से नीलारुण (Purple) रंग दिखलाई देता है। अच्छी कबाबचीनी में सिकुड़े हुये अविकसित फल १०% से अधिक, कांड ५% से अधिक, इनको छोड़कर अन्य पदार्थ २% से अधिक, राख ८% से अधिक एवं अम्ल में न घुलने वाली राख २% से अधिक न होनी चाहिये।

गुण और प्रयोग—कबाबचीनी उष्ण, उत्तेजक, कफघ्न, वातघ्न, प्रतिदूषक (Antiseptic), मूत्रजनक, दीपन, पाचन, रुचिकर, वृष्य, तृष्णा शामक तथा मुख की दुर्गन्ध एवं जडतानाशक है। इसमें स्थानिक प्रक्षोभक गुणों के कारण यह श्लेष्मकला के लिये उत्तेजक है। प्रचूषण के पश्चात इसके कार्यकारीसत्व का उत्सर्ग वृक्क एवं श्वसनसंस्थान द्वारा होता है। मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान की श्लेष्मकला पर इसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर यह पाचनक्रिया विकृत कर देती है। त्वचा की उत्तेजना से कभी-कभी खुजली भी उत्पन्न होती है।

(१) प्रतिदूषक एवं मूत्रल औषध की तरह इसे पुराने सोजाक में देते हैं। ३०-६० र० चूर्ण दुग्ध के साथ या २३ र० फिटकिरी के साथ दिन में ३ बार देते हैं। इससे बस्तिशोथ में भी लाभ होता है।

(२) श्वसन संस्थान के विकारों में प्रतिदूषक एवं उत्तेजक कफनिःसारक रूप में खदिरादि गुटिका जैसी चूसने की गोली बनाकर इसे चूसने को दिया जाता है। गले की शिथिलता तथा मुखपाक आदि में भी इससे लाभ होता है। गायक गला साफ करने के लिये इसको चूसते हैं। खांसी आदि में इसके चूर्ण को मधु के साथ चटाते हैं। इसका धूम्रपान श्वास में लाभदायक है।

(३) नाक के श्लेष्मा को कम करने के लिये इसके नस्य का उपयोग किया जाता है।

(४) इसके तैल को मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान के रोग, बस्तिशोथ, सोजाक तथा सोजाक की पुरानी अवस्था में शर्करा के साथ या गोंद के साथ पमश्शन बनाकर या कॅपसूल में रख कर प्रयोग करते हैं। जीर्ण श्वसनिका शोथ में इसको उष्ण जल में डालकर उसकी वाष्प सूंघी जाती है।

मात्रा—चूर्ण १-४ माशा। तैल ५-२० बूंद।

अथ गन्धकोकिला गन्धमालती च। तयोर्गुणानाह

स्निग्धोष्णा कफहृत्तिक्ता सुगन्धा गन्धकोकिला। गन्धकोकिलया तुल्या विज्ञेया गन्धमालती॥

'गन्धकोकिला' तथा 'गन्धमालती' के गुण—गन्धकोकिला-तिक्तरसयुक्त, स्निग्ध, सुगन्धयुक्त, उष्णवीर्य एवं कफनाशक होती है। 'गन्धकोकिला' के समान 'गन्धमालती' के भी गुण समझना चाहिये॥ ११७॥

४८ गन्धकोकिला एवं गन्धमालती

ये दोनों ही संदिग्ध गन्ध द्रव्य हैं। बाजार में गन्धकोकिला नाम से एक प्रकार के फल बिकते हैं जो देखने में हुलुषा के समान किन्तु कुछ चिपटे होते हैं। गन्धमालती नाम से एक प्रकार की जड़ के छोटे-छोटे टुकड़े मिलते हैं जो रेशेदार किंचित् बादामी रंग के होते हैं।

आगे पुष्पवर्ग में मालती (जाती, चमेली) एवं स्वर्णजाती का वर्णन आया है। मालती (रतेड) नामक एक अन्य लता होती है जिसे कुछ लोगों ने गंधमालती लिखा है। इसकी एक अन्य उपजाति

भी पाई जाती है। निघंटुकारों ने जो जातीभेद लिखा है वह संभवतः यही रतेड हो या यह यहाँ पर वर्णित गन्धमालती हो। गन्धमालती (रतेड) का लैटिन नाम (Aganosma caryophyllata G. Don.) (अॅगॅनोस्मा कॅरियोफाइलॅटा जी० डोन) एवं इसी के भेद का A. calycina A. DC. (अॅ० कॅलिसिना ए० डी० सी०) है जिनका संक्षेप में यहाँ वर्णन किया गया है।

ले०—*Aganosma caryophyllata G. Don.* (अॅगॅनोस्मा कॅरियोफाइलॅटा जी. डोन.)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)। **हि०, बं०**—मालती। **संथा०**—रतेड़।

यह बंगाल, मुंगेर, उत्तरी सरकार एवं दक्षिण में होती है।

इसकी लता-विस्तार में फैलने वाली तथा आरोही होती है। **पत्ते**—लट्वाकार या अण्डाकार ३-५.५ × १.५-३ इञ्च बड़े, पर्णशिराएं रक्ताभ, आमने सामने के पत्ते कभी-कभी छोटे बड़े एवं फलक का आधार तिरछा होता है। **पुष्प**—बड़े, श्वेत, सुगंधि, तथा समस्त काण्डज गुच्छों में आते हैं। आभ्यंतर नाल नीचे पतला किन्तु ऊपर चौड़ा रहता है। **फली**—दो-दो, अग्र पर जुड़ी हुई एवं ४ से १४ इञ्च लंबी तथा अग्र की ओर क्रमशः संकुचित रहती हैं।

गुण और प्रयोग—यह वामक है। इसके पत्तों का पैत्तिक विकारों में प्रयोग करते हैं। पानी से अंगुलियों के बीच जब पक जाता है तब इसकी अप्रग्र कलिकाओं का स्वरस लगाया जाता है। इसके पुष्पों का नेत्र विकारों में प्रयोग करते हैं।

अथ लामज्जकम्। (उशीरवत् पीतच्छवितृणविशेषः)। तस्य नामगुणानाह

लामज्जकं सुनालं स्यादमृणालं लवं[1] लघु। इष्टकापथकं सेव्यं नलदञ्चावदातकम्॥११८॥
लामज्जकं हिमं तिक्तं लघु दोषत्रयास्रजित्। त्वगामयस्वेदकृच्छ्रदाहपित्तास्ररोगनुत्॥११९॥

'लामज्जक' जो कि 'बीरण' घास की भाँति पीत वर्ण का एक विशेष तृण होता है उसके नाम तथा गुण—लामज्जक, सुनाल, अमृणाल, लव, लघु, इष्टकापथक, सेव्य, नलद और अवदातक ये सब संस्कृत नाम 'लामज्जक' के हैं। लामज्जक-तिक्तरसयुक्त, शीतवीर्य और लघु होता है एवं यह त्रिदोष, रक्तविकार, चर्मरोग, पसीना, मूत्रकृच्छ्र, दाह और रक्तपित्त इन सबों को दूर करता है॥

४९ लामज्जक

लामज्जक भी संदिग्ध द्रव्य है। भावप्रकाशकार इसे खस की तरह का पीतवर्ण का तृणविशेष मानते हैं। कुछ ग्रंथकारों का कहना है कि जब तक इसका निर्णय नहीं हो जाता तब तक लामज्जक के स्थान पर खस का व्यवहार करना चाहिये। कुछ नवीन ग्रन्थकारों ने लामज्जक का ले० नाम Cymbopogon jwarankusa (साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश) लिखा है। श्रीयुत् यादव जी अपनी द्रव्यगुणविज्ञान पुस्तक में लिखते हैं कि यह (साइम्बो-ज्वरांकुश) यूनानी औषध विक्रेताओं के यहां इजखिर नाम से बिकता है तथा इजखिर उष्णवीर्य द्रव्य होने से इसे लामज्जक नहीं मान सकते। वे इसे भूतृण मानते हैं।

बाजार में एक पीतवर्ण का खस मिलता है। हो सकता है कि उसका लैटिन नाम ज्ञात न हो या वह खस का ही भेद हो लेकिन लामज्जक के स्थान पर उसका प्रयोग किया जा सकता है। यहाँ निम्न वर्णन साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश का किया गया है।

हि०—लखवी, लामज्जक, करनकुश, घाटजारी। **मिर्जापुर**—इन्द्रबगई। **बं०**—कारांकुस। **म०**—पिवलावाला। **पं०**—बूर, इमरंकुश। **गु०**—पिलो वालो। **ते०**—पासनगड्डि। **ता०**—कामाट्चिपिल्लु।

१. लयमिति पाठः।

क०-करिलात्रचा। अ०-इज़खिर। इरा०-गुर्गियाह। ले०-*Andropogon jwarancusa Jones* (एन्ड्रोपोगॉन् ज्वरान्कुश जोन्स); Cymbopogon jwarankusa Schult. (साइम्बोपोगॉन् ज्वरान्कुश शुल्ट)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

लामज्जक — यह सुगन्धित घास हिमालय, उत्तरप्रदेश, पञ्जाब, सिन्ध और बंबई में उत्पन्न होती है।

यह तृण जाति की वनौषधि ३-६ फुट ऊँची होती है पत्ते-चिपटे, चिकने, कड़े, २ फीट तक लंबे, ०·२ इञ्च चौड़े और ऊपर की ओर क्रमशः कम चौड़े होकर लंबे पतले नोकवाले होते हैं। पत्रकोश स्थाई, टेढ़े और उनके गुच्छों के बीच में डंडी निकली रहती है। जड़-लंबी, गुच्छेदार, कोमल, स्वाद में कड़वी, तीती एवं अत्यन्त सुगंधित तथा पीले रङ्ग की होती है। इसके पंञ्चाग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके घास में करीब १% सुगंधित तैल होता है।

गुण और प्रयोग—इसके फूल रक्तस्तंभक हैं तथा जड़ एवं पत्ते वातानुलोमक, उत्तेजक, आर्तवजनन, मूत्रजनन, स्वेदजनक एवं अल्प मात्रा में कफघ्न हैं।

रक्तस्राव रोकने के लिये इसके फूलों को क्षत पर बाँधते हैं। इसके पंचांग को पीस कर शोथ पर लेप किया जाता है। ज्वर में पंचांग के क्वाथ से स्नान कराते हैं। द्राक्षासव में इसका पंचांग डाल कर गरम करके देने से पेशाब बहुत होता है। आमवात में विरेचन औषध के साथ इसे देते हैं। इसमें अल्प मात्रा में कफघ्न गुण होने के कारण कफ रोगों में दाह कम करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। गर्भाशय का थोड़ा संकोच करने के कारण इसको प्रसूति ज्वर में देते हैं। वातरक्त में इसका उपयोग किया जाता है। बच्चों के कुपचन के लिए भी यह उत्तम है।

मात्रा—½-१ तो०।

अथैलवालुकम्। (कङ्कोलसदृशं कुष्ठगन्धि)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

एलवालुकमैलेयं सुगन्धि हरिवालुकम्। ऐलवालुकमेलालु कपित्थत्वच[1]मीरितम् ॥१२०॥
एलालु कटुकं पाके कषायं शीतलं लघु। हन्तिकण्डूव्रणच्छर्दितृट्कासारुचिहृद्रुजः॥
बलासविषपित्तास्रकुष्ठमूत्रगदक्रिमीन् ॥ १२१ ॥

एलवालुक जो कि देखने में 'शीतलचीनी' की भाँति तथा गंध में 'कूठ' के समान होती है, उसके नाम तथा गुण—एलवालुक, ऐलेय, सुगन्धि, हरिवालुक, ऐलवालुक, एलालु और कपित्थत्वग् ये सब संस्कृत नाम 'एलवालुक' के हैं। एलवालुक-कषाय रस युक्त किन्तु पाक में कटुरसयुक्त, शीतवीर्य और लघु होती है। यह खुजली, व्रण, वमन, प्यास, खाँसी, अरुचि, हृद्रोग, कफ, विष, रक्तपित्त, कुष्ठ मूत्ररोग और कृमिरोग इन सबों को दूर करती है॥ १२०-१२१॥

५० एलवालुक

एलवालुक संदिग्ध द्रव्य है। भावप्रकाशकार इसे 'कंकोलसदृशं कुष्ठगंधि' मानते हैं। चरक में शुक्रशोधन और वेदनास्थापन दशेमानि में एवं कषायस्कंध में इसका उल्लेख है। आसवयोनि में इसकी छाल का उल्लेख है। अर्शोक्त अभयारिष्ट, उन्मादोक्त कल्याणकघृत तथा पांडु के बीजकारिष्ट में इसका पाठ है। सुश्रुत के लोध्रादिगण में इसका पाठ है।

१. कपित्थफल इति पाठा०।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि एलवालुक, ॲलोज् (मुसब्बर) नहीं हो सकता जैसा कि कुछ लोग मानते हैं क्योंकि एलवालुक का पाठ त्वगासवयोनि में होने से यह कोई वृक्ष है ऐसा मालूम होता है। अधिकांश विद्वान् प्रुनस् सिरेसस् को एलवालुक मानते हैं क्योंकि इसका एक नाम आलुवालु है। यह शायद एलवालुक का अपभ्रंश हो। डा० देसाई, गिसेकिआ फॉर्नेसिओइडिस् को एल्वालुक मानते हैं। इन दोनों का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है। कुछ लोगों ने मुकिआ स्काब्रेला आर्न० (Mukia scabrella Arn.) को माना है जो दीपन, मृदुविरेचन एवं मूत्रजनन है तथा जिसके पत्तों का प्रयोग चक्कर में, बीजों का प्रयोग स्वेद लाने के लिये एवं मूल का आध्मान में उपयोग किया जाता है।

एलवालुक १

हि०—आलवालू। **पं०**—गिलास। **अं०**—Dwarf cherry (ड्वार्फचेरी)। **ले०**—*Prunus cerasus Linn.* (प्रुनस् सिरॅसस् लिन.)। Fam. Rosaceae (रोझॅसी)।

इसके वृक्ष हिमालय के पर्वतों में लगाये हुए मिलते हैं।

इसके पत्ते-२-३ इञ्च लंबे, १-१॥ इञ्च चौड़े, लट्वाकार-अंडाकार, अग्र यकायक नोकीला तथा किनारा दन्तुर (तीक्ष्णाग्रगोल दांत) होता है। पुष्प-श्वेत या गुलाबी एवं; फल-गोल, चिकना, चमकीला और घेरे में आधा इञ्च तक होता है। इसके बीज बाजार में बिकते हैं जिनकी मज्जा का औषध में व्यवहार किया जाता है। इसका स्वाद कडुवा एवं सुगन्धित रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल एवं पद्मकाष्ठ आदि में पाया जाने वाला हाइड्रोसायेनिक् एसिड (Hydrocyanic acid) नामक तीव्र विष रहता है।

गुण और प्रयोग—यह कडुवा पौष्टिक एवं वेदनास्थापक है। मज्जा तन्तु के रोगों में इसका व्यवहार किया जाता है। इसके अन्य गुण उपर्युक्त विष के समान हैं। इसकी छाल ग्राही एवं ज्वरहर होती है।

मात्रा—२-५ र०।

एलवालुक २

हि०—बालका साग। **बं०**—बालुक। **म०**—व (वा) लुची भाजी। **ता०**—मनल्किरै। **ते०**—एसकदन्तिकुर। **ले०**—*Gisekia pharnaceoides Linn.* (गिसेकिआ फार्नेसिओइडिस् लिन.)। Fam, Ficoidaceae (फिकोइडॅसी)।

यह वनस्पति पंजाब, सिंध, दक्षिण तथा सिलोन में होती हैं। इसके क्षुप छोटे, फैले हुवे तथा अनेक शाखाओं से युक्त होते हैं। पत्र-विपरीत, मांसल, अखंड, अंडाकृति, करीब १ इञ्च लंबे तथा आधार की तरफ नोकीले होते हैं। पुष्प-अनेक; फल-बाह्यदल से आवृत झिल्लीदार होते हैं। बीज-काले से, पृष्ठ पर गोलाई लिये हुए एवं श्वेत छोटी ग्रंथियों से युक्त होते हैं। बंगाल में वालुक नाम से यह बीज बिकते हैं। औषध में पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पत्तों में बालू की तरह क्षार के कंकड रहते हैं। इसी से इसे बालू का साग कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका पंचाङ्ग सुगंधि, आनुलोमिक एवं कृमिघ्न है। कृमिरोग में इसके पंचांग का रस १ औंस तथा शीतजल १ औंस मिलाकर सुबह खाली पेट पिलाते हैं। हर दूसरे दिन ३, ४ बार के प्रयोग से स्फीतकृमि (Taenia) मर कर निकल जाते हैं।

अथ कैवर्तीमुस्तकम् (केवटी मोथा)। तस्य नामलक्षणगुणानाह

कुटन्नटं दासपुरं बालेयं परिपेलवम्। प्लवगोपुरगोनर्दकैवर्तीमुस्तकानि च ॥ १२२ ॥
मुस्तावत्पेलवपुरं[1] शुकाभं[2] स्याद्वितुन्नकं ॥ १२३ ॥
वितुन्नकं हिमं तिक्तं कषायं कटु कान्तिदम्। कफपित्तास्रवीसर्पकुष्ठकण्डूविषप्रणुत् ॥१२४॥

'केवटीमोथा' के नाम लक्षण तथा गुण—कुटन्नट, दासपुर, बालेय, परिपेलव, प्लव, गोपुर, गोनर्द, कैवर्तीमुस्तक और वितुन्नक ये सब संस्कृत नाम 'केवटीमोथा' के हैं। केवटीमोथा के लक्षण— यह मोथा की भांति, कोमल दलकोश तथा शुक की भांति वर्ण से युक्त होता है। केवटीमोथा—कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शीतवीर्य और कान्तिवर्धक होता है और यह कफ, पित्त, रक्तविकार, वीसर्प कुष्ठ, खुजली तथा विष को दूर करता है ॥ १२२-१२४ ॥

* 'केवटीमोथा'—'गुडतजी' इति च लोके। इदं तु वितुन्नकनाम्नो वृक्षस्य त्वग् मुस्ताकृतिः ॥ १२२-१२४ ॥

यहां पर यह भी समझना चाहिये कि लोक में 'केवटीमोथा' गुडतजी नाम से भी प्रसिद्ध है तथा यह वितुन्नकनामक वृक्ष का छिलका है एवं आकार में मोथा की भांति होने से इसे केवटीमोथा कहते हैं ॥ १२२-१२४ ॥

५१ केवटीमोथा

कैवर्तमुस्तक का उपर्युक्त वर्णन भ्रमात्मक मालूम पड़ता है। मुस्ता के आकारवाली वितुन्नक नामक वृक्ष की छाल कैवर्तमुस्तक है यह उपर्युक्त वर्णन से मालूम होता है। केवटीमोथा नाम से ग्रन्थिसदृश छोटे काले कन्द मिलते हैं जो मोथा वर्ग (Cyperus) के ही होते हैं। इसके गुणों में तथा मोथे के गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। इसलिये इन्हें कैवर्तमुस्तक माना जा सकता है।

डा. देसाई ने ले.-Celosia argentea Linn.; Fam. Amaranthaceae (सेलोसिआ आर्जेण्टिआ, लिन. ॲमॅरेन्थेसी) का संस्कृत नाम शितवार, वितुन्नक लिखा है। इसे हि. में सुर्वाली, सफेद मुर्गा कहा जाता है। शाकवर्ग में वर्णित, शितिवार यही मालूम होता है। शितिवार के पर्यायों में 'सुनिषण्णक' शब्द भी आता है किन्तु ये दो भिन्न द्रव्य मालूम होते हैं। सुनिषण्णक यह चौपतिया साग है जिसका वर्णन आगे शाकवर्ग में किया गया है। शितिवार यह सुर्वाली होने की अधिक संभावना है। इसका क्षुप समस्त भारत में होता है। यह २ फीट ऊँचा, पत्ते—एकान्तर, लम्बे, पतले तथा कम चौड़े; पुष्प—सफेद तथा गुलाबी एवं क्षुप के अन्त में गुच्छों में; फली—दीर्घ वृत्ताकार छोटी; बीज-बहुत, काले से भूरे रंग के होते हैं। पत्तों का शाक खाते है तथा बीजों का भी व्यवहार किया जाता है। बीज शीतल, स्नेहन तथा पौष्टिक होते हैं। १ तोला बीज, मिश्री तथा उष्ण दुग्ध के साथ कामोत्तेजना के लिये देते हैं। बीजों का फांट अतिसार में तथा मूत्राघात में मिश्री एवं बीज का उपयोग किया जाता है।

मात्रा—½-१ तोला।

अथ स्पृक्का (असबरग)। सुगन्धिद्रव्यम् (शाकविशेषः)। 'लङ्कोइकपुरी'ति लोके च। तस्या नामगुणानाह

स्पृक्काऽसृग् ब्राह्मणी देवी मरुन्माला लता लघुः।
समुद्रान्ता वधूः कोटिवर्षा लङ्कोपिकेत्यपि ॥ १२५ ॥

१. पुटमिति पाठा०। २. शुकाभमिति पाठा०।

स्पृक्का स्वाद्वी हिमा वृष्या तिक्ता निखिलदोषनुत्।
कुष्ठकण्डूविषस्वेददाहाश्री[1] ज्वररक्तहृत् ॥ १२६ ॥

स्पृक्का (असबरग) जो कि सुगन्धिद्रव्यों में से एक प्रकार का शाक ही है तथा जिसे लोक में 'लङ्कोईकपुरी' भी कहते हैं, उसके नाम तथा गुण—स्पृक्का, असृग्, ब्राह्मणी, देवी, मरुन्माला, लता, लघु, समुद्रान्ता, वधू, कोटिवर्षा और लङ्कोपिका ये सब संस्कृत नाम 'स्पृक्का' के हैं। स्पृक्का—स्वादिष्ट, शीतवीर्य, वृष्य, तिक्त रसयुक्त तथा सम्पूर्ण दोषों को दूर करने वाली होती हैं एवं यह कुष्ठ, खुजली, विष, पसीना, दाह, अलक्ष्मी, ज्वर तथा रक्तविकार को नष्ट करती है ॥ १२५-१२६ ॥

५२ स्पृक्का।

स्पृक्का भी एक सन्दिग्ध द्रव्य है। डल्हण ने इसे 'कुटिलपुष्पा सुगन्धिद्रव्यमौत्तरापथिकम्' (सु. सू. ३८) लिखा है। चरक में भी इसका उल्लेख है। कुछ लोगों ने इसका ले. नाम मार्सिलिआ क्वाड्रिफोलिएटा (Marsilia quadrifoliata) तथा कुछ ने ट्राइफोलिअम् ऑफिसिनेल् (Trifolium officinale) लिखा है जो उचित नहीं मालूम पड़ता। डा० देसाई ने एनिसोमेलिस् मलबारिका को स्पृक्का लिखा है। वर्णन एवं गुण-धर्म की दृष्टि से यह उचित मालूम होता है अतः इसी का वर्णन किया जा रहा है।

गु०—मखमली चोधारो। **म०**—कपुरीमधुरी, कालोतुंबो, गावजबान, चोधारा। **क०**—कारितुंबे। **ते०**—मोगबीराकु। **ता०**—पेथिमसरी। **अं०**—Malabar catmint (मॅलॅबर् केट्मिण्ट्)। **ले०**—*Anisomeles malabarica R. Br.* (एनिसोमेलिस् मलबारिका र० ब्र०)। Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

इसका क्षुप अत्यन्त रोमश तथा झाड़ीदार दक्षिण भारत में होता है। यह ४-६ फीट ऊँचा रहता है। पत्ते-मोटे, लंबगोल, कुछ शस्याकृति, दन्तुर तथा सवृन्त रहते हैं। पुष्प-हलके जामुनी रंग के रहते हैं। इसके पत्र सुगन्धि एवं कडवे रहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल तथा एक कडुवा क्षाराम रहता है।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम स्वेदजनन, शीतप्रशमन तथा उत्तेजक है। यह तीव्र औषध है। उदर शूल, अपचन तथा कुपचन में इसे खिलाते हैं तथा इसका पेट पर लेप भी करते हैं। बच्चों में दंतोद्भेद के समय होने वाले विकारों में इससे अच्छा लाभ होता है। कृमिज्वर तथा अन्य ज्वरों में विशेष कर जीर्ण ज्वर में इससे लाभ होता है। आमवातादि में इसके उड़नशील तैल को लगाया जाता है तथा पत्तों के क्वाथ से सेंका जाता है। तैल का भी आंतरिक प्रयोग पाचन के विकारों में किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ¼-½ चम्मच। तैल २-५ बूंद।

'पर्पटी' इति प्रसिद्धं 'पद्मावती' इति चोत्तरदेशे, सुगन्धि द्रव्यम्। अथ पर्पटी [पनडी]। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पर्पटी रञ्जना कृष्णा जतुका जननी जनी। जतुकृष्णाऽग्निसंस्पर्शा जतुकृच्चक्रवर्तिनी ॥ १२७ ॥
पर्पटी तुवरा तिक्ता शिशिरा वर्णकृल्लघुः। विषव्रणहरी कण्डूकफपित्तास्रकुष्ठनुत् ॥ १२८ ॥

१. दाहास्र इति पाठा०।

'पर्पटी' जो कि 'पद्मावती' नाम से उत्तरदेश में प्रसिद्ध सुगन्धित द्रव्य है उसके नाम तथा गुण – पर्पटी, रञ्जना, कृष्णा, जतुका, जननी, जनी, जतुकृष्णा, अग्निसंस्पर्शा, जतुकृत और चक्रवर्त्तिनी ये सब संस्कृत नाम 'पर्पटी' के हैं। पर्पटी–कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, शीतवीर्य, शरीर के वर्ण को उज्वल करने वाली और लघु होती है। यह विष, व्रण, खुजली, कफ, पित्तरक्त और कुष्ठ को दूर करने वाली है ॥ १२७–१२८ ॥

५३ पर्पटी

सुगन्धि पानडी के स्वरूप के बारे में भी पर्याप्त मत भिन्नता है।

डा. देसाई ने गु०–सुगन्धी पानडी नाम से एक क्षुप का वर्णन किया है जिसका नीचे वर्णन दिया गया है।

सं०–पाची। हि०–पाचोली। बं०–पाटचोली, पाचपट। गु०–सुगन्धीपानडी। म०–पांच। कोंक–माली। ले०–*Pogostemon patchouli Hook. f.* (पोगोस्टेमॉन् पाचौली हुक.)। Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

इसका स्वावलम्बी, अनेक शाखायुक्त क्षुप कोंकण में प्रसिद्ध है। यह जंगलों में होता है तथा इसकी उपज भी की जाती है। उपज से इसकी आकृति में परिवर्तन हो जाता है। पत्ते–अंडाकृति, दन्तुर तथा लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प–बहुत छोटे तथा तुलसी की तरह गुच्छों में आते हैं। यह क्षुप बहुत सुगन्धित होता है। इसके पत्तों का उपयोग औषध में किया जाता है। रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों में कीड़े न लगें इसलिये उनमें इसके पत्ते रखते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक अत्यन्त सुगन्धि उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह रक्तस्तम्भक, मूत्रजनन तथा वातानुलोमक है। रक्तमूत्र में १ माशा भांग के साथ २ तोला पत्तों का रस देते हैं।

मात्रा—१/२–१ चम्मच।

अथ नलिका। उत्तरापथे प्रसिद्धा सुगन्धा प्रवालाकृतिः 'यवारी' इति च क्वचित्प्रसिद्धा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

नलिका विद्रुमलता कपोतचरणा नटी। धमन्यञ्जनकेशी च निर्मंध्या[1] सुषिरा नली ॥१२९॥
नलिका शीतला लघ्वी चक्षुष्या कफपित्तहृत्। कृच्छ्राश्मवाततृष्णाऽस्रकुष्ठकण्डूज्वरापहा ॥

'नलिका' जो कि उत्तरदेश में प्रसिद्ध सुगन्धि द्रव्य देखने में मूंगे के समान होती है और जो कि कहीं–कहीं 'यवारी' नाम से भी प्रसिद्ध है उसके नाम तथा गुण—नलिका, विद्रुमलता, कपोत चरणा, नटी, धमनी, अञ्जनकेशी, निर्मंध्या, सुषिरा और नली ये सब संस्कृत नाम नलिका के हैं। नलिका—शीतवीर्य, लघु तथा नेत्र के लिये हितकर होती है। यह कफ, पित्त, मूत्रकृच्छ्, पथरी, वात, तृषा, रक्तदोष, कुष्ठ, खुजली तथा ज्वर को दूर करती है ॥ १२९–१३० ॥

५४ नलिका

नलिका नामक गन्धद्रव्य भी सन्दिग्ध है। कुछ लोग इसे रतनजोत मानते हैं। रतनजोत भी कुछ हदतक सन्दिग्ध ही है। नालुका नाम से एक सुगन्धित गोल मुड़ी हुई छाल के टुकड़े

१. निर्मंथ्या इति पाठा०।

या चूर्ण बाजार में बिकता है। यह तज की ही एक जाति है। इसे नलिका कहा जा सकता है कि नहीं, यह कहना कठिन है। नालुका का विशेष उपयोग शोथहर लेप के रूप में बहुत किया जाता है।

अथ प्रपौण्डरीकम्। सुगन्धि द्रव्यम् [पुण्डेरी] इति लोके प्रसिद्धम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

प्रपौण्डरीकं पौण्डर्यं चक्षुष्यं पौण्डरीयकम्।
पौण्डर्यं मधुरं तिक्तं कषायं शुक्रलं हिमम्।
चक्षुष्यं मधुरं पाके वर्ण्यं पित्तकफप्रणुत् ॥ १३१ ॥

'पुण्डेरी' इस नाम से लोक में प्रसिद्ध सुगन्धि द्रव्य के नाम तथा गुण– प्रपौण्डरीक, पौण्डर्य, चक्षुष्य और पौण्डरीयक ये सब संस्कृत नाम 'पुण्डेरी' के हैं। पुण्डेरी–मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शुक्रजनक, शीतवीर्य, नेत्र के लिये हितकर, पाक में मधुर और शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला तथा पित्तकफ का नाशक है ॥ १३१ ॥

५५ पुण्डेरी

प्रपौण्डरीक भी एक संदिग्ध द्रव्य है। कुछ लोगों ने पुण्डरीक तथा प्रपौण्डरीक में नाम तथा गुण सादृश्य होने से दोनों को एक मान लिया है लेकिन यह उचित नहीं है। पुण्डरीक श्वेत कमल का नाम है। पुण्डरीक नाम से सुश्रुत (क. अ. २) में कन्दविष का उल्लेख है। 'पुण्डरीकेण रक्तत्वमक्ष्णोर्वृद्धिस्तथोदरे।' प्रपौण्डरीक का एक नाम 'चक्षुष्य' होने से 'चाकसू' नामक वनस्पति को प्रपौण्डरीक के स्थान पर लिया जा सकता है। डा. देसाई ने चाकसू को 'वन्यकुलत्थ' लिखा है। वन्यकुलत्थ–रक्तपित्तकृत, शीतल, कफवातहर एवं कषाय रसयुक्त होती है। कुछ लोग यूनानी द्रव्य ममीरा मानते हैं क्योंकि उसका नेत्र रोगों में बहुत व्यवहार होता है। निम्न वर्णन चाकसू का है।

सं०–चक्षुष्या, अरण्यकुलत्थिका। हि०–चाक्षुस्, चाकसू। पं०–चकसू। गु०–चीमेड। काठि०–चमेड। म०–चिनोल, कानकुटी, चिम्न। ता०–करुकानम्। ते०–चनुपाल विट्टुलु। कं०–कीड, निन्द्रताछ। अ०–चश्मीज़ज, हब्बुस्सूदान। फा०–चश्मीज़ज, चशम। ले०–*Cassia absus Linn.* (कॅसिआ एब्सस् लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह प्रायः सर्वत्र प्राप्त होता है।

इसके एक वर्षायु क्षुप ८–१८ इञ्च उँचे होते हैं। पत्रनाल बड़ा और पत्रदण्ड पर प्रत्येक पत्रकद्वय के बीच एक रेखाकार ग्रन्थि होती है। पत्रक संख्या में ४, आयताकार, .६–.९ इञ्च लंबे, करीब २ कुण्ठिताग्र और मध्यशिरा के दोनों ओर के उनके दोनों भाग आधार पर असमान होते हैं। पुष्प सवृन्त पीले या लाल जिसमें केवल ४ पुंकेशर होते हैं और जो अग्रग मंजरी में रहते हैं। फली–चिपटी, रोमश तथा १–१½ इञ्च लंबी होती है। बीज–संख्या में पांच, चमकीले, काले भूरे, चिकने, चिपटे, अंडाकृति किन्तु एक सिरा पतला और लंबाई तथा चौड़ाई में १/६ इञ्च होते हैं। बीज का कवच निकाल देने से पीले रंग की तथा कडवी मज्जा निकलती है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २½% राख होती है। उसमें मँगेनीझ का अंश रहता है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राहक एवं नेत्राभिष्यंदप्रशमन है। पूययुक्त नेत्राभिष्यंद में भुने हुए बीजों की मज्जा का ½ र० चूर्ण पलकों के अन्दर रखते हैं। बीजों को पानी में साने हुए गेहूँ के आटे में रख, गरम राख में गरम कर, छिलका निकाल कर नेत्ररोगों में प्रयोग किया जाता है। चाकसू के २१ बीज तथा सफेद चंदन ५ माशे रात में जल में भिगो कर सुबह उस जल को छानकर पिलाने से रक्त मूत्र ठीक होता है।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे वर्गप्रकरणे
तृतीयः कर्पूरादिवर्गः समाप्तः ॥ ३ ॥

